पुरातत्त्व-निबंधावली
राहुल सांकृत्यायन

पुरातत्त्व-निबन्धावली

लेखक

राहुल सांकृत्यायन

प्रकाशक

इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

निवेदन

पुरातत्त्व-निबन्धावली पाठकों के सम्मुख उपस्थित की जा रही है। ये निबन्ध भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न पत्रों में निकले थे। कई जगहों पर फिर से लिखने की आवश्यकता थी, लेकिन वैसा करने के लिए पुस्तक के प्रकाशन को एक अनिश्चित काल के लिये रोक रखना पड़ता जो कि मेरे कई दोस्तों को पसन्द नहीं होता। जल्दी-जल्दी में जितना हो सका है, प्रूफ को मैंने एक बार देख लिया है। पुरातत्त्व के अध्ययन के लिये मानव विकास का ज्ञान आवश्यक है। मैंने इस सम्बन्ध में "साम्यवाद ही क्यों" की भूमिका में लिख दिया है, इसलिये उसे यहाँ नहीं दुहराया गया। परिशिष्ट (१) के लिये मैं रायबहादुर बा० दुर्गाप्रसाद B. A. (बनारस) का विशेष आभारी हूँ। त्रुटियों के लिये क्षमाप्रार्थी—

पटना
३०-३-३७

राहुल सांकृत्यायन

दो शब्द—नवीन संस्करण

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन प्रणीत पुरातत्त्व-निबंधावली अपने विषय की एक ऐसी अद्वितीय कृति है जो पुरातत्त्ववेताओं, प्राच्य विद्याविशारदों, नृतत्व शास्त्रज्ञों एवं विविध विषय के अन्य विद्वान् पाठकों के बीच समान रूप से लोकप्रिय सिद्ध हुई। पुस्तक का सीमित संस्करण अल्पकाल में ही वितरित हो गया। पुनर्मुद्रण की माँग पर माँग बढ़ती गई, प्रेमी पाठकों का आग्रह असह्य सा लगता गया पर कागज की कमी के साथ-साथ मुद्रण सम्बन्धी अनेक कठिनाइयाँ बढ़ती चली गईं, ऐसे कारण उपस्थित होते गये कि हमारे लिए पुस्तक का पुनर्संस्करण संभव न हो सका, विचार टालता ही गया।

राहुल सांकृत्यायन नाम बौद्धशास्त्रज्ञता के प्राङ्गण में जादू का असर रखता है। उनकी इस कृति का नवीन संस्करण भले ही पर्याप्त विलंब से हुआ, अपनी पूर्व लोकप्रियता को बनाये रखने में पर्याप्त सक्षम सिद्ध होगा।

—प्रकाशक

———

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१—पुरातत्त्व	...	१
२—काल-निर्णय में ईंटें और गहराई	...	६
३—बसाढ़ की खुदाई	...	१०
४—श्रावस्ती	...	१७
५—जेतवन	...	४०
६—ज्ञातृ = जथरिया	...	८६
७—थारू	...	९२
८—महायान बौद्ध-धर्म की उत्पत्ति	...	९७
९—वज्रयान और चौरासी सिद्ध	...	१०८
१०—हिन्दी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ	...	१२९
११—बौद्ध नैयायिक	...	१६६
१२—मागधी हिन्दी का विकास	...	१७८
१३—हिन्दी-स्थानीय भाषाओं के बृहत् संग्रह की आवश्यकता	...	१८९
१४—तिब्बत में भारतीय साहित्य और कला	...	२००
१५—सारन (बिहार)	...	२०६
१६—सहोर और विक्रमशिला	...	२१९
१७—भारतीय जीवन में बुद्धिवाद	...	२२४
१८—तिब्बत में चित्रकला	...	२३०
परिशिष्ट १ (पुरा-लिपि)	...	२४६
,, २ (नाम-अनुक्रमणिका)	...	२४९
,, ३ (शब्द-अनुक्रमणिका)	...	२७६

चित्र-सूची

पृष्ठ

१—भारत (मध्यमंडल) [मानचित्र] १६
२—श्रावस्ती (,,) १८
३—जेतवन (,,) ४०
४-८४—चौरासी सिद्ध (अन्त में) १–२१
८५-८८—चित्रांकन ,, २३–२६
८९—पुरालिपि ,, २७

पुरातत्त्व-निबन्धावली

भूमिका

(१)

पुरातत्त्व

१—पुरातत्त्व का महत्त्व

हिन्दी में पुरातत्त्व-साहित्य की बड़ी आवश्यकता है। भारत के सच्चे इतिहास के निर्माण में "पुरातत्त्व" की सामग्री अत्यन्त उपयोगी है, और, खुदाई आदि के द्वारा अभी तक जो कुछ किया गया है, वह दाल में नमक के बराबर है। और जब हम यूरोप के सभ्य देशों के कार्य से तुलना करते हैं, तब उसे बहुत अल्प पाते हैं। काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा ने हिन्दी की खोज की रिपोर्टें तथा 'प्राचीन मुद्रा' छापकर; और, उसकी पत्रिका के योग्य सम्पादक श्रद्धेय ओझाजी ने भी हिन्दी में इस ओर बहुत कार्य किया है। ओझाजी हिन्दी में इस विषय के युगप्रवर्तक होने से चिरस्मरणीय रहेंगे।

इतिहास की सबसे ठोस सामग्री ही पुरातत्त्व-सामग्री है; और, उस सामग्री से भारत की कोई जगह शून्य नहीं है। गाँवों के पुराने डीहों पर फेंके मिट्टी के बर्तनों के चित्र-विचित्र टुकड़े भी हमें इतिहास की कभी-कभी बहुत ही महत्त्वपूर्ण बातें बतलाते हैं; लेकिन उन्हे समझने के लिए हमारे पास वैसे श्रोत्र और नेत्र होने चाहियें।

२—सर्वसाधारण के जानने योग्य कुछ बातें

वैसे तो बहुत सी बातें हैं, जिन्हें एक पुरातत्त्व-प्रेमी और पुरातत्त्व-गवेषक को जानना चाहिये; किन्तु यहाँ कुछ ऐसी बातें गिना दी जाती हैं, जिनको साधारण पाठक भी यदि ध्यान में रखें, और अपने आसपास की सामग्रियों के रक्षण और परीक्षण का ख्याल करें, तो बहुत फायदा हो सकता है—

(१) शिला, ताम्रखण्ड और भग्न मूर्तियों तथा दूसरी चीजों पर के लेखों को जहाँ कहीं भी देखें, उन्हें प्राचीन लिपियों से यदि मिलावें, तो उससे काल का

ज्ञान हो सकता है। यह ख्याल रखें कि, पुरातत्त्वविद् न सर्वज्ञ हैं और न वह भारत में सब जगह पहुँच ही सके हैं, इसलिये आपके गाँव के डीह या महादेव-स्थान पर ढेर की हुई खण्डित मूर्तियों के टुकड़ों में भी कभी कोई हीरा निकल आ सकता है।

(२) अपने आसपास की पहाड़ियों के पत्थरों से भिन्न यदि किसी दूसरे रंग के पत्थर की मूर्ति मिले, तो वह कभी-कभी और भी महत्त्वपूर्ण सूचना देनेवाली हो सकती है। मूर्तियों में अक्सर आसन (पीठिका) के नीचे या प्रभामण्डल (सिर के चारों ओर के घेरे) या पीठ पर लेख खुदे होते हैं।

(३) ईंटों की लम्बाई पर अलग लेख है। जितनी ही असाधारण लम्बाई की ईंटें मिलें, उतनी ही उन्हें उस स्थान की प्राचीनता को बतलानेवाली समझना चाहिये। भरसक अखण्ड ईंट खोज निकालने और उसका नाप लेने की कोशिश करनी चाहिये। बहुत छोटी ईंटें (लाहोरी या लाखोरी) मुसलमानी काल की होती हैं। विचित्र आकार-प्रकार के खपड़े, कुएँ बाँधने की चन्द्राकार पटियाँ आदि भी कभी-कभी बहुत उपयोगिनी होती हैं।

(४) मकान की नींव, कुआँ या तालाब खोदने में यदि कोई चीज मिले, तो उसकी गहराई को नापकर चीज़ के साथ नोट कर लीजिये। यह गहराई काल प्रमाण की एक बहुत ही उपयोगिनी कड़ी है। इसी तरह जो चीज़ जिस गाँव के जिस स्थान पर मिले, उसे भी नोट कर लेना चाहिये। स्मरण रहे, "स्थानहीना न शोभन्ते दन्ताः केशा नखा नराः" की उक्ति इस पर भी घटती है।

(५) कहीं-कहीं गाँवों में पीपल के नीचे या किसी टूटे-फूटे देवस्थान में पत्थर के लम्बे चिकने टुकड़े मिलते हैं। उनमें कभी-कभी दस-बारह हजार वर्ष पूर्व के हमारे पूर्वजों के, हथियार भी सम्मिलित रहते हैं। यदि वह संगखारे या चकमक जैसे कड़े पत्थर के तथा नोकीले और तेज धारवाले हों, तो निश्चय ही समझिये कि, वे वही अस्त्र हैं, जिनसे हमारे पूर्वज शिकार आदि किया करते थे।

(६) कुएँ आदि खोदने में धरती के बहुत नीचे कभी-कभी मनुष्य की खोपड़ियाँ या हड्डियाँ मिल जाती हैं। हो सकता है कि वह कई हजार वर्षों की पुरानी, किसी लुप्त जाति के मनुष्य की, हों। इसलिये उसकी छानबीन करनी चाहिये और यदि आकृति असाधारण तथा हड्डियाँ बहुत पुरानी या पथराई जैसी मालूम होती हों, तो उनकी रक्षा करनी चाहिये या किसी विशेषज्ञ से दिखाना चाहिये। बहुत नीचे मिले मिट्टी के बर्तनों के बारे में भी यही समझना चाहिये। ताँबे या पीतल की तलवार या छुरा, यदि कहीं मिल जाय, तो उसे धातु के भाव

बेच न डालना चाहिये। हो सकता है, वह ५-६ हजार वर्षों की पुरानी चीज़ हो; और कोई संग्रहालय उसे धातु से कई गुने दाम पर खरीद ले।

(७) **पुराणस्थान**—(क) मिट्टी से भठे तथा दब गये भीटोंवाले जहाँ तालाब हों, (ख) जहाँ आसपास पुराने देवस्थानों या पीपल के वृक्षों के नीचे टूटी-फूटी मूर्तियाँ अधिक मिलती हों, (ग) जहाँ खेत जोतते या मिट्टी खोदते वक्त पुराने कुएँ या ईंटों की दीवारें आदि निकल आती हों, (घ) जहाँ बरसात में मिट्टी के घल जाने पर ताँबे आदि के पैसे तथा दूसरी चीज़ें मिलती हों (चौकोर और मूर्तिवाले सिक्के अधिक पुराने होते हैं; और, पानेवाले को, उनका, कई गुना अधिक दाम मिल सकता है); ऐसे स्थान पुरातत्त्व के लिये अधिक उपयोगी होते हैं। गढ़ या ऊँची जगह से भी प्राचीनता मालूम होती है; किन्तु हजार वर्ष पूर्व से जहाँ बस्ती फिर नहीं बसी, वहाँ की ज़मीन बहुत ऊँची नहीं हो पाती।

(८) गाँव में, साधारण लोगों में, यह भ्रम फैला हुआ है कि, सरकार जहाँ-कहीं खुदाई करती है, वह किसी खजाने के लिये। उन्हें समझना चाहिये कि, पुरातत्त्व की खुदाई में सरकार ने जितना खर्च किया है, यदि खुदाई में निकले हुए सोने-चाँदी के दाम से मुकाबिला किया जाय, तो उसका शतांश भी न होगा। फिर भी सोने-चाँदी या कीमती पत्थर की जो कोई चीज़ मिलती है, उसे न गलाया जाता है, न बेंचा जाता है। वह तो भिन्न-भिन्न संग्रहालयों में, इतिहास के विद्वानों और प्रेमियों के देखने और जानने के लिये, रख दी जाती है। यदि गाँव में इस तरह के सिक्के आदि किसी को मिलें, तो उसे वह गलाकर या तोड़-फोड़ करके खराब न कर दे। सम्भव है कि, उससे उसकी अपनी जाति का कोई सुन्दर इतिहास मालूम किया जा सके। बहुत से भूले वंशों के परिचय और गौरव स्थापन करने में इन चीज़ों ने बहुत सहायता की है। सम्भव है, ऐसी चीज़ को गलाने या तोड़नेवाला अपने पूर्व पुरुषों की कीर्ति और इतिहास को अपनी इस क्रिया द्वारा गला और तोड़ रहा हो!

३—पुरातत्त्व और पाश्चात्य विद्वान्

पुरातत्त्व के विषय में पाश्चात्य विद्वान् कितने उत्सुक हैं, इसका एक उदाहरण लीजिये। काश्मीर-राज्य के गिलगित स्थान में, १२-१३ सौ वर्ष पुराने अक्षरों में, भोजपत्र पर लिखे, बहुत से संस्कृत-ग्रन्थों का एक ढेर मिल गया। भारत के कितने ही विद्वान् तो उसके महत्त्व को उतना नहीं समझे; किन्तु उसके बारे में सचित्र सुन्दर विवरण फ्रांस के आचार्य सिल्वेन्

लेवी ने प्रकाशित कराया है। उनके पास कुछ पन्ने पहुँच गये थे, जिनके पाठ को, उन्होंने, उसमें, छापा भी है। वह और उनके सहकारी डा० फुशे आदि उन हस्तलिखित ग्रंथों के बारे में इतने उत्सुक हुए कि, उन्होंने कई बार काश्मीर-राज्य के अधिकारियों के पास पत्र भी भेजे। वे व्यग्र रहे कि, कहीं असावधानी से वह सामग्री नष्ट या लुप्त न हो जाय! जब मैं १९३२ ई० के नवम्बर में पेरिस में था, तब उन्हें काश्मीर से पत्र मिला था, जिसमें लिखा था कि, हस्तलेखों का निरूपण (*decipher*) किया जा रहा है! कहाँ वह आशा रखते थे कि, इन अठारह महीनों में उन पुस्तकों के नाम आदि के विषय में कोई विस्तृत विवरण मिलेगा और कहाँ पत्र जा रहा है कि, गुप्त-लिपि में लिखे ग्रन्थों का निरूपण किया जा रहा है! यदि ग्रन्थों का प्रकाशन या विवरण तैयार न करके अठारह महीने सिर्फ निरूपण में ही लग जाते हैं, तो कब उन्हें विद्वानों के सामने आने का मौका मिलेगा! आचार्य लेवी ने कहा था कि, पूरे अठारह महीने हो गये, ऐसा अद्भुत ग्रन्थ-समुदाय भारत में मिला है, जिसे लोग केवल चीनी और तिब्बती अनुवादों से ही जान सकते थे; परन्तु उसके बारे में भारत में इस तरह का आलस्य है, यह भारत के लिए लज्जा की बात है!

भारतीय पुरातत्त्व के साहित्य के बारे में यदि आप पूरी जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं, तो उसे आप हालैंड-निवासी डा० फोगल और उनके सहयोगियों के परिश्रम से निकलनेवाली वार्षिक पुस्तक "*The Annual Bibliography of Indian Archaeology*" से जान सकते हैं।

४—पुरातत्त्वोत्खनन के लिये एक सेवक-दल की आवश्यकता

पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज और खनन का सारा भार हम सरकार पर ही नहीं छोड़ सकते। सभी सभ्य देशों में ग़ैर सरकारी लोगों ने इस विषय में बहुत काम किया है। अर्थ-कृच्छ्रता के कारण गवर्नमेंट ने पुरातत्त्व विभाग के खर्च को बहुत ही कम कर दिया है। भारत सरकार के शिक्षा-सदस्य के भाषण से यह भी मालूम हुआ है कि, सरकार विदेशी विश्वविद्यालयों तथा दूसरी विश्वसनीय संस्थाओं को भारत में पुरातत्त्वसम्बन्धी उत्खनन के लिये अनुमति दे देगी। ऐसा करने से निश्चय ही भारत के इतिहास की बहुत सी बहुमूल्य सामग्री को—जो आगे खुदाई में निकलेगी—वह संस्थाएँ भारत से बाहर ले जायँगी। यद्यपि संस्थाओं के प्रामाणिक होने पर, सामग्रियों का भारत से बाहर जाना—जहाँ तक विज्ञान का सम्बन्ध है—हानिकर नहीं है; किन्तु यह भारतीयों के लिये शोभा नहीं देता। साथ ही यह

भी तो उचित नहीं कि हम चीजों के बाहर चले जाने के डर से न दूसरों को खोदने दें और न आप ही इस विषय में कुछ करें। अस्तु, धनियों को चाहिये कि, पर्याप्त धन देकर किसी विश्वविद्यालय या संग्रहालय द्वारा खुदाई करावें। हिन्दी-भाषा-भाषी राजाओं, जमींदारों और धनाढ्यों के विषय में यह आम तौर से शिकायत है कि, वह विज्ञान, कला तथा दूसरे संस्कृति-सम्बन्धी कामों से उपेक्षा करते हैं। सचमुच यदि वह यह भी नहीं कर सकते, तो उनका अस्तित्व बिल्कुल निरर्थक है। वस्तुतः इस श्रेणी का भविष्य बहुत कुछ इस प्रकार के कामों द्वारा जनता की सहानुभूति प्राप्त करने ही पर निर्भर है।

हमारा देश गरीब है। बहुत से आदमी होंगे, जो पुरातत्त्व के सम्बन्ध में कुछ कार्य करना चाहते हैं; किन्तु उनके पास धन नहीं, जिससे वह सहायता करें। ऐसे समझदार पुरातत्त्व-प्रेमी भी एक प्रकार से उत्खनन में सहायता कर सकते हैं। आवश्यकता है, प्रत्येक प्रान्त में ऐसे उत्साही लोगों का एक पुरातत्त्व-सेवा-दल कायम करने की। दल में कालेजों के छात्र और प्रोफेसर तथा इस विषय में उत्साह रखनेवाले दूसरे शिक्षित सज्जन सम्मिलित हों। सेवादल के सदस्य साल में कुछ सप्ताह या मास जानकार नेताओं के नेतृत्व में अपने हाथों खनन का काम करें। निकली चीज़ों को प्रान्त के संग्रहालय या अन्य किसी सार्वजनिक सुरक्षित स्थान में रखा जाय। कैम्प का जीवन बिताते हुए अपने पास से खर्च कर काम करनेवाले लोग आसानी से मिल सकेंगे। वस्तुओं की सुरक्षा और नेता के अभिज्ञ होने का विश्वास हो जाय, तो सरकार भी इस काम में बाधक नहीं होगी और जहाँ तक होगा, उसमें वह सहूलियत पैदा करेगी।

---

(२)

काल-निर्णय में ईंटें और गहराई

इतिहास का विषय भूत-काल है; इसलिये उसे हम प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। किन्तु जिस प्रकार वर्तमान वस्तुओं के लिये प्रत्यक्ष बहुत ही जबर्दस्त प्रमाण है, उसी प्रकार भूत वस्तुओं के लिये जबर्दस्त प्रमाण उस समय की वस्तुएँ हैं। वस्तुएँ प्रत्यक्षदर्शी और सत्यवादी साक्षी हैं, यदि उनका उस काल से सच्चा सम्बन्ध मालूम हो जाय। पोथी-पत्रों में तो मनुष्य भूल कर सकता या स्वार्थवश हर नई लिखाई में घटा-बढ़ा सकता है; किन्तु रमपुरवा (चम्पारन) के स्तम्भ-लेख में एक भी अक्षर का, अशोक के बाद, मिलाया जाना क्या आसान है? सारनाथ में ई० पू० प्रथम या द्वितीय शताब्दी में, जिस बौद्ध-सम्प्रदाय की प्रधानता थी, वहाँ उस समय की लिपि में उसके नाम के साथ एक लेख खुदा हुआ था। उसके चार-पाँच सौ वर्ष बाद (ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दी में) दूसरा सम्प्रदाय अधिकारारूढ़ हुआ। इसने उसी लेख में, नामवाला भाग छिलवाकर, अपना नाम जुड़वा दिया। ऐसे भी भिन्न-भिन्न हाथों के अक्षर एक दूसरे से पृथक् होते हैं; और, यहाँ तो पाँच शताब्दियों बाद अक्षरों में भारी परिवर्तन हो गया था। इसलिये यह जाल साफ मालूम हो जाता है; और, वह "आचार्याणां सर्वास्तिवादिनं परिग्रहे" वाला छोटा लेख बतला देता है कि, सारनाथ का धर्म-चक्र-प्रवर्तन-विहार ई० पू० प्रथम शताब्दी से पूर्व, किसी दूसरे सम्प्रदाय के हाथ में था; और, ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दी में सर्वास्तिवाद के हाथ में चला गया। इस तरह इस प्रमाण की मजबूती को आप अच्छी तरह समझ सकते हैं। सातवीं शताब्दी के चीनी भिक्षु युन्-च्वेङ् अपने समय में वहाँ साम्मितीय निकाय की प्रधानता पाते हैं। युन्-च्वेङ् का ग्रन्थ १२ शताब्दियों तक भारत से दूर पड़ा रहा; इसलिये जान-बूझकर, मिलावट कम होने से, अपने समय के लिये उसकी प्रामाणिकता बहुत ही बढ़ जाती है। किन्तु मान लीजिये युन्-च्वेङ अपने ग्रन्थ में लिख दें कि, सारनाथ का धर्म-चक्र-प्रवर्तन-विहार अशोक के समय से आज तक साम्मितीयों के हाथ में है, तो उक्त लेख के सामने इस बात की प्रामा-

णिकता कुछ भी नहीं रह सकती। इस तरह समसामयिक सामग्री पीछे रचित और लिखित ग्रन्थों से बहुत ही अधिक प्रामाणिक है। हाँ, जैसा कि, मैंने ऊपर कहा है, वहाँ हमें उनकी समसामयिकता को सिद्ध करना होगा। समसामयिकता सिद्ध करने के लिये निम्न बातें सबसे अधिक प्रामाणिक हैं—(१) स्वयं लेख में दिया संवत् और नाम, (२) लिपि का आकार, (३) गहराई, (४) प्राप्त वस्तु के आस-पास मिली ईंटें और अन्य वस्तुएँ।

पहली बात तो सर्वमान्य है ही; लेकिन ऐसा संवत्-काल लिखने का रवाज गुप्तों के ही समय से मिलता है। आन्ध्रों, कुषाणों, मौर्यों के लेखों में तो राजा के अभिषेक का संवत् दिया रहता है; उनका काल-निर्णय कठिन है। बहुत से लेखों में तो काल भी नहीं रहता। ऐसी अवस्था में, अक्षरों को देखकर, उनसे काल-निश्चय किया जाता है। यद्यपि इसमें दो-एक शताब्दियों के अन्तर होने की सम्भावना है; किन्तु जो सामग्री सबसे प्रचुर परिमाण में मिलती है और मनुष्य-जीवन के सभी अङ्गों पर प्रकाश डालती है, वह अक्षराङ्कित भी नहीं होती। इसी सामग्री की समसामयिकता को सिद्ध करने के लिये तीसरे और चौथे प्रमाणों की आवश्यकता होती है।

ऐतिहासिक सामग्रियों में प्रत्यक्षदर्शी लेख का, अपनी ज़बान खोलकर सन्-संवत् के साथ घटनाओं का वर्णन करना, ऐतिहासिक प्रत्यक्ष है। किन्तु जब वह अङ्क या आकार से अपने काल मात्र को बतलाता है, तब भी वह अपने साथ के बर्तन, दीवार, ज़ेवर, मूर्ति आदि के बारे में इतनी गवाही दे ही जाता है कि, इतने समय तक हम सब साथ रहे हैं। उस समय की सभ्यता आदि सम्बन्धी बातें तो अब आपको उनकी मूक भाषा से मालूम करनी होंगी। हाँ, यहाँ यह भी हो सकता है कि, भिन्न काल में बनी वस्तुएँ और लेख पीछे वहाँ इकट्ठे कर दिये गये हो; किन्तु वह तो तभी हो सकता है, जब कि संग्रहालय (म्युज़ियम) की तरह यहाँ भी इकट्ठा करने का कोई मतलब हो। लेखों के साथ कुछ और चीजें भी सभी जगह मिला करती हैं; और, यह भी देखा गया है कि, काल के अनुसार इनके आकार-प्रकार में भेद होता रहता है। इसीलिये इन्हें भी काल-निर्णय में प्रमाण माना जाता है।

देहात में भी लोग कहा करते हैं कि, "धरती माता प्रतिवर्ष जौ-भर मोटी होती जाती हैं!" यह बात सत्य है; लेकिन इतने संशोधन के साथ—'सभी जगह नहीं, और मोटाई का ऐसा नियत मान भी नहीं।' भारत में मोहन्‌जोदड़ो वह स्थान है, जहाँ आज से चार-पाँच हजार वर्ष की पुरानी वस्तुएँ मिली हैं। लेकिन वहाँ

आप, इन सब चीज़ों को, वर्तमान तल से भी ऊपर, टीलों पर पाते हैं। हड़प्पा में भी करीब-करीब वही बात है। हाँ, इस तरह के अपवादों के साथ पृथिवी के मोटे होने का नियम उत्तर भारत में लागू है। पृथिवी कितनी मोटी होती जाती है, इसका कोई पक्का नाप-नियम नहीं है। इसके लिये कुछ जगहों की खोदाई में मिले भिन्न-भिन्न तलों की सूची दी जाती है—

काल	गहराई (फ़ीट)	स्थान
ई० पू० ८वीं शताब्दी	२१,२०	भीटा[1] (इलाहाबाद)
,, चौथी-पाँचवीं ,,	१७	,,
मौर्य-काल		
(ई० पू० तृतीय शतक)	१६	,,
,,	१५	पटना
,,	१३	रमपुरवा (चम्पारन)
,,	गुप्त + ६, ९½	सारनाथ (बनारस)
कुषाण-काल		
(ई० पू० प्र० श०)	१३	भीटा (इलाहाबाद)
,, (ई० चतुर्थ-षष्ठ श०)	१०-६	कसया (गोरखपुर)
,,	१०	,,
कुषाण-काल	१०	बसाढ़ (मुजफ्फरपुर)
,,	९	भीटा (इलाहाबाद)
,,	८	,,
,,	७	पटना

गहराई की भाँति ईंटें भी काल-निर्णय में बहुत सहायक होती हैं; क्योंकि देखा जाता है कि, जितनी ही ईंटें बड़ी होती हैं, उतनी ही अधिक पुरानी होती हैं। यद्यपि यह नियम सामान्यतः सर्वत्र लागू है, तो भी कहीं-कहीं इसके अपवाद मिलते हैं। गुप्त-काल की भी ईंटें कभी-कभी मौर्य-काल की सी मिली हैं; किन्तु उनमें वह ठोसपन नहीं हैं। (जैसे-जैसे जंगल कटते गये, वैसे ही वैसे लोग लकड़ी की किफायत करने लगे; और, इसीलिये, ईंधन की कमी के लिये ईंटों की मोटाई

---

१. भीटा का पुराना नाम सहजाती था। वहाँ की खुदाई में एक मुहर भी मिली है, जिसमें "शहजतिये निगमश" (सहजाती के वणिक्-संघ का) लिखा है— दे० "बुद्धचर्या" पृष्ठ ५५९,५६१।

आदि को कम करने लगे।) मोहन्जोदड़ो और हड़प्पा सर्वथा ही इसके अपवाद हैं। वहाँ की ईंटें तो आजकल की अंग्रेज़ी ईंटों जैसी लम्बी--किन्तु, कम मोटी हैं। नीचे की सूची से भिन्न-भिन्न काल की ईंटों का कुछ अनुमान हो सकेगा—

काल	आकार (इंच)	स्थान
ई० पू० चतुर्थ श०	$१६ \times १०\frac{१}{२} \times ३$	पिपरहवा (बस्ती)
,,	$१५ \times १० \times ३$	,,
मौर्य–काल		
(ई० पू० तृतीय श०)	$२० \times १४\frac{१}{३} \times ३\frac{१}{४}$	भीटी (बहराइच)
,,	$१९\frac{१}{२} \times १२\frac{१}{३} \times ३\frac{१}{२}$	सारनाथ (बनारस)
,,	$१९ \times १० \times ३$	कसया (गोरखपुर)
,,	$१८ \times १० \times २\frac{३}{४}$	,,
कुषाणों[१] से पूर्व	$१७\frac{१}{२} \times १०\frac{३}{४} \times २\frac{१}{४}$	भीटा (इलाहाबाद)
कुषाणों के पूर्व	$१४ \times १०\frac{१}{४} \times २\frac{१}{४}$	सहेटमहेट (गोंडा)
,,	$१४ \times १० \times २$	,,
,,	$१४ \times ९ \times २$	,,
कुषाण	$१५ \times १०\frac{१}{३} \times २\frac{३}{४}$	सारनाथ (बनारस)
गुप्त	$१४ \times ८ \times २\frac{१}{२}$	सहेटमहेट (गोंडा)
,,	$१२ \times ९ \times २$	,,
ईस्वी छठी-सातवीं सदी	$१२\frac{१}{२} \times ८\frac{१}{२} \times २$	,,
ई० सातवीं-आठवीं सदी	$१२ \times ९ \times २$	,,
ई० दसवीं-ग्यारहवीं सदी	$१२ \times ९ \times २$	,,
,,	$९\frac{१}{२} \times ९\frac{१}{२} \times २$	,,
,,	$७ \times ५ \times २$	,,

———

१. ई० पू० प्रथम और ईस्वी सन् प्रथम शताब्दियाँ।

(३)

बसाढ़ की खुदाई

हाजीपुर से १८ मील उत्तर, मुज़फ्फ़रपुर जिले में, बसाढ़ (बनिया बसाढ़) गाँव है; जिसके पास के गाँव बखरा में अशोक-स्तम्भ है। बसाढ़ की खुदाई में ईस्वी सन् से पूर्व की चीज़ें मिली हैं। खुदाई के सम्बन्ध में कुछ लिखने के पूर्व स्थान के बारे में कुछ लिख देना उचित होगा।

वैशाली प्राचीन वज्जी-गण-तंत्र[१] की राजधानी थी। वज्जी देश की शासक क्षत्रिय जाति का नाम लिच्छवि था। जैन-ग्रन्थों से मालूम होता है कि, इसकी ९ उपजातियाँ थीं। इन्हीं का एक भेद[२] ज्ञातृ जाति था, जिसमें पैदा होने के कारण जैनधर्म-प्रवर्तक वर्धमान (महावीर) को नातपुत्र या ज्ञातृपुत्र भी कहते हैं। पाणिनि ने भी "मद्रवृज्ज्योः कन्" (अष्टाध्यायी ४।२।३१) सूत्र में इसी, वज्जी को वृज्जी कहकर स्मरण किया है। बुद्ध के समय यह वज्जी-गण-राज्य उत्तरी भारत की पाँच प्रधान राजशक्तियों—अवन्ती, वत्स, कोसल, मगध और वज्जी—में से एक था। इस गणराज्य का शासन कब स्थापित हुआ, यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। इनके न्याय, प्रबन्ध आदि के सम्बन्ध में पाली-ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ वर्णन है। बुद्ध के निर्वाण के तीन वर्ष बाद, प्रायः ई० पू० ४८० में, वज्जी-गणतंत्र को मगधराज अजातशत्रु ने बिना लड़े-भिड़े, जीता था। पीछे तो मगध-साम्राज्य के विस्तार में लिच्छवि जाति ने बड़ा ही काम किया। लिच्छ-

---

१. वज्जी देश में आजकल के चम्पारन और मुजफ्फरपुर के जिले, दरभंगा का अधिकांश तथा छपरा जिले के मिर्ज़ापुर, परसा, सोनपुर के थाने एवम् कुछ और भाग सम्मिलित थे।

२. रत्ती परगने में (जिसमें कि बसाढ़ गाँव है) जिन जथरियों की सबसे अधिक बस्ती है, वह यही पुराने ज्ञातृ हैं, जो भूतकाल में इस बलशाली गण-तन्त्र के सञ्चालक, और जैन-तीर्थङ्कर महावीर के जन्मदाता थे। देखो ज्ञातृ = जथरिया (६) भी।

वियों के प्रभाव और प्रभुत्व को हम गुप्त-काल तक पाते हैं। गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त लिच्छवि-दौहित्र होने का अभिमान करता है। कितने ही विद्वानों का मत है कि, गुमनाम गुप्तवंश को साम्राज्य-शक्ति प्रदान करने में चन्द्रगुप्त का लिच्छवि-राजकन्या कुमारदेवी के साथ विवाह होना भी एक प्रधान कारण था। इस विवाह-सम्बन्ध के कारण चन्द्रगुप्त को वीर[१] लिच्छवि जाति का सैनिक बल हाथ लगा था। गुप्तवंश का सबसे प्रतापी सम्राट् समुद्रगुप्त उसी लिच्छविकुमारी कुमारदेवी का पुत्र था। कौन कह सकता है, उसको अपनी दिग्विजयों में अपने मामा के वंश से कितनी सहायता मिली होगी। गुप्तवंश के बाद हम लिच्छवियों का नाम नहीं पाते। युन् च्वेङ के समय वैशाली उजाड़ सी थी। बेतिया का राजवंश उक्त लिच्छवि जाति के जथरिया-वंश के अन्तर्गत है; इसलिये सम्भव है, बेतिया-राजवंश के इतिहास से पीछे की कुछ बातों पर प्रकाश पड़े।[२]

वैशाली नाम के बारे में पाली-ग्रन्थों में लिखा है कि, दीवारों को तीन बार हटाकर उसे विशाल करना पड़ा; इसीलिये नगर का वैशाली नाम पड़ा। फलतः वैशाली के ध्वंसावशेष का दूर तक होना स्वाभाविक है। वैशाली नगर कहाँ तक था और कहाँ नगर के बाहर वाले गाँव थे, इसका अभी तक निश्चय नहीं किया गया। अभी तक जो भी खुदाई का काम हुआ है, वह सिर्फ बसाढ़ के गढ़ में ही हुआ है। बसाढ़ के आस-पास कोसों तक पुरानी बस्तियों के निशान मिलते हैं। बसाढ़ और बनिया गाँव न सिर्फ स्वयं पुरानी बस्तियों पर बसे हैं, ब्लकि उनके आस-पास भी ऐसी बहुत भूमि है, जिसके नीचे भूत काल के सन्देश-वाहक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

---

१. आज भी जथरिया जाति लड़ने-भिड़ने में मशहूर है।

२. जिस प्रकार नन्द और मौर्य भारत के प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य-स्थापक थे, वैसे ही वज्जी ऐतिहासिक काल का एक महान् शक्तिशाली गणतन्त्र था। क्या यह अच्छा न होगा कि, मुजफ्फरपुरवाले उसकी स्मृति में प्रतिवर्ष एक लिच्छवि-गणतन्त्र-सप्ताह मनावें, जिसमें और बातों के साथ योग्य विद्वानों के गणतन्त्र-सम्बन्धी व्याख्यान कराये जायँ? लिच्छवि-गणतन्त्र भारतीयों के जन-सत्तात्मक मनोभाव का एक ज्वलन्त उदाहरण है, जो पाश्चात्यों के इस कथन का खण्डन करता है कि, भारतीय हमेशा एकाधिपत्य के नीचे रहनेवाले रहे हैं। लिच्छवि-गणतन्त्र पर सारे भारत को अभिमान होना स्वाभाविक है। एक लिच्छवि-जथरिया के नाते, आशा है, मौलाना शफी दाऊदी भी इसमें सहयोग देंगे।

वैसे तो बसाढ़ के लोगों को मालूम ही था कि, उनका गाँव राजा विशाल की राजधानी है; किन्तु सेंट मार्टिन और जनरल कनिंघम सज्जन थे, जिन्होंने बसाढ़ के ध्वंसावशेषों के लिये पुरानी वैशाली होने का संकेत किया। तो भी बसाढ़ में सनियम खुदाई का काम सन् १९०३ ई० तक नहीं हुआ था। १९०३-४ ई० के जाड़ों में डा० ब्लाश् के अधिनायकत्व में वहाँ की खुदाई हुई। उसके बाद, १९१३-१४ ई० में, फिर डाक्टर स्पूनर ने खुदाई का काम किया। यह दोनों ही खुदाइयाँ राजा विशाल के ही गढ़ पर हुई। डाक्टर ब्लाश् (*Bloch*) अपनी खुदाई में गुप्त-काल के आरम्भ (चौथी शताब्दी के आरम्भ) तक पहुँचे थे और डाक्टर स्पूनर का दावा मौर्य (ई० पू० तीसरी शताब्दी) तक पहुँचने का था। यद्यपि जिस मुहर के बल पर उन्होंने ई० पू० तीसरी शताब्दी निश्चय किया, उसे स्व० राखालदास वन्द्योपाध्याय जैसे पुरालिपि के विद्वान् ने ई० पू० प्रथम शताब्दी का बतलाया, और यह अक्षरों को देखने से ठीक जँचता है।

राजा विशाल का गढ़ दक्षिण को छोड़कर तीन तरफ जलाशयों से घिरा है; और, वर्षा तथा शीतकाल में दक्षिण की ओर से—जिधर बसाढ़ गाँव है—ही गढ़ पर जाया जा सकता है। डाक्टर ब्लाश् की नाप से गढ़ उत्तर ओर ७५७ फीट, दक्षिण ओर ७८० फीट, पूर्व ओर १६५५ एवं पश्चिम ओर १६५० फीट विस्तृत है। सारी खुदाई में सिर्फ एक छोटी-सी गणेश की मूर्ति डा० ब्लाश् को मिली थी, जिससे सिद्ध होता है कि, गढ़ धार्मिक स्थानों से सम्बन्ध न रखता था। गुप्त, कुषाण तथा प्राक्-कुषाण मुहरों को देखने से तो साफ मालूम होता है कि, यह राज्याधिकारियों का ही केन्द्र रहा है। वैसे गढ़ को छोड़कर बसाढ़ में दूसरी जगह भी अकसर पुरानी मूर्तियाँ मिलती हैं। गढ़ से पश्चिम तरफ, बावन-पोखर के उत्तरी भीटे पर, एक छोटा-सा आधुनिक मन्दिर है, वहाँ आप मध्य-कालीन खण्डित कितनी ही—बुद्ध, बोधि-सत्व, विष्णु, हर-गौरी, गणेश, सप्त-मातृका एवं जैनतीर्थङ्करों की—मूर्तियाँ पावेंगे।

गढ़ की खुदाई में जो सबसे अधिक और महत्त्वपूर्ण चीजें मिलीं, वे हैं, महाराजाओं, महारानियों तथा दूसरे अधिकारियों की स्वनामाङ्कित कई सौ मुहरें। डाक्टर ब्लाश् अपनी खुदाई में ऊपरी तल से १० या १२ फीट तक नीचे पहुँचे थे। उनका सबसे निचला तल वह था, जहाँ से आरम्भिक गुप्तकाल की दीवारों की नींव शुरू होती है। ऊपरी तल से १० फीट नीचे "महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०-४१३)-पत्नी, महाराज श्री गोविन्दगुप्त माता, महादेवी श्री ध्रुवस्वामिनी" की मुहर मिली थी। जिस घर में वह मिली थी, वह देखने में

चहबच्चाघर-सा मालूम होता था; इसलिये उस समय का साधारण तल इससे कुछ फीट ऊपर ही रहा होगा। डा० स्पूनर और नीचे तक गये। वहाँ उन्हें ई० पू० प्रथम शताब्दी की वेसालिअनुसयानकवाली मुहर मिली। डा० ब्लाश् को सबसे बड़ी ईंट १६½ × १० × २ इंच नाप की मिली थी। एक तरह के खपड़े भी मिले, जो बिहार में आजकल पाये जानेवाले खपड़ों से भिन्न हैं। इस तरह के खपड़े लखनऊ म्यूजियम में भी रखे हैं, जो युक्तप्रांत में कहीं मिले थे। इनकी लम्बाई-चौड़ाई (इंच) निम्न प्रकार है :—

८ × २½	८¼ × २
५½ × २½	८¼ × २¾
७⅓ × २	११ × २

यद्यपि गढ़ की खुदाई में हाथी-दाँत का दीवट (दीपाधानी) तथा और भी कुछ चीजें मिली थीं; किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण वह कई सौ मुहरें हैं। गुप्तकाल से पूर्व की मुहरें बहुत थोड़ी मिली हैं, उनमें से एक पर निम्न प्रकार का लेख है :—

"वेसालि अनु + + + + ट + + कारे सयानक"

इसमें वेसालि अनुसयानक को वेसाली अनुसंयानक बनाकर डाक्टर फ्लीट ने "वैसाली का दौरा करनेवाला अफसर" अर्थ किया है; और, "टकारे" के लिये कहा है—"यह एक स्थान के नाम का अधिकरण (सप्तमी) में प्रयोग है। अशोक के लेखों में पाँच-पाँच वर्ष पर खास अफसरों के अनुसयान या दौरा करने की बात लिखी है। उसी से उपर्युक्त अर्थ निकाला गया है। किन्तु सिवा वेसालि शब्द के, जो कि, स्थान को बतलाता है, और अर्थ अनिश्चित से ही हैं।

दूसरी मुहर में है—
"राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामीरुद्रसिंहस्य दुहितु
राज्ञो महाक्षत्रपस्य स्वामीरुद्रसेनस्य
भगिन्या महादेव्या प्रभुदमाया"

'राजा महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसिंह की पुत्री, राजा महाक्षत्रप स्वामी रुद्रसेन की बहन महादेवी प्रभुदमा की।'

महाक्षत्रप रुद्रसिंह और उनके पुत्र रुद्रसेन चष्टन-रुद्रदामवंशीय पश्चिमीय क्षत्रपों में से थे, जिनकी राजधानी उज्जैन थी। रुद्रसिंह और रुद्रसेन का राज्य-

काल ईसा की तीसरी शताब्दी का आरम्भ है। प्रभुदमा के साथ का महादेवी शब्द बतलाता है कि, वह किसी राजा की पटरानी थी। क्षत्रपों और शातवाहन-वंशीय आन्ध्रों का विवाह-सम्बन्ध तो मालूम ही है; किन्तु प्रभुदमा किसकी पटरानी थी, यह नहीं कहा जा सकता।

"हस्तदेवस्य" मुहर कुषाण-लिपि में है। गुप्तकालीन मुहरों में कुछ "भगवत आदित्यस्य," "जयत्यनन्तो भगवान् साम्बः", "नमः पशुपते" आदि देवता-सम्बन्धी हैं। कुछ "नागशर्मणः", "बुद्धमित्रस्य", "त्रिपुरक्षषष्ठिदत्तः", "ब्रह्म-रक्षितस्य" आदि साधारण व्यक्तियों की हैं। राज्याधिकारियों की मुहरों के बारे में लिखने से पूर्व गुप्तकालीन शासनाधिकारियों के बारे में कुछ लिखना चाहिये। गुप्तसाम्राज्य अनेक भुक्तियों[१] में बँटा हुआ था। यह भुक्तियाँ आजकल की कमिश्नरियों से बड़ी थीं। हर एक भुक्ति में अनेक 'विषय' हुआ करते थे, जो प्रायः आजकल के जिलों के बराबर थे। विषय कहीं-कहीं अनेक 'पथकों' में विभाजित था; जैसा कि, हर्ष के बाँसखेड़ावाले ताम्रपत्र से मालूम होता है। नवमी शताब्दी के पालवंशीय राजा धर्मपाल के लेख से मालूम होता है, कि उस समय भुक्तियों को मण्डलों में विभक्त कर, फिर मण्डल को अनेक विषयों में बाँटा गया था। हो सकता है, साम्राज्य के आकार के अनुसार भुक्तियों का आकार घटता-बढ़ता हो। यद्यपि विषयों के नीचे पथकों का होना प्रायः नहीं देखा जाता, तो भी यदि पथक थे, तो उन्हें आजकल के परगने एवं ग्यारहवीं शताब्दी की पत्तला के समान जानना चाहिये। भुक्ति, विषय, ग्राम——इन तीन विभागों में तो कोई सन्देह ही नहीं है। उस समय भुक्ति के शासक को उपरिक कहा जाता था, जिसे आजकल का गवर्नर समझना चाहिये। उपरिक को सम्राट् ही नियुक्त किया करता था। अपनी भुक्ति के भीतर उपरिक विषय-पतियों को नियुक्त किया करता था, जिन्हें नियुक्तक या कुमारामात्य कहा जाता था। विषय-पति कुमारामात्य का निवास-नगर अधिष्ठान कहलाता था; और उस नगर के शासन

---

१. श्रावस्ती (सहेट-महेट) गोंडा-बहराइच जिलों की सीमा पर है; इसलिये गोंडा-बहराइच जिलों को श्रावस्ती-भुक्ति में मानना ही चाहिये। सातवीं शताब्दी के हर्षवर्द्धन के मधुवनवाले ताम्र-लेख से मालूम होता है कि, आजमगढ़ श्रावस्ती-भुक्ति में ही था। दिघवा-दुबौली (जि० सारन) का ताम्रपत्र यदि अपने स्थान पर ही है, तो नवीं शताब्दी में सारन भी श्रावस्ती-भुक्ति में था। इस प्रकार गोंडा, बहराइच, बस्ती, गोरखपुर, आजमगढ़ और सारन जिले कम-से-कम श्रावस्ती-भुक्ति में थे।

में निगम या नागरिक परिषद् का बहुत हाथ रहता था। यह निगम वही संस्था है, जिसके प्रभाव का उल्लेख नेगम (=नैगम) के नाम से बुद्धकाल में भी बहुत पाया जाता है। गुप्तकाल में श्रेष्ठी (=नगर-सेठ), सार्थवाह (=बनजारों का सरदार) और कुलिक (प्रतिष्ठित नागरिक) मिलकर निगम कहे जाते थे। इन्हें और प्रथम कायस्थ (प्रधान लेखक) को मिलाकर विषय-पति की परामर्श-समिति-सी होती थी।

अब बसाढ़ की खुदाई में मिली ऐसी कुछ मुहरों को देखिये—

उपरिक[2] { (१) [1]तीरभुक्त्युपरिकाधिकरणस्य।
(२) तीरभुक्तौ विनयस्थितिस्थाप (क)ाधिकरण (स्य)।

कुमारा० { (१) तीर-कुमारामा[3]त्याधिकरणस्य।
(२) कुमारामात्याधिकरणस्य।
(३) (वै) शाल्यधिष्ठानाधिकरण।
(४) (वै) शालविषयः[4]....।

निगम { (१) श्रेष्ठि-सार्थवाह-कुलिक-निगम।
(२) श्रेष्ठिकुलिकनिगम।
(३) श्रेष्ठिनिगमस्य।

श्रेष्ठि { (१) गोमिपुत्रस्य श्रेष्ठिकुलोटस्य।
(२) श्रेष्ठिश्रीदासस्य।

सार्थवाह {सार्थवाह दोड्ड........

प्रथम कुलिक[5] { (१) प्रथमकुलिकहरिः।
(२) प्रथमकुलिकोग्रसिहस्य।

---

१. तीरभुक्ति=तिरहुत, जिसमें सम्भवतः गंडक, गंगा, कोसी और हिमालय से घिरा प्रदेश शामिल था।

२. उपरिक की मुहर में दो हाथियों के बीच में, गुप्तों का लांछन लक्ष्मी हैं, जिनके बायें हाथ में अष्टदल पुष्प है।

३. मुहर में दो हाथियों के बीच लक्ष्मी हैं, जिनके हाथ में सप्तदल पुष्प है।

४. सम्भवतः विषयी।

५. नगर में श्रेष्ठी और सार्थवाह एक-एक हुआ करते थे। निगमसभा के बाकी सदस्य सद्कुलिक कहे जाते थे, जिनमें प्रमुख को 'प्रथम कुलिक' कहा जाता था। यही कारण है, जो मुहरों में सबसे अधिक कुलिकों की मुहरें हैं।

कुलिक
- (१) कुलिक भगदत्तस्य।
- (२) कुलिक गोरिदासस्य।
- (३) कुलिक गोण्डस्य।
- (४) कुलिक हरिः।
- (५) कुलिक ओमभट्ट।

इनके अतिरिक्त कुछ मुहरें राजा, युवराज तथा उनसे विशेष सम्बन्ध रखनेवालों की भी हैं। जैसे—

(१) महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्तपत्नी महाराज श्री गोविन्दगुप्त माता महादेवी श्री ध्रुवस्वामिनी।

(२) श्री पर (मभट्टारक) पादीय कुमारामात्याधिकरण।

(३) श्री युवराज भट्टारकपादीय कुमारामात्याधिकरण।

(४) युवराज भट्टारकपादीय बलाधिकरणस्य।

इनके अतिरिक्त रणभाण्डागाराधिकरण, दण्डपाशाधिकरण, दण्डनायक (न्याय-मन्त्री) और भटाश्वपति (घोड़सवार, सेनापति आदि) की मुहरें मिली हैं—

(१) महादण्डनायकाग्निगुप्तस्य।

(२) भटाश्वपति यक्षवत्सस्य (?)

युवराज भट्टारकपादीय—कुमारामात्याधिकरण देखकर तो मालूम होता है, तीर-भुक्ति के 'उपरिक' स्वयं युवराज ही होते थे। द्वितीय गुप्तसम्राट् अपने को लिच्छवि-दौहित्र कहकर जिस प्रकार अभिमान प्रकट करता है, उससे वैशाली को यह सम्मान मिलना असम्भव भी नहीं मालूम होता।[१]

---

१. जैनधर्म के लिये वैशाली का कितना महत्त्व है, यह तो उसके प्रवर्तक वर्धमान महावीर के वहाँ जन्म लेने से ही स्पष्ट है। बौद्धधर्म में भी वैशाली के लिये बड़ा गौरव है। वैशाली में ही बुद्ध ने, सन् ५२५-५२४ ई० पू० में, स्त्रियों को भिक्षुणी बनने का अधिकार दिया था। बुद्ध ने यहीं अपना अन्तिम वर्षावास किया था। बुद्ध के निर्वाण के सौ वर्ष बाद सन् ३८३ ई० पू० में, यहीं, बुद्ध के उपदेशों की छानबीन के लिये, भिक्षुओं ने द्वितीय संगीति (सभा) की थी। बुद्ध ने भिक्षु-संघ के सामने लिच्छवि-गणतन्त्र को आदर्श की तरह पेश किया था। भिक्षु-संघ के 'छन्द' (=वोट) दान तथा दूसरे प्रबन्ध के ढंगों में लिच्छवि-गणतन्त्र का अनुकरण किया गया है।

(४)

श्रावस्ती

बुद्ध के समय में उत्तर भारत में पाँच बड़ी शक्तियाँ थीं—कोसल, मगध, वत्स, वृजी और अवन्ती। इनमें वृजी (वैशाली) में लिच्छवियों का गणतंत्र था। कोसल और कोसल के अधीन गणतंत्रों के सम्बन्ध में भी बहुत सी बातों का पता लगता है। यहाँ कोसल की राजधानी श्रावस्ती के सम्बन्ध में लिखना है। श्रावस्ती के सम्बन्ध में त्रिपिटक और उसकी टीकाओं (अट्ठकथाओं) में बहुत कुछ मिलता है। इसके अतिरिक्त फाहियान, यून-च्वेङ के यात्रा-विवरण, ब्राह्मण और बौद्ध-संस्कृत ग्रन्थों तथा जैन प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थों में भी बहुत सामग्री है। किन्तु इन सब वर्णनों से पालि-त्रिपिटक में आया वर्णन ही अधिक प्रामाणिक है। ब्राह्मणों के रामायण, महाभारतादि ग्रन्थों का संस्करण बराबर होता रहा है, इसीलिये उनकी सामग्री का उपयोग बहुत सावधानी से करना पड़ता है। जैन ग्रन्थ ईसवी पाँचवीं शताब्दी में लिपिबद्ध हुए, इसीलिए परम्परा बहुत पुरातन होने पर भी, वह पालि-त्रिपिटक से दूसरे ही नम्बर पर हैं। पालि-त्रिपिटक ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में लिपिबद्ध हो चुके थे। जो बात ब्राह्मणग्रन्थों के सम्बन्ध में है, वही महायान बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी है।

श्रावस्ती उस समय काशी (आजकल के वाराणसी, मिर्जापुर, जौनपुर, आजमगढ़, गाजीपुर के अधिकांश भाग), और कोसल (वर्तमान अवध) इन दो बड़े और समृद्धिशाली देशों की राजधानी होने से ही ऊँचा स्थान रखती थी। इसके अतिरिक्त बुद्ध के धर्मप्रचार का यह प्रधान केन्द्र था। इसीलिये बौद्ध साहित्य में इसका स्थान और भी ऊँचा है। बुद्ध ने बुद्धत्व प्राप्तकर पैंतालीस वर्ष तक धर्म-प्रचार किया। प्रति वर्ष वर्षा के तीन मास वह किसी एक स्थान पर बिताते थे। उन्होंने अपने पैंतालीस वर्षावासों में से पच्चीस यहीं बिताये। सूत्रों और विनय के अधिक भाग का भी उन्होंने यहीं उपदेश किया। ईसा पूर्व ४८३ वर्ष में बुद्ध का निर्वाण हुआ, यही अधिक विद्वानों को मान्य है। उन्होंने अपना प्रथम [illegible]

फा० २

(ई० पू० ५२७) ऋषिपत्तन-मृगदाव (सारनाथ, बनारस) में बिताया। अट्ठकथा[१] के अनुसार चौदहवाँ, तथा इक्कीसवें से चौंतालीसवें (ई० पू० ५०७-४८२ = वि० सं० पूर्व ४५०-४२५) वर्षावास उन्होंने यहीं बिताये।

श्रावस्ती के नामकरण के विषय में मज्झिमनिकाय के सव्वासवसुत्त (१।१।२) में इस प्रकार पाया जाता है—"सावत्थी (श्रावस्ती)—सवत्थ ऋषि की निवास-वाली नगरी, जैसे काकन्दी-माकन्दी। यह अक्षर-चिन्तकों (=वैयाकरणों) का मत है। अर्थकथाचार्य (भाष्यकार) कहते हैं—जो कुछ भी मनुष्यों के उपभोग परिभोग हैं, सब यहाँ हैं (सब्बं अत्थि) इसलिये इसे सावत्थी (श्रावस्ती) कहते हैं; बंजारों के जुटने पर 'क्या चीज है' पूछने पर "सब है, इस बात से सावत्थी।"[२]

श्रावस्ती कहाँ थी ? "कोसलानं पुरं रम्मं" वचन से ही मालूम हो जाता है, कि वह कोसल देश में थी। पाली ग्रन्थों में कितनी ही जगहों पर श्रावस्ती की दूसरे नगरों से दूरी भी उल्लिखित मिलती है—

---

१. "तथागतो हि पठमबोधियं वीसति वस्सानि अनिबद्धवासो हुत्वा यत्थ यत्थ फासुकं होति तत्थ तत्थेव गन्त्वा'वसि। पथमक अन्तोवस्सं हि....धम्मचक्कं पवत्तेत्वा....वाराणसिं उपनिस्साय इसिपतने वसि....॥ चतुद्दसमं जेतवने पंचदसमं कपिलवत्थुस्मि....। एवं वीसति वस्सानि अनिबद्धवासो हुत्वा, यत्थ यत्थ फासुकं होति तत्थ तत्थेव वसि। ततो पट्ठाय पन द्वे सेनासनानि धुवपरिभोगानि अहोसि। कतरानि द्वे ?—जेतवनञ्च पुब्बारामञ्च।....। उदुवस्सं चारिकं चरित्त्वापि हि अन्तो वस्से द्विसुयेव सेनासनेसु वसति। एवं वसन्तो पन जेतवने रत्तिं वसित्त्वा पुन दिवसे....दक्खिणद्वारेन निक्खमित्त्वा सावत्थिं पिण्डाय पविसित्त्वा पाचीन-द्वारेन निक्खमित्त्वा पुब्बारामे दिवाविहारं करोति। पुब्बारामे रत्तिं वसित्त्वा पुनदिवसे पाचीन-द्वारेन....जेतवने दिवाविहारं करोति।"

—(अङ्गुत्तर० अट्ठकथा, हेवावितारणे ३१४ पृष्ठ)

२. सावत्थीति सवत्थस्स इसिनो निवासट्ठानभूता नगरी, यथा काकन्दी माकन्दी'ति। एवं ताव अक्खरचिंतका। अट्ठ कथाचरिया पन भणन्ति—यं किंच मनुस्सानं उपभोगं परिभोगं सब्बमेत्थ अत्थीति सावत्थी। सत्थसमायोगे च किं भण्डं अत्थीति पुच्छिते सब्बमत्थीति वचनमुपादाय सावत्थी—

सब्बदा सब्बूपकरणं सावत्थियं समोहितं।
तस्मा सब्बमुपादाय सावत्थी'ति पवुच्चति॥
कोसलानं पुरं रम्मं दस्सनेय्यं मनोरमं।
दस हि सद्देहि अविवित्तं अन्नपानसमायुतं॥
बुड्ढि वेपुल्लतं पत्तं इद्धं फीतं मनोरमं।
आलकमन्दाव देवानं सावत्थी पुरमुत्तमं॥

—(मज्झिमनिकाय अ० क० १।१।२)

१२ अंगुल = विदत्थि = (४ गिरह)
२ विदत्थि (बालिश्त) = रतन (हाथ)
७ रतन = १ यट्ठि (लट्ठा) = ($3\frac{1}{2}$ गज)
२० यट्ठि = १ उसभ (ऋसभ) = (७० गज)
८० उसभ = १ गावूत (गव्यूति) = (५६०० गज = ३·१८ मील)
४ गावूत = १ योजन = ($12\frac{8}{11}$ मील)

अभिधर्मकोश[1] में २४ अंगुल = १ हस्त, ४ हस्त = १ धनु (= २ गज), ५०० धनु = १ कोश (= १००० गज), ८ कोश = १ योजन (= ४·४५ मील) है।

श्रावस्ती के इस फासिले को आधुनिक नकशे से मिलाने पर—

	पुरातन		आधुनिक-
	योजन	मील	मील
कपिलवस्तु	१५	१९०·९	६२·४
साकेत	६	७६·३६	५१·२
राजगृह	४५	५७२·७२	२७६·८
तक्षशिला	१९२	२४४३·६२	७२४·८
सुप्पारक	१२०	१७२७·२६	७९६·८
संकाश्य	३०	३८१·८१	१६९·६
चन्द्रभागा नदी	१२०	१७२७·२६	५९०·४

श्रावस्ती और साकेत का मार्ग चालू और फासिला थोड़ा था; इसलिये इसकी दूरी में सन्देह की कम गुंजाइश है। ऊपर के हिसाब से योजन आठ मील के करीब होगा।

श्रावस्ती कहाँ ?--

कोसल देश की राजधानी श्रावस्ती को विद्वानों ने उत्तर प्रदेश के गोंडा जिले का सहेट-महेट निश्चित किया है। उस समय कोसल नाम का दूसरा कोई देश न

---

१. चतुर्विंशतिरंगुल्यो हस्तो, हस्तचतुष्टयम्।
धनुः, पञ्चशतान्येषां क्रोशो,....तेऽष्टौ योजनमित्याहुः,
—(अभिधर्मकोश ३।८८–८)

१—"राजगृह कपिलवस्तु से साठ योजन दूर, और श्रावस्ती पन्द्रह योजन। शास्ता (=बुद्ध) राजगृह से पैंतालीस योजन आकर श्रावस्ती में विहरते थे।"[१]

२—"पुक्कसाती (=पुष्करसाती) नामक कुलपुत्र (तक्षशिला से) आठ कम दो सौ योजन जाकर जेतवन के सदर दरवाजे के पास से जाते हुए।"[२]

३—"मच्छिकासंड में सुधर्म स्थविर क्रुद्ध हो शास्ता के पास (जेतवन) जाकर....। शास्ता ने (कहा) यह बड़ा मानी है; तीस योजन मार्ग जाकर पीछे आवे।"[३]

४—"दारुचीरिय ..सुप्पारक बन्दर के किनारे पहुँचा।....तब उसको देवता ने बताया—हे वाहिक, उत्तर के जनपदों में श्रावस्ती नामक नगर है, वहाँ वह भगवान् विहरते हैं।....(वह) एक सौ बीस योजन का रास्ता एक एक रात वास करते हुये ही गया।"[४]

५—"शास्ता जेतवन से निकलकर क्रमशः अग्गालव विहार पहुँचे। शास्ता ने (सोचा)—जिस कुल-कन्या के हितार्थ तीस योजन मार्ग हम आये।"[५]

६—"श्रावस्ती से संकाश्य नगर तीस योजना।"[६]

---

१. "राजगहं कपिलवत्थुतो दूरं सट्ठि योजनानि, सावत्थी पन पञ्चदस। सत्था राजगहतो पञ्चचत्तालीसयोजनं आगन्त्वा सावत्थियं विहरति।"
—(म० नि० अ० क० १।३।४)

२. "पुक्कसाति नाम कुलपुत्तो (तक्कसलातो) अट्ठ हि ऊनकानि द्वे योजन-सतानि गतो जेतवनद्वारकोट्ठकस्स पन समीपे गच्छन्तो..."
—(मज्झिम नि० अट्ठ० ३।४।१०)

३. "मच्छिकासंडे सुधम्मत्थेरो....कुज्झित्वा सत्थुसंतिकं (जेतवने) गन्त्वा। सत्था....मानत्थद्धो एस तिंसयोजनं ताव मग्गं गंत्वा पच्छागच्छतु"।
—(धम्मपद-अट्ठ० हेवावितारणे पृ० २।५०)

४. "दारुचीरियो....सुप्पारकपत्तनतीरं ओक्कामि।...अथस्स देवता आचि-क्खिअत्थि वाहिय, उत्तरेसु जनपदेसु सावत्थिनाम नगरं तत्थ सो भगवा विहरति। ···(सो) वीसं योजनसतिकं मग्गं एकरत्तिवासेनेव अगमासि।"
—(धम्मपद-अट्ठ० ८।२ उदान अट्ठ० १।१०)

५. "सत्था जेतवना निक्खमित्त्वा अनुपुब्बेन अग्गालवविहारं अगमासि।....। सत्था—यमहं कुलधीतरं निस्साय तिंसयोजनमग्गो आगतो।"
—(धम्मपद-अट्ठ० १३।७,१५।५)

६. "सावत्थितो संकस्सनगरं तिंसयोजनानि"।
—(धम्मपद-अट्ठ० १४।२)

७—"उग्र नगर निवासी उग्र नामक श्रेष्ठि-पुत्र अनाथपिंडक का मित्र था।...छोटी सुभद्रा यहाँ (श्रावस्ती) से एक सौ बीस योजन पर बसती हैं।"[१]

८—"उस क्षण जेतवन से एक सौ बीस योजन पर कुररघर में।"[२]

९—"तीस योजन......(जाकर) अंगुलिमालका।"[३]

१०—"महाकप्पिन एक सौ बीस योजन आगे जा चंद्रभागा नदी के तीर बरगद की जड़ में बैठे।"[४]

११—"साकेत छै योजन।"[५]

ऊपर के उद्धरणों में राजगृह, कपिलवस्तु, तक्षशिला, मच्छिकासंड, सुप्पारक, अग्गालव विहार, संकाश्य, उग्रनगर, कुररधर, अंगुलिमाल से भेंट होने का स्थान, चन्द्रभागा नदी का तीर, तथा साकेत—इन तेरह स्थानों से श्रावस्ती की दूरी मालूम होती है। इन स्थानों में कपिलवस्तु (तिलौरा कोट, नेपालतराई), राजगृह (राजगिर, जिला पटना, बिहार), साकेत (अयोध्या, जि० फैजाबाद, यु० प्रा०), तक्षशिला (शाहजी की ढेरी, जि० रावलपिंडी, पंजाब), सुप्पारक (सुप्पारा, जिला सूरत, बम्बई), संकाश्य (संकिसा, जिला फर्रुखाबाद, यु० प्रा०) तथा चंद्रभागा नदी (चनाब, पंजाब) यह सात स्थान निश्चित हैं।

पाली के शब्दकोश 'अभिधानप्पदीपिका' के अनुसार योजन का मान इस प्रकार है।

"अंगुद्विच्छ विदत्थि, ता दुवे सियुं।—
रतनं; तानि सत्तेव, यट्ठि, ता वीसतूसभं।
गावूतमुसभासीति, योजनं चतुगावुतं।"

---

१. "अनाथपिंडिकस्स···उग्गनगरवासी उग्गो नाम सेट्ठि पुत्तो सहायको।.... चूल सुभद्दा दूरे वसति इतो वीसतियोजनसतमत्थके...."
—(धम्म० अट्ठ० २१।८)

२. "तस्मिं खणे जेतवनतो वीसं योजनसतमत्थके कुररघरे..."
—(धम्म० अट्ठ० २५।७)

३. "तिसयोजनं....अंगुलिमालस्स"।
—(मज्झिम० अट्ठ० १३।४)

४. "महाकप्पिनराजा....।....वीसं योजनसतं पच्चुगत्त्वा चन्द्रभागाय नदियातीरे निग्रोधमूले निसीदि।"
—(धम्मपद अट्ठ० ६।४)

५. महावग्ग, पृष्ठ २८७

१२ अंगुल = विदत्थि = (४ गिरह)
 २ विदत्थि (बालिश्त) = रतन (हाथ)
 ७ रतन = १ यट्ठि (लट्ठा) = (३ १/२ गज)
२० यट्ठि = १ उसभ (ऋसभ) = (७० गज)
८० उसभ = १ गावूत (गव्यूति) = (५६०० गज = ३·१८ मील)
४ गावूत = १ योजन = (१२ ८/११ मील)

अभिधर्मकोश[1] में २४ अंगुल = १ हस्त, ४ हस्त = १ धनु (= २ गज), ५०० धनु = १ कोश (= १००० गज), ८ कोश = १ योजन (= ४·४५ मील) है।

श्रावस्ती के इस फासिले को आधुनिक नकशे से मिलाने पर—

	पुरातन		आधुनिक-मील
	योजन	मील	
कपिलवस्तु	१५	१९०·९	६२·४
साकेत	६	७६·३६	५१·२
राजगृह	४५	५७२·७२	२७६·८
तक्षशिला	१९२	२४४३·६२	७२४·८
सुप्पारक	१२०	१७२७·२६	७९६·८
संकाश्य	३०	३८१·८१	१६९·६
चन्द्रभागा नदी	१२०	१७२७·२६	५९०·४

श्रावस्ती और साकेत का मार्ग चालू और फासिला थोड़ा था; इसलिये इसकी दूरी में सन्देह की कम गुंजाइश है। ऊपर के हिसाब से योजन आठ मील के करीब होगा।

श्रावस्ती कहाँ ?—

कोसल देश की राजधानी श्रावस्ती को विद्वानों ने उत्तर प्रदेश के गोंडा जिले का सहेट-महेट निश्चित किया है। उस समय कोसल नाम का दूसरा कोई देश न

---

१. चतुर्विंशतिरंगुल्यो हस्तो, हस्तचतुष्टयम्।
धनुः, पञ्चशतान्येषां क्रोशो,....तेऽष्टौ योजनमित्याहुः,
—(अभिधर्मकोश ३।८८–८)

था, इसीलिये उत्तर दक्षिण लगाने की आवश्यकता न थी। छठी शताब्दी के (=विक्रम सं० ५५८–६५७) बाद जब मध्यप्रदेश के छत्तीसगढ़ का नाम भी कोसल पड़ा, तो दोनों को अलग करने के लिये, इसे उत्तर कोसल और मध्य-प्रदेशवाले को दक्षिण कोसल या महाकोसल कहा जाने लगा। श्रावस्ती अचिरवती (=रापती) नदी के तीर थी।[१] अचिरवती नगर के समीप ही बहती थी, क्योंकि हम देखते हैं कि नगर की वेश्याएँ और भिक्षुणियाँ यहाँ साधारणतः स्नान करने जाया करती थीं। मज्झिम-निकाय अट्ठकथा[२] में कहा गया है, कि यह नदी बहुत पुरातन (काश्यप बुद्ध) काल में नगर को घेरकर बहती थी। उसने पुब्बकोट्ठक के पास बड़ा दह खोद दिया था। यह दह नहाने का बड़ा ही अच्छा स्थान था। यह स्थान सम्भवतः महेट के पूर्वोत्तर कोने पर था। इस दह के समीप तथा अचिरवती[३] के किनारे ही राजमहल था। लेकिन साथ ही सुत्तनिपात की अट्ठकथा[४] से पता लगता है कि अचिरवती के किनारेवाले जौ के खेत जेतवन और श्रावस्ती के बीच में पड़ते थे। इसका मतलब यह है कि अचिरवती उस समय या तो जेतवन और श्रावस्ती के पश्चिम ओर होती हुई बहती थी, अथवा पूर्व की ओर। लेकिन पूर्व मानने पर, उसका राजमहल के (जो कि नौशहरा दर्वाजा के पूर्व तरफ था) के पास से जाना संभव नहीं हो सकता। इसलिये उसका श्रावस्ती

---

१. "इध भन्ते भिक्खुनियो अचिरवतिया नदिया वेसियाहि सद्धिं नग्गा एकतित्थे नहायन्ति।....अनुजानामि ते विसाखे अट्ठवरानीति।...."

—(महावग्ग चीवरक्खन्धे, ३२७)

२. कस्सपदसबलस्स काले अचिरवती नगरं परिक्खिपित्वा सन्दमाना पुब्बकोट्ठकं पत्त्वा उदकेन भिन्दित्त्वा महन्तं उदकदहं मापेसि, समतित्थं अनुपुब्ब-गम्भीरं।"

—(म० नि० १।३।६; अ० क० ३७१)

३. "....राजा पसेनदी कोसलो मल्लिकाय देविया सद्धिं उपरि पासाद-वरगतो होति। अद्दसा खो राजा पसेनदि....तेरसवग्गिये भिक्खू अचिरवतिया नदिया उदके कीलन्ते।...."

—(पाचित्ति; अचेलकवग्ग पृ० १२७)

४. "भगवति किर सावत्थियं विहरन्ते अञ्ञतरो ब्राह्मणो सावत्थिया जेतवनस्स च अन्तरे अचिरवतीनदीतीरे यवं वपिस्सामीति खेत्तं कसति।....तस्स अज्ज वा स्वे वा लायिस्सामीति उस्सुक्कं कुरुमानस्सेव महामेघो उट्ठहित्वा सब्बरत्तिं वस्सि। अचिरवती नदी पूरा आगन्त्वा सब्बं यवं वहि।"

—(सुत्त० नि० ४।१, अ० क० ४१९)

और जेतवन के पश्चिम होकर राजगढ़ दर्वाजे से होते हुए, वर्तमान नौखान में होकर बहना अधिक सम्भव मालूम होता है। यह बात यद्यपि पाली उद्धरण के अनुसार ठीक जँचेगी; किन्तु भूमि को देखने से इसमें सन्देह मालूम होता है। क्योंकि जेतवन और श्रावस्ती के पश्चिमी भाग में कोई ऐसा चिह्न नहीं है, जिससे कहा जाय कि यहाँ कभी नदी बहती थी। साथ ही पुरैना और अमहा तालों के अति पुरातन स्तूपावशेष भी इसके लिये बाधक हैं। रामगढ़ दर्वाजे के पास की भूमि में भी ऐसी शक्ति नहीं है, जो अचिरवती ऐसी पहाड़ी नदी की तेज धार के ऐसे जल्दी के घुमाव को सह सके। मालूम होता है, मूल परम्परा में ब्राह्मण के जौ के खेत का अचिरवती की बाढ़ से नष्ट होना वर्णित था। जिसके लिये खेतों का अचिरवती के किनारे होना कोई आवश्यक नहीं। हो सकता है, सिंगिया नाला की तरह का कोई नाला जेतवन और श्रावस्ती के पश्चिम भाग में रहा होगा, या उसके बिना भी जौ के खेत का अचिरवती की बाढ़ से नष्ट होना बिलकुल संभव है। अचिरवती की बाढ़ से नष्ट होने से ही, खेतों को पीछे अचिरवती के किनारे, समझ लिया गया। यह परिवर्तन सम्भवतः मूल सिंहाली अट्ठकथा ही में हुआ, जिसके आधार पर बुद्धघोष ने, अपनी अट्ठकथाएँ लिखीं। अचिरवती का श्रावस्ती के उत्तर और पूर्व-पश्चिम बहने का एक और भी प्रमाण हमें मज्झिमनिकाय[१] से मिलता है। आनन्द श्रावस्ती में भिक्षा करके पूर्वाराम को जा रहे थे; उसी समय राजा प्रसेनजित् भी अपने हाथी पर सवार हो नगर से बाहर निकला। राजा ने पूर्वद्वार (काँदभारी दर्वाजा) से बाहर पूर्वद्वार और पूर्वाराम के बीच में कहीं पर आनन्द को देखा। राजा ने उस जगह से अचिरवती के किनारे पर आनन्द को चलने की प्रार्थना की। सम्भवतः उस समय अचिरवती सहेट के उत्तरी किनारे से

---

१. "आयस्मा आनन्दो पुब्बण्हसमयं....सावत्थियं पिण्डाय चरित्वा...येन पुब्बारामो...तेन उपसंकमि...। तेन खो पन समयेन राजा पसेनदि कोसलो एकपुण्डरीकं नागं अभिरुहित्वा सावत्थिया निय्यासि दिवादिवस्स। अद्दसा खो राजा....दूरतो'व आगच्छन्तं।....येनायस्मा आनन्दो तेनु'पसंकमि।....एतदवोच—स चे भन्ते,...न किञ्चि अच्चायिकं करणीयं; साधु,....येन अचिरवतिया नदिया तीरं तेनुपसंकमतु अनुकम्पं उपादाया'ति।....अथ खो...आनन्दो येन अचिरवतिया नदिया तीरं तेनु'पसंकमि, उपसङ्कमित्वा अञ्ञतरस्मि रुक्खमले पञ्ञत्ते आसने निसीदि।....अयं भन्ते, अचिरवती नदी दिट्ठा आयस्मता चेव....अम्हेहि च, यदा उपरि पब्बते महामेघो अभिप्पवाहेति, अथायं अचिरवती नदी उभतो कलानि संविस्सन्दन्ती गच्छति।"

—(म० नि० २।४८)

लगी हुई बहती थी। कच्ची कुटी के पास का स्तूप सम्भवतः अनाथपिण्डक के घर को बतलाता है। अनाथपिण्डक का घर अचिरवती के पास था; शायद इसीलिये हम जातकट्ठकथा[१] में देखते हैं, कि अनाथपिण्डक का बहुत सा भूमि में गड़ा हुआ धन, अचिरवती के किनारे के टूट जाने से बह गया।

श्रावस्ती (१) अचिरवती के किनारे थी, (२) कोसल देश में साकेत (अयोध्या) से ६ योजन पर थी; तथा खुद्दकनिकाय के पेतवत्थु[२] के अनुसार (३) हिमालय वहाँ से दिखलाई पड़ता था। यहाँ 'हिमवान् को देखते हुए' शब्द आया है; जिससे साफ है कि श्रावस्ती हिमालय की जड़ में न होकर वहाँ से कुछ फासिले पर थी, जहाँ से कि हिमालय की चोटियाँ दिखलायी पड़ती थीं। महेट से हिमालय चौबीस ही मील दूर है, और खूब दिखलाई पड़ता है।

श्रावस्ती नगर

श्रावस्ती की जनसंख्या[३] अट्ठकथाओं में सात कोटि लिखी है, जिसका अर्थ हम यही लगा सकते हैं, कि वह एक बड़ा नगर था। यह बात तो कोसल जैसे बड़े शक्तिशाली राज्य की पुरानी राजधानी होने से भी मालूम हो सकती है। महापरिनिर्वाण सूत्र[४] में, जहाँ पर आनन्द ने बुद्ध से कुशीनगर छोड़कर किसी बड़े नगर में शरीर छोड़ने की प्रार्थना की है वहाँ बड़े नगरों की एक सूची दी है। इस सूची में श्रावस्ती का उल्लेख है। इससे भी यह स्पष्ट है। निवासियों में पाँच करोड़ लोग बौद्ध थे, इसका मतलब भी यही है कि श्रावस्ती के अधिवासियों की अधिक संख्या बौद्ध थी। और यह इससे भी मालूम हो सकता है कि बुद्ध के उपदेश का यह एक केन्द्र रहा।

---

१. "अचिरवतीनदी तीरे निहितधनं नदीकूले भिन्ने समुद्दं पविट्ठं अत्थि।"
—(जातक १।४।१०)

२. "सावत्थि नाम नगरं हिमवन्तस्स पस्सतो।" (पेतवत्थु० ४।६)।

३. 'तदा सावत्थियं सत्तमनुस्सकोटियो वसन्ति। तेसु सत्थुधम्मकथं सुत्वा पञ्चकोटिमत्ता मनुस्सा अरियसावका जाता, द्वे कोटिमत्ता पुथुज्जना"
—(ध० प० १।१, अ० क० ३)

४. "मा भन्ते भगवा इमस्मिं कुड्डनगरके उज्जंगलनगरके साखनगरके परिनिब्बायतु। सन्ति भन्ते अञ्ञानि महानगरानि, सेय्यथीदं चम्पा, राजगहं, सावत्थी, साकेतं, कोसम्बी, वाराणसी ..."
—(दी० नि० २।३।१३)

उस समय मकानों के बनाने में लकड़ी का ही अधिकतर उपयोग होता था। इमारतें प्रायः सभी लकड़ी की थीं। यद्यपि श्रावस्ती के बारे में खास तौर से नहीं आया है, तो भी राजगृह के वर्णन से हम समझ सकते हैं कि शहरों के चारों तरफ के प्राकार भी लकड़ी के ही बनते थे। पाराजिक[1] (विनय-पिटक) में यह बात स्पष्ट है। मेगस्थनीज ने भी पाटलिपुत्र के चारों ओर लकड़ी का ही प्राकार देखा था। (उस समय जब चारों ओर जंगल ही जंगल था, लकड़ी की इफ़ात थी) लकड़ी का प्राकार उस धनुष बाण के ज़माने के लिए उपयुक्त था, इसीलिये हम पुराने पाटलिपुत्र को भी लकड़ी के प्राकार से ही घिरा पाते हैं। बुलन्दी बाग की खुदाई में इसके कुछ भाग भी मिले हैं।

श्रावस्ती में मुख्यतः चार[2] दर्वाजे थे, जिनमें तीन तो उत्तर[3], पूर्व और दक्षिण दर्वाजों के नाम से प्रसिद्ध थे। इनमें से जेतवन से नगरों में आने का दर्वाजा दक्षिण द्वार था। पूर्व्वाराम पूरब दर्वाजे[4] के सामने था। इन्हीं तीन द्वारों का वर्णन अधिकतर मिलता है। पश्चिम द्वार का होना भी यद्यपि स्वाभाविक है तथापि इसका वर्णन त्रिपिटक या अट्ठकथा में नहीं देखने में आता। अट्ठकथा से पता लगता है कि उत्तर द्वार के बाहर एक गाँव बसता था, जिसका नाम 'उत्तरद्वारगाम' था। यह 'उत्तर[5] द्वारगाम' नगर के प्राकार तथा नदी के मध्य की भूमि में झोपड़ियों का एक छोटा गाँव होगा।

---

१. "अत्थि भन्ते, देवगहदारूनि नगरपटिसंखारिकानि आपदत्थाय निक्खित्तानि। स चे तानि राजा दापेति, हरापेथ।"

—(द्वितीय पराजिका)

२. "जेतवने रत्तिं वसित्वा पुनदिवसे····दक्खिणद्वारेन सावत्थिं पिण्डाय पविसित्वा पाचीन-द्वारेन निक्खमित्वा पुब्बारामे दिवाविहारं करोति।"

—(मनि० ९।३।६, अ० क० ३६९)

३. "पाचीनद्वारे सङ्घस्स वसनट्ठानं कातुं ते युत्तं विसाखे'ति।"

—(धम्मपद प० ४।८ अ० क० १९९)

४. "पकतियापि सत्था विसाखाय गेहे भिक्खं गण्हित्वा दक्खिणद्वारेन निक्खमित्वा जेतवने वसति। अनाथपिण्डकस्स गेहे भिक्खं गहेत्वा पाचीनद्वारेन निक्खमित्वा पुब्बारामे वसति। उत्तरद्वारं सन्धाय गच्छन्तञ्ञेव भगवन्तं दिस्वा चारिकं पक्कमिस्सती'ति जानन्ति।"

—(ध० प० ४।८, अ० क० २००)

५. "एकदिवसं हि भिक्खू सावत्थियं उत्तरद्वारगामे पिण्डाय चरित्वा...नगर-

विमानवत्थु[१] तथा उदान[२]-अटठ्कथा में 'केवटद्वार' नामक एक और द्वार का वर्णन किया गया है, जिसके बाहर केवटों (मल्लाहों) का गाँव बसा था। उस समय व्यापार के लिये नदियों का महत्त्व अधिक था। अतः केवटगाँव का एक बड़ा गाँव होना स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार हमको पिटक और उसकी अट्ठकथाओं से उत्तर, पूर्व, दक्षिण द्वार, तथा केवट्ट-द्वार इन चार दर्वाजों का पता लगता है। 'सहेट' के ध्वंसावशेष तथा उसके दर्वाजों का विस्तृत वर्णन डाक्टर फोगल ने १९०७-८ के पुरातत्त्व-विभाग के विवरण में विस्तारपूर्वक किया है। वहाँ, उन्होंने महेट (श्रावस्ती) का घेरा १७,२५० फीट या ३¼ मील से कुछ अधिक लिखा है। यद्यपि श्रावस्ती नगर ईसा की बारहवीं शताब्दी में मुसलमानों द्वारा वीरान किया गया और इसीलिये ईसा पूर्व छठी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के बीच की अठारह शताब्दियों में हेर-फेर होना बहुत स्वाभाविक है; तथापि इतना हम कह सकते हैं कि कोसल-राज्य के पतन (प्रायः ईसा पूर्व ४ या ५ शताब्दी) के बाद फिर उसे किसी बड़े राज्य की राजधानी बनने का मौका न मिला। पाँचवीं शताब्दी के आरम्भ में फाहियान ने भी इसे दो सौ घरों का गाँव देखा थे। युन्-च्वेङ् ने भी इसे उजाड़ देखा। इसलिये इतना कहा जा सकता है कि श्रावस्ती की सीमा-वृद्धि का कभी मौका नहीं आया; और वर्तमान 'महेट' का १७,२५० फीट का घेरा श्रावस्ती की पुरानी सीमा को बढ़ाकर नहीं सूचित करता है।

श्रावस्ती भारत के बहुत ही पुराने नगरों में से है, इसलिये उसके भीतर नियमपूर्वक खुदाई होने से अवश्य हमें बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री हाथ लगेगी। हम पटना में मौर्यों का तल, वर्तमान धरातल से १७ फुट नीचे पाते हैं। श्रावस्ती में भी बुद्धकालीन सामग्री के लिये हमें उतना नीचे जाना पड़ेगा। डाक्टर

मज्झेन विहारं आगच्छन्ति। तस्मिन् खणे मेघो उट्ठाय पावस्सि। ते सम्मुखागतं विनिच्छयसालं पविसित्वा, विनिच्छयमहामत्ते लञ्छं गहेत्वा सामिके असामिके करोन्ते दिस्वा, अहो इमे अधम्मिका....''

—(ध० प० १९।१, अ० क० ५२९)

१. ''केवट्टद्वारा निक्खम्म अहु मय्हं निवेसनं।''

—(वि० व० २:२)

२. ''सावत्थिनगरद्वारे केवट्टगामे....पञ्चकुलसतजेट्ठकस्स केवट्टस्स पुत्तो.... यसोजो....।''

—(उदान० ३।३, अ० क० ११९)

फोगल ने प्राकारों के अनेक स्थानों पर ईंटें पाई हैं, जो तल और लम्बाई-चौड़ाई के विचार से ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से ईस्वी दशवीं शताब्दी तक की मालूम होती हैं। महेट के प्राकार में जहाँ कहीं भी जमीन कुछ नीची जान पड़ती है, लोग उसे दर्वाजा कहते हैं, और ये आसपास के किसी वृक्ष या गाँव के नाम से मशहूर हैं। ऐसे दर्वाजे अट्ठाइस के करीब हैं। डाक्टर फोगल ने इनकी परीक्षा करके इनमें से ग्यारह को ही दर्वाजा माना है, जिनमें उत्तर तरफ एक, पूर्व तरफ एक, दक्षिण तरफ चार और पश्चिम तरफ पाँच हैं। इनमें से कौन त्रिपिटक और अट्ठकथा में वर्णित चारों दर्वाजे हो सकते हैं, इस पर जरा विचार करना है।

उत्तर द्वार

ऊपर के उद्धरण से मालूम होता है कि जब बुद्ध उत्तर दर्वाजे की तरफ जाते थे तो लोग समझ लेते थे कि अब वे विचरण के लिए जा रहे हैं। इतना ही नहीं, वहाँ[१] ही हम भद्दिय के लिये प्रस्थान करते हुए उन्हें उत्तर द्वार की ओर जाते हुए देखते हैं पर 'भद्दिया' अंगदेश में (गंगा के तट पर मुँगेर के आस-पास) एक प्रसिद्ध व्यापारी नगर था। श्रावस्ती से पूर्व की ओर जानेवाला मार्ग उत्तर द्वार से था। इसके बाहर अचिरवती[२] में काठ की डोंगियों का पुल रहता था। इससे पार होकर पूर्व का रास्ता था। उत्तर तरफ के दर्वाजों में सिर्फ नौसहरा[३] ही एक दर्वाजा है, जिसे डाक्टर फोगल के अन्वेषण ने पुराना दर्वाजा सिद्ध किया है। बाजार-दर्वाजे से, जिसे हम दक्षिण दर्वाजा सिद्ध करेंगे, कच्ची कुटी तक चौड़ी सड़क का निशान अब भी स्पष्ट मालूम होता है। यही नगर की सर्वप्रधान सड़क थी। दक्षिण दर्वाजे का बाजार-दर्वाजा नाम भी सम्भवतः कुछ

---

१. "अथेकदिवसं सत्था....भद्दियनगरे...भद्दियस्स नाम सेट्ठिपुत्तस्स उपनिस्सयसम्पत्तिं दिस्वा....उत्तरद्वाराभिमुखो अहोसि।"

—(ध० प० ४।८, अ० क० २८०)

२. "तेन खो पन समयेन मनुस्सा उलुम्पं बन्धित्वा अचिरवतिया नदिया ओसादेन्ति। बन्धने छिन्ने कट्ठानि विप्पकिण्णानि अगमंसु।"

—(पाराजिक २। पृ० ६८)

३. "Along the river face,........only one........Nausahra Darwaza........has proved to be one of the original City-gates."

अर्थ रखता है। कच्ची कुटी के पास से एक रास्ता नौसहरा-दर्वाजे को भी जाता है। नौसहरा-दर्वाजा ही श्रावस्ती का उत्तर द्वार है, जिसके बाहर एक गाँव बसा हुआ था। सड़क के किनारे वाले भाग पर कहीं राजकचहरी थी, जिसमें वर्षा से बचने के लिये भिक्षु चले गये थे, और वहाँ उन्होंने जजों को घूस लेकर मालिकों को बेमालिक बनाते देखा।

पूर्व दर्वाजा

यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण दर्वाजा था। इसके ही बाहर पूर्वाराम था। पूर्वाराम बहुत ही प्रसिद्ध स्थान था, इसलिये उस जगह स्तूप आदि के ध्वंस अवश्य मिलने चाहियें। गंगापुर-दर्वाजे को ही डाक्टर फोगल ने पूर्व तरफ में वास्तविक दर्वाजा माना है। इसके अतिरिक्त काँदभारी-दर्वाजा भी पूर्व-दक्षिण कोने पर है, जिसे भी पूर्व ओर लिया जा सकता है, लेकिन (१) हमने ऊपर देख लिया है कि आनन्द को राजा प्रसेनजित् ने पूर्व दर्वाजे के बाहर देखा था, जहाँ से अचिरवती बिलकुल पास थी। काँदभारी के स्वीकार करने से वह दूर पड़ जायगी। (२) भगवान् बुद्ध सदा ही दक्षिण दर्वाजे से नगर में प्रवेश कर, फिर पूर्व दर्वाजे से निकल कर पूर्वाराम जाते देखे जाते हैं। यदि काँदभारी-दर्वाजा पूर्व दर्वाजा होता, तो जेतवन से बाहर ही बाहर पूर्वाराम जाया जा सकता था, जिसका कहीं जिक्र नहीं है। (३) पुब्बकोट्ठक[१] जो कि अचिरवती के पास था, वह पूर्वाराम के भी पास था, क्योंकि भगवान् सायंकाल को स्नान के लिये वहाँ जाते हैं। पास में रम्यक ब्राह्मण के आश्रम में व्याख्यान भी देते हैं, और फिर पूर्वाराम लौट भी आते हैं।

लेकिन इसके विरुद्ध सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि गंगापुर-दर्वाजे के बाहर आस-पास कोई ऐसा ध्वंसावशेष डाक्टर फोगल के नकशे में नहीं दिखाई पड़ता। साथ ही काँदभारी-दर्वाजे के बाहर ही हम हनुमनवाँ के ध्वंसावशेष को

---

१. पिंडपातपटिक्कन्तो....येन पुब्बारामो तेनुपसङ्कमि।....सायन्हसमयं पटिसल्लाणा वुट्ठितो....येन पुब्बकोट्ठको....गत्तानिपरिसिञ्चतुं....। अथ.... आनन्दो अयं भन्ते, रम्मकस्स ब्राह्मणस्स अस्समो अविदूरे,....साधु भन्ते.... उपसंकमतु अनुकम्पं उपादायाति।....भगवा....अस्समं पविसित्वा....भिक्ख.... आमन्तेसि।"

—(म० नि० १।३।६)

देखते हैं। स्थान को देखने पर काँदभारी-दर्वाजा ही पूर्व दर्वाजा, तथा हनुमनवाँ पूर्वाराम मालूम होता है।

दक्षिण द्वार

दक्षिण द्वार नगर का एक प्रधान द्वार था। जेतवन जाने का यही रास्ता था। दर्वाजे और जेतवन के बीच में अक्सर राजकीय सेनाएँ[1] पड़ाव डालती थीं। कारवाँ[2] भी इसी बीच की भूमि में ठहरते थे। यही दर्वाजा साकेत (अयोध्या) जाने का भी था। दक्षिण द्वार और जेतवन[3] के मध्य में एक जलाशय का वर्णन मिलता है। तमाशे[4] के लिये भी यही जगह निश्चित थी। श्वेताम्बी कपिलवस्तु के रास्ते में थी, इसलिये वहाँ से श्रावस्ती आने में उत्तर द्वार के सामने नदी उतरना पड़ता था; फिर गाड़ियों का नगर के दक्षिण में ठहरना बतलाता है कि श्रावस्ती और जेतवन के बीच की भूमि में खुली जगह थी, जो पड़ाव के लिये सुरक्षित थी। वैतारा ताल तथा और भी कुछ नीची भूमि, सम्भवतः पुराने जलाशयों को सूचित करती है। सवाल यह है कि कौन सा प्रसिद्ध दक्षिण द्वार है, जिससे जेतवन में आना-जाना होता था। डाक्टर फोगल के अनुसार गेलही-दर्वाजा ही वह हो सकता है, क्योंकि यह दर्वाजा सब से नजदीक है। किन्तु उसके दर्वाजा न होने में एक बड़ी भारी रुकावट यह है

---

१. "एकस्मिं समये वस्सकाले कोसलरञ्ञो पच्चन्तो कुप्पि।....। राजा अकाले वस्सन्ते येव निक्खमित्वा जेतवनसमीपे खन्धावारं बन्धित्वा चिन्तेसि"।
—(जा० १७६, पृ० ४२९)

२. सेतव्यवासिनो हि....भातरो कुटुम्बिका....अथेकस्मिं समये ते उभोपि भातरो पञ्चहि सकटसतेहि नाना भण्डं गहेत्वा सावत्थिं गन्त्वा सावत्थिया च जेतवनस्य च अन्तरे सकटानि मोचयिंसु।"
—(ध. प. १.६ अ. क. ३३)

३. "तेन खो पन समयेन सम्बहुला कुमारका अन्तरा च सावत्थिं अन्तरा च जेतवनं मच्छके बाधेन्ति।....भगवा पुब्बण्हसमयं....सावत्थियं पिंडाय पाविसि।........उपसंकमित्वा—भायथ तुम्हे कुमारका दुक्खस्स" (मग्गसमीपे तलाके निदाघकाले उदके परिक्खीणे....।)
—(उदान० ५।४, पृ० १९६)

४. .... (चन्दाभत्थेरो, सहायको च) .... एवं अनुविचरन्ता सावत्थियं अनुप्पत्ता नगरस्स च बिहारस्स च अन्तरा वासं गण्हिंसु।"
—(ध० प० २६।३०, अ० क० ६७०)

कि जेतवन का दर्वाजा पूर्वमुख था। यदि गेलही-दर्वाजा उस समय दर्वाजा होता, तो उसके लिये जेतवन का दर्वाजा उत्तरमुँह का बनाना पड़ता। यद्यपि चीनी यात्री के अनुसार एक दर्वाजा उत्तर को था, किन्तु पाली ग्रन्थों में उसका कुछ भी पता नहीं है। इस प्रकार दक्षिण द्वार वैतारा और बाजार-दर्वाजा दोनों ही में से कोई हो सकता है। पाली ग्रन्थों में जेतवन श्रावस्ती (दक्षिण द्वार) से न बहुत दूर था न बहुत समीप, यही मिलता है। गेलही-दर्वाजे से जेतवन १३८६ फीट या चौथाई मील से कुछ अधिक है। अट्ठकथा से मालूम होता है कि लोग जेतवन जाते वक्त नगर की बड़ी सड़क[१] से जाते थे। दूसरी जगह हम देखते है कि श्रावस्ती जाने वाली सड़क जेतवन से पूर्व होकर जाती थी। इन सारी बातों पर विचार करने से गेलही-दर्वाजा दक्षिण द्वार नहीं, बाजार-दर्वाजा ही हो सकता है क्योंकि इससे जेतवन के पूर्वमुख होने की भी जगह मालूम हो सकती है। बाजार-दर्वाजा दक्षिण द्वार होने के लायक है, इसके बारे में डाक्टर फोगल लिखते हैं[२]—"यह १२ फुट चौड़ा मार्ग एक ऐसे बड़े मार्ग पर आकर समाप्त होता है जो सीधे उत्तर की ओर जाकर 'कच्ची कुटी' के भग्नावशेष के दक्षिण-पूर्व में स्थित एक मैदान में मिल जाता है। बाजार-दर्वाजा वस्तुतः किसी पुराने नगर-द्वार के ही स्थान पर है ऐसा मानने के लिये सबल कारण है क्योंकि यहीं से एक बड़ी सड़क या बाजार का आरम्भ होता है।"

इस प्रकार बाजार-दर्वाजा एक पुराना दर्वाजा सिद्ध होता है, तथा उसकी सड़क उपरोक्त महावीथी होने लायक है। इसके विरुद्ध वैतारा-दर्वाजे के बारे में डा० फोगल का कहना है कि इमारतों के ध्वंसावशेष की अनुपस्थिति में इस स्थान पर किसी फाटक के अस्तित्व का सिद्ध करना असम्भव है। इस तरह वैतारा-दर्वाजे के दर्वाजा होने में भी सन्देह है। तिन्दुकाचीर मल्लिकाराम[३] दक्षिण

---

१. "सो एक दिवसम्हि पासादवरगतो सिहपञ्जरं उग्घाटेत्वा महावीथियं ओलोकेन्तो गन्धमालादिहत्थं महाजनं धम्मसवनत्थाय जेतवनं गच्छन्तं दिस्वा........"

—(सुवण्णसामजातक ५३९)

२. Archaeological Report, 1907-8.

३. "भगवा.......जेतवने....। पोट्ठपादो परिब्बाजको समयप्पवादके, तिन्दुकाचीरे एकसालके मल्लिकाय आरामे पटिवसति...... सद्धिं तिसमत्तेहि परि-

द्वार के पास था। बाजार-दर्वाजे से प्रायः दो सौ गज पूर्व तरफ अब भी एक ध्वंसावशेष है; इस पर एक छोटा सा मन्दिर चीरेनाथ के नाम से विख्यात है। क्या इस चीरेनाथ का 'तिन्दुकाचीरे' के चीरे से तो कोई सम्बन्ध नहीं है? इस प्रकार बाजार-दर्वाजा ही दक्षिण द्वार मालूम होता है; जहाँ से जेतवन द्वार ३७०० फीट पड़ेगा, जो कि गेलही-दर्वाजे (१३८६') की अपेक्षा अधिक तथा युन्-च्वेङ के ५,६ (फाहियान–६,७) ली के समीप है।

केवट्टद्वार

केवटद्वार के बारे में हम सिर्फ इतना ही जानते हैं कि उसके बाहर पाँच सौ घर मल्लाहों का एक गाँव (केवट्ट गाम) बसता था। मल्लाहों का गाँव नदी के समीप होना आवश्यक है। अचिरवती की तरफ नगर का प्रधान द्वार उत्तर-द्वार था। उत्तर-द्वार का ही दूसरा नाम केवट्टद्वार था, इसके मानने के लिये हमें कोई कारण नहीं मिलता। तब यह दर्वाजा सम्भवतः राजगढ़ दर्वाजा था, जो कि महेट के पूर्व-उत्तर कोने पर नदी के समीप पड़ता है।

श्रावस्ती नगर के भीतर की वस्तुओं में राजकाराम, राजप्रासाद, अनाथ-पिंडक और विशाखा के घर, राजकचहरी, बाजार यह मुख्य स्थान हैं; जिनका थोड़ा बहुत वर्णन हमें अट्ठकथाओं और त्रिपिटक से मिलता है।

राजकाराम

यह भिक्षुणियों का आराम था। इसके बनाने के बारे में धम्मपद अट्ठकथा[१] में इस प्रकार कहा गया है—"बौद्ध भिक्षुणियों में सर्वश्रेष्ठ उत्पलवर्णा एक

ब्बाजकसतेहि। भगवा......सावत्थिं पिण्डाय पाविसि।.......अतिप्पगो खो ताव,...... पिण्डाय चरितुं, यन्नुनाहं.......येन पोट्ठपादो परिब्बाजको तेनुपसंकमेय्यन्ति।"

—(दी० नि० १।९)

"नगरद्वारसमीपं गन्त्वा अत्तनो रुचिवसेन सुरियं ओलोकेत्वा...."

—(अ० क० २३९)

१. "उप्पलवण्णा........जनपदचारिकं चरित्वा पच्चागता अन्धवनं पाविसि। तदा भिक्खुणीनं अरञ्ञावासो अपटिक्खित्तो होति। अथ'स्सा तत्थ कुटिकं कत्वा मञ्चकं पञ्ञापेत्वा साणिया परिक्खिपिंसु।.......मातुलपुत्तो पनस्सा नन्द-

समय चारिका के बाद अन्धवन में वास कर रही थी। उस समय तक भिक्षुणियों के लिये अरण्यवास निषिद्ध नहीं ठहराया गया था।........उत्पलवर्णा पर आसक्त उसके मामा के लड़के नन्द ने उस पर बलात्कार किया। भगवान् ने इस पर राजा प्रसेनजित् से नगर के भीतर भिक्षुणी संघ के लिये निवास-स्थान बनाने को कहा। राजा ने नगर में एक तरफ आराम बनवा दिया। इसके बाद भिक्षुणियाँ नगर के भीतर ही वास करती थीं।" मज्झिमनिकाय में—"महाप्रजापती गौतमी ने पाँच सौ भिक्षुणियों की जमात के साथ जेतवन[१] में जाकर भगवान् से भिक्षुणियों को उपदेश देने के लिये प्रार्थना की। भगवान् ने इस पर आयुष्मान् नन्दक को उपदेश देने के लिये राजकाराम भेजा। अट्ठकथा[२] में राजकाराम के बारे में इस प्रकार लिखा है—'राजा प्रसेनजित् का बनवाया, नगर के दक्षिण कोण में (अनुराधपुर के) थूपाराम के समान स्थान पर विहार।' इस आराम का नगर के दक्षिणी किनारे पर होना स्पष्ट है। साथ ही यह दक्षिण द्वार से बहुत दूर नहीं था, क्योंकि हम आनन्द को भिक्षुणियों के आश्रम में जाकर उन्हें उपदेश देकर, पीछे पिण्डपात के लिये जाते देखते हैं।[३]

माणवो......अभिभवित्वा अत्तना पत्थितकम्मं कत्वा पायासि।.......सो पठविं पविट्ठो।........सत्था पन राजानं पसेनदिकोसलं पक्कोसापेत्वा.. ....भिक्खुणी-सङ्घस्स अन्तोनगरे वसनट्ठानं कातुं वट्टतीति। राजा.... नगरस्स एकपस्से भिक्खुणीसंघस्स वसन'ट्ठानं कारापेसि। ततो पट्ठाय भिक्खुनियो अन्तो गामे एव वसन्ति।"

—(ध० प० ५।१०, अ० क० २३७–२३९)

१. "जेतवने......महापजापती गोतमी पञ्चमत्तेहि भिक्खुनीसतेहि सद्धिं...... उपसङ्कमित्वा........अवोच—ओवदतु भन्ते भगवा, भिक्खुनियो..........। भगवा आयस्मन्तं नन्दकं आमन्तेसि—ओवद नन्दक, भिक्खुनियो।........। अथ .... नन्दको........येन राजकारामो तेनु'पसंकमि।"

—(म० नि० ३।५।४)

२. "पसेनदिना कारितो नगरस्य दक्खिणानुदिसाभागे थूपारामसदिसो ठाने विहारो........।"

—(अ० क० १०२१)

३. आयस्मा आनन्दो पुब्बण्हसमयं..........येन'ञ्ञातरो भिक्खुन'पस्सयो तेनु'पसंकमि।.........भिक्खुनियो धम्मिया कथाय सन्दस्सेत्वा........उट्ठायासना पक्कामि.........सावत्थियं पिण्डाय।

—(स० नि० ४६।१।१०)

अब हमें यह देखना है कि राजकाराम बाजार-दर्वाजे से किधर हो सकता है। नक्शे के देखने से मालूम होगा कि वैतारा-दर्वाजे से इमली-दर्वाजे तक प्राकार की जड़ में, नगर के भीतर की तरफ मन्दिरों की जगह है। इसमें पश्चिम का भाग जैन मन्दिरों द्वारा भरा हुआ है और पूर्वीय भाग ब्राह्मण मन्दिरों द्वारा। मालूम होता है ब्राह्मण मन्दिर के पूर्व, प्राकार से सटा ही, राजकाराम था, जिसमें महाप्रजापती गौतमी अपनी भिक्षुणियों के साथ रहा करती थीं। युन्-च्वेङ ने राजा प्रसेनजित् के बनवाये हाल, और प्रजापती भिक्षुणी के विहार का अलग अलग वर्णन किया है; किन्तु पाली ग्रन्थों में नगर के भीतर राजा प्रसेनजित् द्वारा बनवाया भिक्षुणियों का आराम ही आता है, जिसे राजकाराम कहते थे।

अनाथपिण्डक का घर

इसमें सन्देह नहीं कि बाजार-दर्वाजे से उत्तर-दक्षिण जानेवाली सड़क श्रावस्ती की महावीथी (सबसे बड़ी सड़क) थी। यह विस्तृत सड़क सीधी नगर के उत्तरी भाग तक चली गई है। झाड़ियों से रहित इस मार्ग की अगल-बगल की सीमाएँ अब तक स्पष्ट हैं। नगर का बाजार और बड़े-बड़े धनिकों का घर इसी के किनारे पर होना भी स्वाभाविक है। इस प्रकार अनाथपिंडक के घर को भी इसी के किनारे ढूँढ़ना पड़ेगा। धम्मपद-अट्ठकथा से मालूम होता है कि अनाथपिंडक[1] का घर ऐसे भाग पर था, जहाँ से पूर्व और उत्तर दर्वाजों को रास्ता अलग होता था। अनाथपिंडक के घर से ही उत्तर दर्वाजे[2] की तरफ होने को, विशाखा तभी जान सकती थी, जब कि वहाँ से सीधा रास्ता उत्तर दर्वाजे को गया हो। ऐसा स्थान कच्ची कुटी ही है; जो महावीथी के उस स्थान

---

१. "घरं सत्तभूमकं सत्तद्वारकोट्ठकपतिमण्डितं, तस्स चतुत्थे द्वारकोट्ठके एका देवता......।

—(जातक० १, पृ० १९७)

२. "अनाथपिंडिकस्स गेहे भत्तकिच्चं कत्वा, उत्तरद्वाराभिमुखो अहोसि। पकतियापि सत्था विसाखाय गेहे भिक्खं गण्हित्वा दक्खिणद्वारेन निक्खमित्वा जेतवने वसति। अनाथपिण्डिकस्स गेहे भिक्खं गहेत्वा पाचीनद्वारेन निक्खमित्वा पुब्बारामे वसति। उत्तरद्वारं सन्धाय गच्छन्तं......विसाखापि........सुत्वा.... गन्त्वा......"।

—(ध० प० ४१९, अ० क० २००)

पर अवस्थित है, जहाँ से एक रास्ता नौसहरा-दर्वाजे (उत्तर-द्वार) को मुड़ा है। यून्-च्वेङ् ने प्रजापती के विहार से इसे पूर्व ओर बतलाया है; लेकिन उसके साथ इसकी संगति बैठाने का कोई उपाय नहीं है, जब कि राजकाराम का दक्षिण द्वार के पास प्राकार की जड़ में होना निश्चित है। अनाथपिण्डक का घर सात महल और सात दर्वाजों का था। जातक[1] में उसके चौथे दर्वाज़े का भी जिक्र आया है, जिस पर एक देवता का वास था।

विशाखा का घर

विशाखा का श्वसुर मिगार सेठ श्रावस्ती के सबसे बड़े धनियों में था। इसका भी मकान अनाथपिण्डक के मकान के पास में ही था। क्योंकि ऊपर के उद्धरण में हम पाते हैं कि भगवान् के अनाथपिण्डक के घर से उत्तर द्वार की ओर जाने की खबर तुरन्त विशाखा को लग गई। सम्भवतः पक्की कुटी या स्तूप "ए" विशाखा के घर को चिह्नित करते हैं।

राजमहल

यह (१) अचिरवती नदी के किनारे था क्योंकि राजा प्रसेनजित् और मल्लिका देवी ने अपने कोठे पर से अचिरवती में खेलते-नहाते हुए छवग्गीय भिक्षुओं को देखा। (२) पुब्बकोट्ठक[2] इससे बहुत दूर न था क्योंकि राजा के नहाने के लिये यहाँ एक खास घाट था। (३) वह विशाखा[3] के घर और पूर्व-

---

१. १४२ "अनाथपिण्डिकस्स घरे चतुत्थे द्वारकोट्ठके वसनक मिच्छा-दिट्ठिदेवता।......

—(जातक २८४, पृ० ६४९)

२. "कस्सपदसबलस्सकाले अचिरवती...उदकेन भिन्दित्वा महन्तं उदकदह मापेसि समतित्थं अनुपुब्बगम्भीरं। तत्थ एको रञ्ञो नहानतित्थं, एकं नागरानं, एकं भिक्खुसंघस्स, एकं बुद्धानन्ति...।"

—(म० नि० १।३।६, अ० क० ३७१)

३. "विसाखाय...कोचिदेव अत्थो रञ्ञो पसेनदिम्हि ..पटिबद्धो होति। तं राजा पसेनदि...न यथाधिप्पायं तीरेति। अथ खो विसाखा...दिवादिवस्स उपसंकमित्वा भगवन्तं अभिवादेत्वा....निसीदि।....हन्त! कुतो नु त्वं विसाखे आगच्छसि दिवादिवस्स?"

—(उदान० २।९)

द्वार के बीच में, पूर्वद्वार के समीप पड़ता था, क्योंकि विशाखा राजा के पास वहाँ अधिक चुङ्गी लेने के विषय में फरियाद करने जाती है, फिर वहाँ से दूर न होने की वजह पूर्वाराम चली जाती है; तब भगवान् के मध्याह्न में ही आने का कारण पूछने पर वह राजदर्बार के काम को बतलाती है। विशाखा का घर महा-वीथी पर अनाथपिण्डक के घर के पास ही था, यह हम पहले बतला आये हैं। (४) राजा प्रसेनजित् के हाथी पर सवार होकर नगर से बाहर जाते वक्त आनन्द से पूर्वद्वार के बाहर भेंट होना भी बतलाता है कि राजमहल पूर्व-द्वार के समीप था। राजा की यह यात्रा किसी विशेष काम के लिये न थी, अन्यथा उसे आनन्द से अचिरवती के किनारे पेड़ के नीचे बैठकर व्याख्यान सुनने की फ़ुर्सत कहाँ होती ? बिना काम के दिलबहलाव के लिये नगर से बाहर निकलने में उसका महल के नजदीक वाले दर्वाजे से ही शहर के बाहर जाना अधिक सम्भव मालूम होता है। इन सब बातों पर विचार करने से मालूम होता है कि राजकीय प्रासाद उत्तर में नौसहरा-दर्वाजे से बांकी दर्वाजे तक, और दक्षिण में महावीथी के मकान से गङ्गापुर-दर्वाजे तक था। युन्-च्वेङ्[2] का कहना है—"राजप्रासाद से थोड़ी ही दूर पूर्व की ओर एक स्तूप है जो पुरानी बुनियादों पर खड़ा है। यह वह स्थान है जहाँ राजा प्रसेनजित् द्वारा बुद्ध के उपयोग के लिये बनवायी हुई शाला थी। इसके बाद एक बुर्ज है। यहीं पर प्रजापती का विहार था।" इसके अनुसार राजमहल राजकाराम से पश्चिम था। लेकिन ऐसा स्वीकार करने पर, वह अचिरवती के किनारे नहीं हो सकता, जिसका प्रमाण अट्ठकथा से भी पुराने विनय ग्रन्थों में मिलता है।

कचहरी

हमें मालूम है, कि उत्तर द्वार से नगर के भीतर होकर आते हुए भिक्षुओं को 'विनिच्छयसाला' (कचहरी) मिली थी, जहाँ उन्होंने जजों को घूस लेकर

---

१. "जातिकुलतो...मणिमुत्तादिरचितं भण्डजातं तस्या पण्णाकारत्थाय पेसितं। तं नगरद्वारप्पत्तं सुङ्किका...सुंकं....अतिरेकं गण्हिसु। दिवादिवस्साति... मज्झन्तिके कालेति अत्थो। राजनिवेसनद्वारं गच्छन्ती तस्स अत्थस्स अनिट्ठि-तत्ता निरत्थकमेव उपसङ्कमि, भगवति उपसङ्कमनमेव पन...सत्थकन्ति....इमाय वेलाय इधागता'ति।

—[उ० अ० क० १०५ (११०)]

२. Beal, pp. 92, 93.

अन्याय करते देखा था। कचहरी का राजकीय महल के हलके से मिला हुआ होना अधिक सम्भव प्रतीत होता है। इस प्रकार यह कचहरी राजमहल के उत्तर-पश्चिम के कोण वाले भाग पर नौसहरा-दर्वाजे के पास ही होगी।

महावीथी

(१) यह नगर की प्रधान सड़क थी, यह इसके नाम से स्पष्ट है। (२) सुवण्णसामजातक[१] में उल्लिखित धनी सेठ का मकान, सम्भवतः अन्य सेठों की भाँति, इसी महावीथी पर था। यह वीथी जेतवन जानेवाले द्वार—दक्षिण द्वार—को सीधी जाती थी, तभी तो वह सेठ अपने मकान से लोगों को गन्धमाला लेकर भगवान् के दर्शनार्थ जाते हुए देखकर उनका जेतवन जाना निश्चित कर रहा है। (३) अनाथपिण्डक के मकान से निकलते ही मालूम हो जाता था कि भगवान् पूर्व दर्वाजे को जा रहे हैं, या उत्तरवाले दर्वाजे को। दक्षिण दर्वाजे को जानेवाली वीथी हमें मालूम ही है, जिसकी विशेषता इस समय भी स्पष्ट है। इस प्रकार दक्षिण (बाजार) दर्वाजे से उत्तर मुँह को जो चौड़ी सड़क सी हमें मालूम पड़ रही है, यही महावीथी है; जिसके बारे में कि डा० फोगल ने सर्वे रिपोर्ट[२] में लिखा है।

दक्षिण दर्वाजे का बाजार-दर्वाजा नाम भी इसी विषय में खास अर्थ रखता है।

गण्डम्बरुक्ख

यद्यपि भगवान् के समय में इस आम[३] के वृक्ष का होना सम्भव नहीं है,

---

१. "सावत्थियं किर अट्ठारसकोटिविभवस्स एकस्स सेट्ठिकुलस्स एकपुत्तो अहोसि। सो एकदिवसम्हि पासादवरगतो सीहपञ्जरं उग्घाटेत्वा महावीथियं ओलोकेन्तो गन्धमालादिहत्थं महाजनं धम्मस्सवनत्थाय जेतवनं गच्छन्तं दिस्वा...।

—(सुवण्णसामजातक ५३९)

२. "A Passage 12′ wide which gives access to a broad path leading almost due north and widening out into a glade, which is situated south-east of the ruined temple known as the Kachhikuti,......the Bazar Darwaza it seems to be the starting point of a broad street or bazar...."

A. S. R. 1907-8, p. 86

३. "सत्था आसाळ्हिपुण्णमदिवसे अन्तोनगरं पाविसि। रञ्ञो उय्यानपालो

किन्तु, परवर्ती काल में इसका अधिक महत्त्व पाया जाना बिल्कुल निश्चित है। ५२२ ई० पू० की आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन नगर में प्रवेश करने पर, कहते हैं, गण्ड उद्यानपाल ने एक पका आम भगवान् को दिया। भगवान् ने खाकर उसे वहीं रोपवा दिया, और उनकी अद्भुत शक्ति से वह उसी समय बड़ा वृक्ष हो गया। कुछ भी हो, परवर्तीकाल में बाजार-दर्वाजे के अन्दर बाजार के घरों से पहिले ही, अर्थात् दर्वाजे से थोड़ा ही आगे एक आम का वृक्ष था, जो इस प्रकार के चमत्कार का स्मारक था। इस स्थान पर भी कोई स्तूप अवश्य रहा होगा। सम्भवतः यह वृक्ष महावीथी से राजकाराम जानेवाले मोड़ पर ही था।

पञ्चछिद्दकगेह, ब्राह्मणवाटक

पञ्चछिद्दकगेह भी एक बड़े चमत्कार का स्थान है। चमत्कारिक स्थानों के लिये जनता का अधिक उत्साह सभी धर्मों में देखा जाता है। इसका 'पञ्चछिद्दक-गेह'[१] नाम कैसे पड़ा, यह अट्ठकथा में दिया गया है। यद्यपि ऐसे किसी स्थान का वर्णन फाहियान और युन्-च्वेङ् में से किसी ने नहीं किया है; तो भी यह स्थविरवादियों की पुरानी परम्परा पर अवलम्बित है। युन्-च्वेङ् के समय में भी

गण्डो नाम....अम्बपक्कं....आदाय गच्छन्तो अन्तरामग्गे सत्थारं दिस्वा चिन्तेसि —राजा इमं अम्बं खादित्त्वा मय्हं अट्ठ वा सोलस वा कहापणे ददेय्य।....सो तं अम्बं सत्थु उपनामेसि।....सत्था....अम्बपानकंपिबित्वा गण्डं आह—इमं अम्बट्ठिं इधेव....रोपेहीति।....हत्थे धोतमत्ते येव....पण्णासहत्थो अम्बरुक्खो.... पुप्फफलसंछन्नो हुत्वा......।"

—(ध० प० १४२, अ० क० ४४८)

१. "एका किर ब्राह्मणी चतुन्नं भिक्खूनं उद्देसभत्तं सज्जेत्वा ब्राह्मणं आह— विहारं गन्त्वा चत्तारो महल्लकब्राह्मणे उद्दिसित्वा आनेहीति।....। तत्थ संकिच्चो पण्डितो, सपाको, रेवतोति सत्तवस्सिका चत्तारो खीणासवसामणेरा पापुणिंसु। ब्राह्मणी सामणेरे दिस्वा कुपिता। अथ तेसं गुणतेजेन (सक्को) जराजिण्णमह-ल्लकब्राह्मणो हुत्वा तस्मिं ब्राह्मणवाटके ब्राह्मणानं अग्गासने निसीदि। ब्राह्मणो.... तं आदाय गेहं अगमासि।....पञ्च' पि जना आहारं गहेत्वा एको कण्णिकामंडलं विनिविज्झित्वा एको छदनस्स पुरिमभागं एको पच्छिमभागं एको पठविया निमुज्जित्वा सक्कोपि एकेन ठानेन निक्खमित्वाति एवं पञ्चधा अगमंसु। ततो पट्ठाय च पन तं गेहं पञ्चछिद्दकगेहं किर नाम जातं।"

—(ध० प० २६।२३, अ० क० ६६३, ६६४)

श्रावस्ती और उसके आसपास के विहार साम्मितीय सम्प्रदाय के भिक्षुओं के आधीन थे जो कि हीनयानी थे, और महायान की अपेक्षा विभज्जवाद (स्थविरवाद) से बहुत मिलते-जुलते थे। वस्तुतः युन्-च्वेङ् का वर्णन श्रावस्ती के विषय में अत्यन्त संक्षिप्त है, इसलिये पञ्चछिद्रगेह का छूट जाना स्वाभाविक है। कथा यों है—"एक ब्राह्मणी ने बड़े स्थविरों को निमन्त्रित किया। सात वर्ष के लड़कों को आया देखकर ब्राह्मणी असन्तुष्ट हुई। फिर उसने अपने पति को ब्राह्मणवाट से ब्राह्मण लेने को भेजा। उन श्रामणेरों के तपोबल से शक्र वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण कर ब्राह्मणवाट में ब्राह्मणों के बीच अग्रासन पर जाकर बैठ गया। ब्राह्मण शक्र को लेकर घर लौटा। चार श्रामणेर और शक्र भोजन कर पाँच ओर से निकल गये। श्रामणेरों में से एक कोनिया में घुसकर निकल गया; एक छाजन के पूर्व भाग में, एक पश्चिम भाग में और एक पृथ्वी में, शक्र भी किसी स्थान से बाहर चला गया। उस दिन से उस घर का नाम पञ्चछिद्रक-गेह पड़ गया।" यह ब्राह्मणवाट शायद श्रावस्ती में ब्राह्मणों का कोई विशेष पवित्र स्थान था, जहाँ ब्राह्मण इकट्ठे हुआ करते थे। घुसुंडी (पुरातन माध्यमिका) के पास के ई० पू० द्वितीय शताब्दी के शिलालेख[१] में 'नारायणवाट' शब्द आया है। 'यज्ञवाट' भी इसी प्रकार का एक शब्द है। 'वाट' शब्द विशेषकर पवित्र स्थानों के लिये प्रयुक्त होता था। यह ब्राह्मणवाट कहाँ था, यद्यपि इसके लिये और कोई निश्चित प्रमाण हमारे पास नहीं है, तथापि अनुमान किया जा सकता है, कि यह ब्राह्मणों के लिये बहुत ही पवित्र स्थान रहा होगा। यद्यपि छठी शताब्दी ई० पू० (वि० पू० ४४३–५४२) में यज्ञों का युग था, अभी मूर्तिपूजा आरम्भ न हुई थी; तो भी मूर्तिपूजा के युग में इस स्थान की पवित्रता का ख्याल कर अवश्य इसे भी उपयुक्त बनाया गया होगा। हम देख आये हैं, कि श्रावस्ती के दक्षिण दीवार से सटे हुए वैतारा-दर्वाजे से शोभनाथ-दर्वाजे तक की भूमि हिन्दू और जैन मन्दिरों के लिये सुरक्षित थी। भिक्षुणियों के आराम (राजका-राम) को भी हमने यहीं निश्चित किया है। ऐसी हालत में राजकाराम और जैन मन्दिरों के बीच की भूमि, जिसमें कि हिन्दू मन्दिर स्थित हैं, अधिकतर ब्राह्मणवाट होने के लायक है। इसके अतिरिक्त दूसरा उपयुक्त स्थान ब्राह्मण-वाट के लिये अचिरवती के किनारे की तरफ सूर्यकुण्ड या मीरासैयद की कब्र की जगहों पर ढूँढ़ा जा सकता है।

---

१. श्री काशीप्रसाद जायसवाल, एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द १६, पृ० २७

सड़कें

महावीथी के अतिरिक्त एक ही और सड़क है, जिसका हमें पता है। यह है अनाथपिण्डक के घर से पूर्वद्वार को जानेवाली।

चुङ्गी की चौकियाँ

हम देख चुके हैं, कि नगर के दर्वाजों पर चुङ्गी की चौकियाँ थीं। चुङ्गी-वालों ने अधिक चुङ्गी ले ली थी, जिसके लिये विशाखा को राजा के पास जाना पड़ा था।

नगर के भीतर सम्बन्ध रखनेवाले स्थानों में से जिन-जिन के विषय में त्रिपिटक और उसकी अट्ठकथाओं में कुछ आया है, उनका हम वर्णन कर चुके हैं। बाहरवाले स्थानों में सबसे प्रधान है जेतवन। उसके बाद पूर्वाराम, समयप्पवादक-आराम, अन्धवन, ये तीन स्थान हैं, जिनका वर्णन हमें त्रिपिटक और अट्ठकथा में मिलता है।

से भी अधिक सुत्त जेतवन में ही कहे गए हैं। भिक्षुओं के शिक्षापदों में भी अधिकतर श्रावस्ती—जेतवन में ही दिए गए हैं। विनयपिटक के **'परिवार'** ने नगरों के हिसाब से उनकी सूची इस प्रकार दी है—

कतमेसु सत्तसु नगरेसु पञ्ञात्ता।

....

दस वेसालियं पञ्ञात्ता, एकवीसं राजगहे कता।
छ-ऊन-तीनि सतानि, सब्बे सावत्थियं कता॥
छ आलवियं पञ्ञात्ता, अट्ठ कोसंबियं कता।
अट्ठ सक्केसु वुच्चन्ति, तयो भग्गेसु पञ्ञात्ता॥

—परिवार, गाथासंगणिक।

अर्थात् साढ़े तीन सौ शिक्षापदों में २९४ श्रावस्ती में ही दिए गए। और परीक्षण करने पर इनमें से थोड़े से ही **पूर्वाराम** में और बाकी सभी जेतवन ही में दिए गए। इसलिये जेतवन[१] का खास स्थान होना ही चाहिये।

विनयपिटक के चुल्लवग्ग में जेतवन के बनाए जाने का इतिहास दिया गया है। विनयपिटक की पाँच पुस्तकें हैं—**पाराजिक, पाचित्ति, महावग्ग, चुल्लवग्ग और परिवार**। इनमें से **परिवार तो पहले चारों का सरल संग्रह मात्र है।** संग्रह-समाप्ति ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में हुई जान पड़ती है। किन्तु बाकी चार उससे पुराने हैं। इनमें भी महावग्ग और चुल्लवग्ग, जिन्हें इकट्ठा **'खंधक'** भी कहते हैं, पातिमोक्ख को छोड़ विनयपिटक के सबसे पुराने भाग हैं; और इनका प्रायः सभी अंश **अशोक** (तृतीय संगीति) के समय का मानना चाहिये। चुल्लवग्ग[२] की कथा यों है—

"अनाथपिंडक गृहपति राजगृह के **श्रेष्ठी** का बहनोई था। एक बार अनाथपिंडक **राजगृह** गया। उस समय राजगृह के श्रेष्ठी ने संघ-सहित बुद्ध को निमंत्रित किया था। अनाथपिंडक को बुद्ध के दर्शन की इच्छा हुई। वह अधिक रात रहते ही घर से निकल पड़ा और **सीवद्वार** से होकर सीतवन

---

१. इदंहि तं जेतवनं इसिसंघनिसेवितं।
आवुट्ठं धम्मराजेन पीतिसंजननं मम॥
—सं० नि०, १:५:८, २:२:१०

२. विनयपिटक सेनासनक्खन्धक, पृ० २५४

पहुँचा। उपासक बनने के बाद उसने सावत्थी में भिक्षु-संघ सहित बुद्ध को, वर्षा-वास करने के लिये, निमंत्रित किया। अनाथपिंडक ने श्रावस्ती जाकर चारों ओर नजर दौड़ाई। उसने विचार किया कि भगवान् का विहार ऐसे स्थान में होना चाहिये, जो ग्राम से न बहुत दूर और न बहुत समीप हो। जहाँ आने-जाने की आसानी हो, आदमियों के पहुँचने योग्य हो। जहाँ दिन में बहुत जमघट न हो और जो रात में एकांत और ध्यान के अनुकूल हो। अनाथपिंडक ने राजकुमार **जेत** के उद्यान को देखा जो इन लक्षणों से युक्त था। उसने राजकुमार जेत से कहा—आर्यपुत्र ! मुझे अपना उद्यान आराम बनाने के लिये दो। राजकुमार ने कहा—वह (कहापणों की) कोटि (=कोर) लगाकर बिछाने से भी अदेय है। अनाथ-पिंडक ने कहा—आर्यपुत्र ! मैंने आराम ले लिया। बिका या नहीं बिका इसके लिये उन्होंने कानून के मंत्रियों से पूछा। महामात्यों ने कहा—आर्यपुत्र ! आराम बिक गया, क्योंकि तुमने मोल किया। फिर अनाथपिंडक ने जेतवन में कोर से कोर मिलाकर मोहरें बिछा दीं। एक बार का लाया हुआ हिरण्य द्वार के कोठे के बराबर थोड़ी सी जगह के लिये काफी न हुआ। गृहपति ने और **हिरण्य** (=अशर्फी) लाने के लिये मनुष्यों को आज्ञा दी। राजकुमार जेत ने कहा—बस गृहपति, इस जगह पर मत बिछाओ। यह जगह मुझे दो, यह मेरा दान होगा। गृहपति ने उस जगह को जेत कुमार को दे दिया। जेत कुमार ने वहाँ कोठा बनवाया। अनाथपिंडक गृहपति ने जेतवन में विहार, परिवेण, कोठे, उपस्थानशाला, कप्पिय-कुटी, पाखाना, पेशाबखाना, चंक्रम, चंक्रमणशाला, उदपान, उदपानशाला, जंताघर, जंताघरशाला, पुष्करिणियाँ और मंडप बनवाए। भगवान् धीरे-धीरे चारिका करते श्रावस्ती, जेतवन में पहुँचे। गृहपति ने उन्हें खाद्य भोज्य से अपने हाथों तर्पितकर, जेतवन को आगत-अनागत चतुर्दिश संघ के लिये दान किया।"

अनाथपिंडक ने 'कोटि संथारेन' (कार्षापणों की कोर से कोर मिलाकर) इसे खरीदा था। ई० पू० तृतीय शताब्दी के भरहुत के स्तूप में भी 'कोटि संठतेन केता' उत्कीर्ण है। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि कार्षापण बिछाकर जेतवन खरीद करने की कथा ई० पू० तीसरी शताब्दी में प्रसिद्ध थी।

पाली ग्रन्थों[१] में जेतवन की भूमि आठ करीष लिखी है। 'करीसं चतुरम्मणं'

---

१. देखो उपर्युक्त चुल्लवग्ग की अट्ठकथा।

पालिकोष **अभिधम्मप्पदीपिका** (१९७) में आता है। डाक्टर **रीस डेविड्स** ने 'अम्मण' (सिंहली अमुणु, सं० अर्मण) को प्रायः दो एकड़ के बराबर लिखा है। इस प्रकार सारा क्षेत्रफल ६४ एकड़ होगा। श्री दयाराम साहनी ने (१९०७-८ की Arch- S. R., p. 117) लिखा है—

"The more conspicuous part of the mound at the present is 1600 feet from the month-east corne to the south-west, and varies in width from 450′ to 700′, but it formerly extended for several hundred feet further in the eastern direction".

इस हिसाब से क्षेत्रफल बाईस एकड़ होता है। यद्यपि अठारह करोड़ संख्या संदिग्ध है तो भी इसे कार्षापण मानकर (जिसका ही व्यवहार उस समय अधिक प्रचलित था) देखने से भी हमें इस क्षेत्रफल का कुछ अनुमान हो सकता है। पुराने 'पंचमार्क' चौकोर कार्षापणों की लंबाई-चौड़ाई यद्यपि एक समान नहीं है, तो भी हम उसे सामान्यतः ·७ इंच ले सकते हैं, इस प्रकार एक कार्षापण से ·४९ या ½ वर्ग इंच भूमि ढक सकती है, अर्थात् १८ करोड़ कार्षापणों से ९ करोड़ वर्ग इंच, जो प्रायः १४·३५ एकड़ के होते हैं।[१] आगे चलकर, जैसा कि हम बतलाएँगे, विहार नं० १९ और उसके आस-पास की भूमि जेतवन की नहीं है, इस प्रकार क्षेत्रफल १२००′ × ६००′ अर्थात् १४·७ एकड़ रह जाता है, जो १८ करोड़ के हिसाब के समीप है। गंधकुटी जेतवन के प्रायः बीचोबीच थी। खेत नं० ४८७ जेतवन की पुष्करिणी है, क्योंकि नकशा नं० १ का डी० इसी का संकेत करता है। आगे हम बतलाएँगे कि पुष्करिणी जेतवन विहार के दर्वाजे के बाहर थी। पुष्करिणी के बाद पूर्व तरफ जेतवन की भूमि होने की आवश्यकता नहीं मालूम होती। इस प्रकार गंधकुटी के बीचोबीच से ४०० फीट पर, पुष्करिणी की पूर्वीय सीमा के कुछ आगे बढ़कर जेतवन की पूर्वीय सीमा थी। उतना ही पश्चिम तरफ मान लेने पर पूर्व-पश्चिम की चौड़ाई ८००′ होगी। लंबाई जानने के लिये जेतवन खास के विहार नं० ५ (**कारेरि** गंधकुटी) को सीमा पर रखना चाहिये। गंधकुटी से दक्षिण ६८०′ उतना ही उत्तर ले लेने से लंबाई उत्तर-दक्षिण १३६०′ होगी; इस प्रकार सारा क्षेत्रफल प्रायः २५

---

१. दीघनिकाय अट्ठकथा, महापदानसुत्त, २८। "अम्हाकं पण भगवतो पकतिमानेन सोळसकरीसे, राजमानेन अट्ठ करीसे पदेसे विहारो पतिट्ठितोति।"

एकड़ के होगा। इस परिणाम पर पहुँचने के लिए हमारे पास तीन कारण हैं–(क) गंधकुटी जेतवन के बीचोबीच थी, जेतवन वर्गाकार था, इसके लिए कोई प्रमाण न तो लेख में है और न भूमि पर ही। इसलिए जेतवन को एक आयत क्षेत्र मानकर हम उसके बीचोबीच गंधकुटी को मान सकते हैं। (ख) गंधकुटी के पूर्व तरफ का डी० ही पुष्करिणी का स्थान मालूम होता है, जिसकी पूर्वीय सीमा से जेतवन बहुत दूर नहीं जा सकता। (ग) विहार नं० १९ को राजकाराम मान लेने पर जेतवन की सीमा विहार नं० ५ तक जा सकती है।

ऊपर के वर्णन से हम निम्न परिणाम पर पहुँचते हैं–

(१) १८ करोड़ कार्षापण बिछाने से १८·३४८ एकड़

(२) साहनी के अनुसार वर्तमान में २२·२ एकड़ (१६००′ × ६००′)

(३) उसमें से राजकाराम निकाल देने पर १४·७ ए० (१२२०′ × ६००′)

(४) गंधकुटी, पुष्करिणी, कारेरि कुटी से २४·९ ए० (१३६०′ × ८००′)

(५) ८ करीस १, २ (अम्मण–२ एकड़) ६४ एकड़

एक और तरह से भी इस क्षेत्रफल के बारे में विचार कर सकते हैं। करीस[१] (संस्कृत खारीक) का परिमाण **अभिधानप्पदीपिका** और लीलावती में इस प्रकार दिया है—

४ कुडव या पसत (पसर)	= १ पत्थ	४ कुडव = प्रस्थ
४ पत्थ	= १ आल्हक	४ प्रस्थ = आढक
४ आल्हक	= १ दोण	४ आढक = द्रोण
४ दोण	= १ माणी	
४ माणी	= १ खारी	१६ द्रोण = खारी

विनय में ४ **कहापण** का एक कंस लिखा है। कंस का कर्ष मान लेने पर वह वजन और भी चौगुना हो जायगा, अर्थात् १६ मन से भी ऊपर। ऊपर के नाम में २० खारी का एक तिलवाह, अर्थात् तिलों भरी गाड़ी माना है, जो इस हिसाब से अवश्य ही गाड़ी के लिये असंभव हो जायगा।

---

१. परमत्थजोतिका II, p- 476. "तत्थ वीसतिखारिकोति, मागधकेन पत्थेन चत्तारो पत्था कोसलरट्ठेकपत्थो होति, तेन पत्थेन चत्तारो पत्था आढ़कं, चत्तारि आढ़कानि दोणं, चतुदोणं मानिका, चतुमानिकं खारि, ताय खारिया वीसति खारिको तिलवाहोति; तिलसकटं।"

सुत्त० नि० अट्ठकथा में कोसलक परिमाण इस प्रकार है—

४ मागधक पत्थ	= कोसलक पत्थ
४ को० पत्थ	= को० आढ़क
४ को० आ०	= को० दोण
४ को० दो०	= को० मानिका
४ को० मा०	= खारी
२० खारी	= १ तिलवाह (=तिलसकट अर्थात् तिल से लदी गाड़ी)

वाचस्पत्य के उद्धरण से यह भी मालूम होता है कि ४ पल एक कुडव के बराबर है। **लीलावती** ने पल का मान इस प्रकार दिया है—

५ गुंजा	= माष
१६ माष	= कर्ष
४ कर्ष	= पल

अभिधानप्पदीपिका से यहाँ भेद पड़ता है—

४ वीहि (व्रीहि) = गुंजा

२ गुंजा = माषक

माषक कर्ष (=कार्षापण) का सोलहवाँ भाग है। **विनय**[1] में २० मासे का कहापण (=कार्षापण) लिखा है। **समंतपासादिका** ने इस पर टीका करते हुए इससे कम वजनवाले रुद्रदामा आदि के कार्षापणों का निर्देश किया है तो भी हमें यहाँ उनसे प्रयोजन नहीं। हम इतना जानते हैं कि पुराने पंच-मार्क के कार्षापण सिक्कों का वजन प्राय: १४६ ग्रेन के बराबर होता है। यही वजन उस समय के कर्ष का भी है। आजकल भारतीय सेर ८० तोले का है, और तोला १८० ग्रेन के बराबर होता है। इस प्रकार एक मागध खारी आजकल के ४१·८ सेर के बराबर, अर्थात् प्राय: १ मन होगी और कोसलक खारी ४ मन के करीब। करीस का संस्कृत पर्याय खारीक अर्थात् खारी भर बीज से बोया जाने वाला खेत (तस्य वाप:, **पाणिनि** ५:१:४५) है। पटना में पक्के ८ मन तेरह सेर धान से आजकल १६ एकड़ खेत बोया जा सकता है, इससे भी हमें, जेतवन की भूमि का परिमाण, एक प्रकार से, मिलता है।

---

१. विनयपिटक पाराजिका, २

राजकाराम (सललागार)—अब हमें जेतवन की सीमा के विषय में एक बार फिर कुछ बातों को साफ कर देना है। हमने पीछे कहा था कि विहार नं० १९ जेतवन-खास के भीतर नहीं था। **संयुत्त-निकाय**[1] में आता है—एक बार भगवान् श्रावस्ती के राजकाराम में विहार करते थे। उस समय एक हजार भिक्षुणियों का संघ भगवान् के पास गया। इस पर **अट्ठकथा** में लिखा है—राजा **प्रसेनजित्** द्वारा बनवाए जाने के कारण इसका नाम राजकाराम पड़ा था। बोधि के पहले भाग (५२७-१३ ई० पू०) में भगवान् के महान् लाभ-सत्कार को देखकर तीर्थिक लोगों ने सोचा, यह इतनी पूजा शील-समाधि के कारण नहीं है। यह तो इसी भूमि का माहात्म्य है। यदि हम भी जेतवन के पास अपना आराम बना सकें तो हमें भी लाभ-सत्कार प्राप्त होगा। तीर्थिकों ने अपने सेवकों से कहकर एक लाख कार्षापण इकट्ठा किया। फिर राजा को घूस देकर जेतवन के पास तीर्थिकाराम बनवाने की आज्ञा ले ली। उन्होंने जाकर, खंभे खड़े करते हुए, हल्ला करना शुरू किया। बुद्ध ने गंधकुटी से निकलकर बाहर के चबूतरे पर खड़े हो आनंद से पूछा—ये कौन हैं आनंद! मानो केवट मछली मार रहे हों। आनंद ने कहा—तीर्थिक जेतवन के पास में तीर्थिकाराम बना रहे हैं। आनंद! ये शासन के विरोधी भिक्षु-संघ के विहार में गड़बड़ डालेंगे। राजा से कहकर हटा दो। आनंद भिक्षु-संघ के साथ राजा के पास पहुँचे। घूस खाने के कारण राजा बाहर न निकला। फिर शास्ता ने सारिपुत्त और मोग्गलान को भेजा। राजा उनके भी सामने न आया। दूसरे दिन बुद्ध स्वयं भिक्षु-संघ सहित पहुँचे। भोजन के बाद उपदेश दिया और अंत में कहा—महाराज! प्रव्रजितों को आपस में लड़ाना अच्छा नहीं है। राजा ने आदमियों को भेजकर वहाँ से तीर्थिकों को निकाल दिया और यह सोचा कि मेरा बनवाया कोई विहार नहीं है, इसलिये इसी स्थान पर विहार बनवाऊँ। इस प्रकार धन वापिस किए बिना ही वहाँ विहार बनवाया।

जातकट्ठकथा (निदान) में भी यह कथा आई है, जहाँ से हमें कुछ और बातें भी मालूम होती हैं।

तीर्थिकों ने जंबूद्वीप के सर्वोत्तम स्थान पर बसना ही श्रमण गौतम के लाभ-

---

१. सोतापत्ति-संयुत्तं IV, Chapter II सहस्सक or राजकारामवग्ग V, p. 360.

सत्कार का कारण समझा और जेतवन के **पीछे की ओर** तीर्थिकाराम बनवाने का निश्चय किया। घूस देकर राजा को अपनी राय में करके, बढ़इयों को बुलाकर, उन्होंने आराम बनवाना आरंभ कर दिया।

इन उद्धरणों से हमें पता लगता है—(१) जेतवन के पीछे की ओर पास ही में, जहाँ से काम करनेवालों का शब्द गंधकुटी में बैठे बुद्ध को खूब सुनाई देता था, तीर्थिकों ने अपना आराम बनाना आरंभ किया था। (२) जिसे राजा ने पीछे बंद करा दिया। (३) राजा ने वहीं आराम बनावा कर भिक्षु-संघ को अर्पण किया। (४) यह आराम प्रसेनजित् द्वारा बनवाया पहला आराम था। नक्शे में देखने से हमें मालूम होता है कि विहार नं० १९ जेतवन के पीछे और गंधकुटी से दक्षिण-पश्चिम की ओर है। फासला गंधकुटी से प्रायः ९० फीट, तथा जेतवन की दक्षिण-पूर्व सीमा से बिल्कुल लगा हुआ है। इस प्रकार का दूसरा कोई स्थान नहीं है, जिस पर उपर्युक्त बातें लागू हों। इस प्रकार विहार नं० १९। ही राजकाराम है, जो मुख्य जेतवन से अलग था।

इस विहार का हम एक जगह और (**जातकट्ठकथा** में) उल्लेख पाते हैं यहाँ उसे **जेतवन-पिट्ठि विहार** अर्थात् जेतवन के पीछे वाला विहार कहा है। मालूम होता है, जेतवन और इस 'पिट्ठि विहार' के बीच में होकर उस समय रास्ता जाता था। दोनों विहारों के बीच से एक मार्ग के जाने का पता हमें **धम्मपदट्ठकथा** से भी लगता है। राजकाराम जेतवन के समीप था। उसे प्रसेनजित् ने बनवाया था। एक बार उसमें भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका की परिषद् में बैठे हुए, बुद्ध धर्मोपदेश कर रहे थे। भिक्षुओं ने आवेश में आकर "जीवें भगवान् जीवें सुगत" इस तरह जोर से नारा लगाया। इस शब्द से कथा में बाधा पड़ी। यहाँ स्पष्ट मालूम होता है कि यह राजकाराम अच्छा लम्बा-चौड़ा था।

ई० पू० छठी शताब्दी की बनी इमारतों के ढाँचे में न जाने कितनी बार परिवर्तन हुआ होगा। तीर्थिकाराम बनाने के वर्णन में खंभे उठाने और बढ़ई से ही काम आरंभ करने से हम जानते हैं कि उस समय सभी मकान लकड़ी के ही अधिक बनते थे। जंगलों की अधिकता से इसमें आसानी भी थी। ऐसी हालत में लकड़ी के मकानों का कम टिकाऊ होना उनके चिह्न पाने के लिये और भी बाधक है। तथापि मौर्य-तल से नीचे खुदाई करने में हमें शायद ऐसे कुछ चिह्नों के पाने में सफलता हो। अस्तु, इतना हम जानते हैं कि जहाँ कहीं बुद्ध कुछ दिन

के लिए निवास करते थे वहाँ उनकी गंधकुटी[१] अवश्य होती थी। यह गंधकुटी बहुत ही पवित्र समझी जाती थी, इसलिये सभी गंधकुटियों की स्मृति को बराबर कायम रखना स्वाभाविक है। जेतवन के नकशे में हम विहार नं० १,२,३,५, और १९ एक विशेष तरह के स्थान पाते हैं। विहार नं० १९ के पश्चिमी भाग के बीच की परिक्रमावाली इमारत के स्थान पर ही राजकाराम में बुद्ध की गंधकुटी थी।

आगे हम जेतवन के भीतर की चार इमारतों में 'सललागार' को भी एक बतलाएँगे। **दीघनिकाय** में आता है—"एक बार भगवान् श्रावस्ती के सलला-गारक में विहार करते थे।" इस पर अट्ठकथा में लिखा है—"सलल (वृक्ष) की बनी गंधकुटी में।" **संयुत्तनिकाय** में भी—"एक समय आयुष्मान् अनुरुद्ध श्रावस्ती के सललागार में विहार करते थे।" इस पर **अट्ठकथा** में—"सलल-वृक्षमयी पर्णशाला, या सलल वृक्ष के द्वार पर रहने से इस नाम का घर।" **दीघनिकाय** की **अट्ठकथा** के अनुसार "सललघर राजा प्रसेनजित् का बनवाया हुआ था।"

(१) संयुत्त और दीघ दोनों निकायों में सललागार के साथ जेतवन का नाम न आकर, सिर्फ श्रावस्ती का नाम आना बतलाता है कि सललागार जेतवन से बाहर था। (२) सललागार का अट्ठकथा में सललघर हो जाना मामूली बात है। (३) (क) सललघर राजा प्रसेनजित् का बनवाया था; (ख) जो यदि जेतवन में नहीं था तो कम से कम जेतवन के बहुत ही समीप था, जिससे अट्ठकथा की परंपरा के समय वह जेतवन के अंतर्गत समझा जाने लगा।

हम ऐसे स्थान राजकाराम (विहार नं० १९) को बतला चुके हैं, जो आज भी देखने में जेतवन से बाहर नहीं जान पड़ता। इस प्रकार सललागार राजकाराम का ही दूसरा नाम प्रतीत होता है। श्रावस्ती के भीतर भिक्षुणियों का आराम भी, राजा प्रसेनजित् का बनवाया होने के कारण, 'राजकाराम' कहा जाता था; इसी लिये यह सललागार या सललघर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

गंधकुटी—जेतवन के भीतर की अन्य इमारतों पर विचार करने से पूर्व, गंधकुटी का जानना आवश्यक है; क्योंकि इसे जान लेने से और स्थानों के जानने में आसानी होगी। वैसे तो सारा जेतवन ही 'अविजहितट्ठान' माना गया है, किन्तु

---

१. बुद्ध के निवास की कोठरी को पहले विहार ही कहते थे। पीछे, मालूम होता है, उस पर फूल तथा दूसरी सुगंधित चीजें चढ़ाई जाने के कारण वह विहार 'गंधकुटी' कहा जाने लगा।

जेतवन में गंधकुटी[1] की चारपाई के चारों पैरों के स्थान '**अविजहित**' है, अर्थात् सभी अतीत और अनागत बुद्ध इसको नहीं छोड़ते। कुटी का द्वार किस दिशा को था, इसके लिये कोई प्रमाण हमें नहीं मिला। तो भी पूर्व दिशा की विशेषता को देखते हुए पूर्व मुँह होना ही अधिक संभव प्रतीत होता है। जहाँ इस विषय पर पाली स्रोत से हम कुछ नहीं पाते, वहाँ यह बात संतोष की है कि सहेट के अंदर के विहार नं० १,२,३,५,१९ पाँचों ही विशेष मंदिरों का द्वार पूर्व मुख को है। इसीलिये मुख्य दर्वाजा भी पूर्व मुँह ही को रहा होगा। यहाँ एक छोटी सी घटना से, मालूम होता है कि दो स्त्री-पुरुष पानी पीने के लिये जब जेतवन के भीतर घुसे, तब उन्होंने बुद्ध को गंधकुटी की छाया में बैठे देखा। विहार नं० २ के दक्षिण-पूर्व का कुआँ यद्यपि **सर जान मार्शल**[2] के कथनानुसार कुषाण-काल का है, तो भी तथागत के परिभुक्त कुएँ की पवित्रता कोई ऐसी-वैसी वस्तु नहीं, जिसे गिर जाने दिया गया हो। यदि इसकी ईंटें कुषाण-काल की हैं, तो उससे यही सिद्ध हो सकता है कि ईसा की आरंभिक शताब्दियों में इसकी अंतिम मरम्मत हुई थी। दोपहर के बाद गंधकुटी की छाया में बैठे हुए, बुद्ध के लिये दर्वाजे की तरफ से कुएँ पर पानी पीने के लिये जानेवाला पुरुष सामने पड़ेगा, यह स्पष्ट ही है।

गंधकुटी अपने समय की सुन्दर इमारत होगी। **संयुत्तनिकाय की अट्ठकथा**[3] में इसे देवविमान के समान लिखा है। भरहुत स्तूप के जेतवन चित्र से इसकी कुछ कल्पना हो सकती है। गंधकुटी के बाहर एक चबूतरा (पमुख) था, जिससे गंधकुटी का द्वार कुछ और ऊँचा था। इस पर चढ़ने से लिये सीढ़ियाँ थीं। पमुख के नीचे खुला आँगन था। चबूतरे को 'गंधकुटी पमुख' कहा है। भोजनोपरांत यहाँ खड़े होकर तथागत भिक्षु-संघ को उपदेश देते हुए अनेक बार वर्णित किए गए हैं। मध्यान्हभोजनोपरांत भगवान् पमुख पर खड़े हो जाते थे, फिर सारे भिक्षु वंदना करते थे, इसके बाद उन्हें सुगतोपदेश देकर बुद्ध भी गंधकुटी में चले जाते थे।

---

१. "जेतवन गंधकुटिया चत्तारि मंचपादट्ठानानि अविजहितानेव होन्ति।"
—दी० नि०, महापदान सुत्त, १४, अ० क०

२. A.S.I. Report, 1910-11

३. देव-संयुत्त।

सोपानफलक—गंधकुटी में जाने से पहले, **मणिसोपानफलक** पर खड़े होकर, भिक्षु-संघ को उपदेश देने का भी वर्णन आता है। अकाल में वर्षा कराने के चमत्कार के समय के वर्णन में आता है कि बुद्ध ने वर्षा करा, "पुष्करिणी में नहाकर लाल दुपट्टा पहन कमरबंद बाँध, सुगतमहाचीवर को एक कंधा (खुला-रख) पहन, भिक्षु-संघ से चारों तरफ घिरे हुए जाकर गंधकुटी के आँगन में रखे हुए श्रेष्ठ बुद्धासन पर बैठकर, भिक्षु-संघ के वंदना करने पर उठकर मणिसोपान-फलक पर खड़े हो, भिक्षु-संघ को उपदेश दे, उत्साहित कर सुरभि-गंधकुटी में प्रवेश कर...." यह सोपान संभवतः पमुख से गंधकुटी-द्वार पर चढ़ने के लिये था; क्योंकि अन्यत्र इस मणिसोपानफलक को गंधकुटी के द्वार पर देखते हैं—"एक दिन रात को गंधकुटी के द्वार पर मणिसोपानफलक पर खड़े हो भिक्षु-संघ को सुगतोवाद दे गंधकुटी में प्रवेश करने पर, धम्मसेनापति (=सारिपुत्र) भी शास्ता को वंदना कर अपने परिवेण को चले गए। महामोग्गलान भी अपने परिवेण को...........।"

गंधकुटी-परिवेण—मालूम होता है, पमुख थोड़ा ही चौड़ा था। इसके नीचे का सहन गंधकुटी-परिवेण कहा जाता था। इस परिवेण में एक जगह बुद्धासन रखा रहता था, जहाँ पर बैठे बुद्ध की वंदना भिक्षु-संघ करता था। इस परिवेण में बालू बिछाई हुई थी; क्योंकि **मज्झिमनिकाय**[१] अ० क० में अनाथपिंडक के बारे में लिखा है कि वह खाली हाथ कभी बुद्ध के पास न जाता था, कुछ न होने पर बालू ही ले जाकर गंधकुटी के आँगन में बिखेरता था। **अंगुतरनिकाय-अट्ठकथा में**, बुद्ध के भोजनोपरांत के काम का वर्णन करते हुए, लिखा है—"इस प्रकार भोजनोपरांत वाले कृत्य के समाप्त होने पर, यदि गात्र धोना (=नहाना) चाहते थे, तो बुद्धासन से उठकर स्नानकोष्ठक में जाकर, रखे जल से शरीर को ऋतु-ग्रहण कराते थे। उपट्ठाक भी बुद्धासन ले आकर गंधकुटी-परिवेण में रख देता था। भगवान् लाल दुपट्टा पहनकर काय-बंधन बाँधकर, उत्तरासंग एक कंधा (खुला रख) पहनकर वहाँ आकर बैठते थे; अकेले कुछ काल ध्यानावस्थित होते थे। तब भिक्षु जहाँ-तहाँ से भगवान् के उपस्थान के लिये आते थे। वहाँ कोई प्रश्न पूछते थे, कोई कर्म-स्थान पूछते थे। कोई धर्मोपदेश सुनना चाहते थे! भगवान्, उनके मनोरथ को पूरा करते हुए, पहले याम को समाप्त करते थे।"

---

१. सुत्त १४३ की अटठकथा।

बुद्धासन-स्तूप—गंधकुटी का परिवेण इस तरह एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान था। जेतवन में, गंधकुटी में, रहते हुए भगवान् यहीं आसीन हो प्रायः नित्य ही एक याम उपदेश देते थे, वंदना ग्रहण करते थे। इस तरह गंधकुटी-परिवेण की पवित्रता अधिक मानी जानी स्वाभाविक है। उसमें उस स्थान का माहात्म्य, जहाँ तथागत का आसन रखा जाता था, और भी महत्त्वपूर्ण है। ऐसे स्थान पर परवर्ती काल में कोई स्मृति-चिह्न अवश्य ही बना होगा। जेतवन की खुदाई में स्तूप नं० H ऐसा ही एक स्थान मिला है। इसके बारे में सर जान मार्शल लिखते हैं[१]—

"Of the stupas H, J and K, the first-mentioned seems to have been invested with particular sanctity; for not only was it rebuilt several times but it is set immediately in front of temple No. 2 which there is good reason to identify with the famous Gandhakuti and right in the midst of the main road which approaches this sanctuary from the east...this plinth is constructed of bricks of same size as those monasteries (of Kushan Period)."

जान पड़ता है, यह स्तूप वह स्थान है जहाँ बैठकर तथागत उपदेश दिया करते थे और इसीलिये उसे बार-बार मरम्मत करने का प्रयत्न किया गया है। गंधकुटी-परिवेण में, भिक्षुओं के ही लिये नहीं, प्रत्युत गृहस्थों के लिए भी उपदेश होता था—"विशाखा, उपदेश सुनने के लिये, जेतवन गई। उसने अपने बहुमूल्य आभूषण 'महालतापसाधन' को दासी के हाथ में इसलिये दे दिया था कि उपदेश[२] सुनते समय ऐसे शरीर-शृङ्गार की आवश्यकता नहीं। दासी उसे चलते वक्त भूल गई। नगर को लौटते समय दासी आभूषण के लिये लौटी। विशाखा ने पूछा—तूने कहाँ रखा था? उसने कहा—गंधकुटी-परिवेण में। विशाखा ने कहा—गंधकुटी-परिवेण में रखने के समय से ही उसका लौटाना हमारे लिये अयुक्त है।"

---

१. Archaeological Survey of India, 1910-11, p. 9

२. धम्मपदट्ठकथा, ४।४४, विसाखाय वत्थु।

आभूषण के छूटने का यह वर्णन **विनय** में भी आया है। संभवतः बुद्धासन स्तूप के पूर्व का स्तूप G इसी के स्मरण में है। **सर जान** कहते हैं[१]—

This stupa is co-eval with the three buildings of Kushan Period, just described (*ibid* p. 10).

यह गंधकुटी-परिवेण बहुत ही खुली जगह थी, जिसमें हजारों आदमी बैठ सकते थे। बुद्धासन-स्तूप (स्तूप H) गंधकुटी से कुछ अधिक हटकर मालूम होता है। उसका कारण यह है कि उपदेश के समय तथागत पूर्वाभिमुख बैठते थे। उनके पीछे भिक्षु-संघ पूर्व मुँह करके बैठता था और आगे गृहस्थ लोग तथागत की ओर मुँह करके बैठते थे। गंधकुटीपमुख से बुद्धासन तक की भूमि भिक्षुओं के लिये थी। इसका वर्णन हमें **उदान**[२] में मिलता है, जहाँ तथागत का पाटलिगाम के नए आवसथागार में बैठने का सविस्तार वर्णन है। संभवतः यह परिवेण पहले और भी चौड़ा रहा होगा, और कम से कम बुद्धासन से उतना ही स्थान उत्तर ओर भी छूटा रहा होगा जितना कि नं० K से बुद्धासन। इस प्रकार कुषाणकाल की इमारत के स्थान पर की पुरानी इमारत, यदि कोई रही हो तो, दक्षिण तरफ इतनी बढ़ी हुई न रही होगी, अथवा रही ही न होगी।

गंधकुटी कितनी लम्बी-चौड़ी थी, यद्यपि इसके जानने के लिये कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, तथापि एक आदमी के लिये थी, इसलिये बहुत बड़ी नहीं हो सकती। संभवतः विहार नं० २ के बीच का गर्भ बहुत कुछ पुरातन गंधकुटी के आकार को बतलाता है। गंधकुटी के दर्वाजे में किवाड़[३] लगा था, जिसमें भीतर से किल्ली (सूचीघटिक) लगाने का भी प्रबन्ध था। इसमें तथागत के सोने का मंच था। इस मंच के चारों पैरों के स्थान को अट्ठकथा वालों ने 'अविजहित' कहा है। गंधकुटी के दर्वाजे द्वारा कई बातों का संकेत भी होता था। **म० नि० अट्ठकथा**[४] में बुद्धघोष ने लिखा है—'जिस दिन भगवान् जेतवन में रहकर पूर्वाराम में दिन को विहार करना चाहते थे, उस दिन बिस्तरा,

---

१. A. S. I. Report, 1910—1911

२. उदान—पाटलिगामियवग्ग (८।६)

३. धम्मपद-अट्ठकथा ४:४४ भी।

४. सुत्त २६

परिष्कार भांडों को ठीक-ठीक करने का संकेत करते थे। स्थविर (आनन्द) झाड़ देने, तथा कचड़े में फेंकने की चीजों को समेट लेते थे। जब अकेले पिंडचार को जाना चाहते थे, तब सबेरे ही नहाकर गंधकुटी में प्रवेश कर दर्वाजा बन्द कर समाधिस्थ हो बैठते थे। जब भिक्षु-संघ के साथ पिंडचार को जाना चाहते थे, तब गंधकुटी को आधी खुली रखकर....। जब जनपद में विचरने के लिये निकलना चाहते थे, तो एक-दो ग्रास अधिक खाते थे और चंक्रमण पर आरूढ़ हो पूर्व-पश्चिम टहलते थे।" भरहुत के जेतवन-पट्टिका में गंधकुटी के द्वार का ऊपरी आधा भाग खुला है, जिससे यह भी पता लगता है कि किवाड़ ऊपर-नीचे दो भागों में विभक्त होता था। गंधकुटी का नाम यद्यपि सैकड़ों बार आता है, किन्तु उसका इससे अधिक विवरण देखने में नहीं मिलता।

द्वारकोट्ठक—हम पीछे कह चुके हैं कि अनाथपिंडक के पहली बार लाए हुए कार्षापणों से जेतवन का एक थोड़ा सा हिस्सा बिना ढँका ही रह गया था। इसे कुमार जेत ने अपने लिए माँग लिया और वहाँ पर उसने अपने दाम से कोठा बनवाया जिसका नाम जेतवनबहिद्वारकोष्ठक या केवल द्वार-कोट्ठक पड़ा। यह गंधकुटी के सामने ही था, क्योंकि **धम्मपद-अट्ठकथा** में आता है—

एक समय अन्य तीर्थिक उपासकों ने....अपने लड़कों को कसम दिलाई कि घर आने पर तुम शाक्यपुत्रीय श्रमणों को न तो बंदना करना और न उनके विहार में जाना। एक दिन जेतवन विहार के बहिद्वार-कोष्ठक के पास खेलते हुए उन्हें प्यास लगी। तब एक उपासक के लड़के को कहकर भेजा कि तुम जाकर पानी पिओ और हमारे लिये भी लाओ। उसने विहार में प्रवेश कर शास्ता को बंदना कर पानी पी इस बात को कहा। शास्ता ने कहा कि तुम पानी पीकर....जाकर औरों को भी, पानी पीने के लिये यहीं भेजो। उन्होंने आकर पानी पिया। गंधकुटी के पास का कुआँ हमें मालूम है। द्वारकोष्ठक से कुएँ पर जाते हुए लड़कों को गंधकुटी के द्वार पर से देखना स्वाभाविक है, यदि दर्वाजा गंधकुटी के सामने हो।

जेतवन-पोक्खरणी—यह द्वारकोट्ठक के पास ही थी। **जातकट्ठकथा** (निदान) में एक जगह इसका इस प्रकार वर्णन आता है—

एक समय कोसल राष्ट्र में वर्षा न हुई। सस्य सूख रहे थे। जहाँ-तहाँ तालाब, पोखरी और सरोवर सूख गए। **जेतवन-द्वार-कोष्टक** के समीप की जेतवन-

पुष्करिणी का जल भी सूख गया। घने कीचड़ में घुसकर लेटे हुए मच्छ-कच्छपों को कौए, चील आदि अपनी चोंचों से मार-मार, ले जाकर, फड़फड़ाते हुओं को खाते थे। शास्ता ने मत्स्य-कच्छपों के उस दुःख को देखकर, महती करुणा से प्रेरित हो, निश्चय किया—आज मुझे पानी बरसाना है।....भोजन के बाद सावत्थी से विहार को जाते हुए जेतवन-पुष्करिणी के **सोपान** पर खड़े हो आनंद स्थविर से कहा—आनंद, नहाने की धोती ला; जेतवन-पुष्करिणी में स्नान करेंगे।....शास्ता एक छोर से नहाने की धोती को पहन कर और दूसरे छोर से सिर को ढाँककर सोपान पर खड़े हुए।...पूर्वदिशा-भाग में एक छोटी सी घटा ने उठकर...बरसते हुए सारे कोसल राष्ट्र को बाढ़ जैसा बना दिया। शास्ता ने पुष्करिणी में स्नान कर, लाल दुपट्टा पहिन...... ।

यहाँ हमें मालूम होता है कि (१) पुष्करिणी जेतवन-द्वार के पास ही थी, (२) उसमें घाट बँधा हुआ था।

इस पुष्करिणी के पास वह स्थान था, जहाँ पर देवदत्त का जीते जी पृथिवी में समाना कहा गया है। फाहियान और युन्-च्वेङ दोनों ही देवदत्त को जेतवन में तथागत पर विष-प्रयोग करने के लिए आया हुआ कहते हैं, किंतु **धम्मपद अट्ठकथा** का वर्णन दूसरा ही है—

देवदत्त[1] ने, नौ मास बीमार रहकर अंतिम समय शास्ता के दर्शन के लिये उत्सुक हो, अपने शिष्यों से कहा—मैं शास्ता का दर्शन करना चाहता हूँ; मुझे दर्शन करवाओ। ऐसा कहने पर—समर्थ होने पर तुमने शास्ता के साथ वैरी का आचरण किया, हम तुम्हें वहाँ न ले जायँगे। तब देवदत्त ने कहा—मेरा नाश मत करो। मैंने शास्ता के साथ आघात किया, किंतु मेरे ऊपर शास्ता को केशाग्र मात्र भी क्रोध नहीं है। वे शास्ता वधिक देवदत्त पर, डाकू अंगुलिमाल पर, धनपाल और राहुल पर—सब पर—समान भाव वाले हैं। तब वह चार-पाई पर लेकर निकले। उसका आगमन सुनकर भिक्षुओं ने शास्ता से कहा...। शास्ता ने कहा—भिक्षुओ! इस शरीर से वह मुझे न देख सकेगा....। अब एक योजन पर आ गया है, आधे योजन पर, गावुत (=गव्यूति) भर पर, जेतवन पुष्करिणी के समीप...। यदि वह जेतवन के भीतर भी आ जाय, तो भी मुझे न देख सकेगा। देवदत्त को ले आने वाले **जेतवनपुष्करिणी** के तीर पर चारपाई

---

१. ध० प० १।१२। अ० क० ७४, ७५ (Commentary, Vol. I, p. 147) देवदत्तवत्थु। देखो दी० नि० सुत्त २ की अट्ठकथा भी।

को उतार पुष्करिणी में नहाने गए। देवदत्त भी चारपाई से उठ, दोनों पैरों को भूमि पर रखकर, बैठा। (और) वह वहीं पृथिवी में चला गया। वह क्रमशः घुट्टी तक, फिर ठेहुने तक, फिर कमर तक, छाती तक, गर्दन तक घुस गया। ठुड्डी की हड्डी के भूमि पर प्रतिष्ठित होते समय उसने यह गाथा कही—

इन आठ प्राणों से उस अग्रपुद्गल (=महापुरुष) देवातिदेव, नरदम्यसाखी समंतचक्षु शतपुण्यलक्षण बुद्ध के शरणागत हूँ।

वह अब से सौ हजार कल्पों बाद अट्ठिस्सर नामक प्रत्येक बुद्ध होगा— वह पृथिवी में घुसकर अवीचि नरक में उत्पन्न हुआ।

इस कथा में और ऐतिहासिक तथ्य चाहे कुछ भी न हो, किंतु इसमें संदेह नहीं कि देवदत्त के जमीन में धँसने की किंवदंती फाहियान के समय (पाँचवीं शताब्दी में) खूब प्रसिद्ध थी। वह उससे भी पहले की सिंहाली अट्ठकथाओं में वैसे ही थी, जिसके आधार पर फाहियान के समकालीन बुद्धघोष ने पाली अट्ठकथा में इसे लिखा। फाहियान ने देवदत्त के धँसने के इस स्थान को जेतवन के पूर्वद्वार पर राजपथ से ७० पद पश्चिम ओर, जहाँ चिंचा के धरती में धँसने का उल्लेख किया है, लिखा है।

युन्-च्वेङ ने इस स्थान के विषय में लिखा है—

"To the east of the convent about 100 paces is a great chasm, this is where Devedutta went down alive in to Hell after trying to poison Buddha. To the south of this, again is a great ditch; this is the place where the Bhikshu Kokali went down alive into Hell after slandering Buddha. To the south of this, about 800 paces, is thc Place where the Brahman woman Chancha went down alive into Hell after slandering Buddha. All these chasms are without any visible botton (or bottomless pits)." (Beal, *Life of H. T.*, pp. 93 and 94)

इनमें ऐतिहासिक तथ्य संभवतः इतना ही हो सकता है कि मरणासन्न देवदत्त को अंत में अपने किए का पश्चात्ताप हुआ और वह बुद्ध के दर्शन के लिए गया, किंतु जेतवन के दर्वाजे पर ही उसके प्राण छूट गए। यह मृत्यु पहले भूमि में धँसने में परिणत हुई। फाहियान ने उसे पृथिवी के फटकर बीच में जगह देने के रूप में सुना। युन्-च्वेङ के समय वह स्थान अथाह चँदवक में परि-

गत हो गया था। किंतु इतना तो ठीक ही है कि यह स्थान (१) पूर्वकोट्ठक के पास था; (२) पुष्करिणी के ऊपर था; (३) विहार (गंधकुटी) से १०० कदम पर था; और (४) चिंचा के धँसने का स्थान भी इसके पास ही था।

चिंचा के धँसने का स्थान द्वार के बाहर पास ही में अट्ठकथा में भी आता है, किंतु कोकालिक के धँसने का कहीं जिक्र नहीं आता। बल्कि इसके विरुद्ध उसका वर्णन सुत्तनिपात में इस प्रकार है--

कोकालिक ने जेतवन में भगवान् के पास जाकर कहा—भंते, सारिपुत्त मोग्गलान पापेच्छु हैं, पापेच्छाओं के वश में हैं। भगवान् ने उसे सारिपुत्त मोग्गलान के विषय में चित्त को प्रसन्न करने के लिये तीन बार कहा, किंतु उसने तीन बार उसी को दुहराया। वहाँ से प्रदक्षिणा करके गया तो उसके सारे बदन में सरसों के बराबर फुंसियाँ निकल आईं, जो क्रमशः बिल से भी बड़ी हो फूट गईं। फिर खून और पीब बहने लगा और वह इसी बीमारी से मरा।

इसमें कहीं कोकालिक के धँसने या बुद्ध को अपमानित करने का वर्णन नहीं है। इसमें शक नहीं, इसी सुत्तनिपात की अट्ठकथा में इस कोकालिय को देवदत्त के शिष्य कोकालिय से अलग बतलाया है, किंतु उसका भी जेतवन के पास भूमि में धँसना कहीं नहीं मिलता। चिंचा के भूमि में धँसने का उल्लेख फाहियान और युन्-च्वेङ दोनों ही ने किया है। लेकिन युन्-च्वेङ् ने ८०० कदम दक्षिण लिखा है, यद्यपि फाहियान ने चूहों से बंधन काटने और धँसने का स्थान एक ही लिखा है। पाली में यह कथा[१] इस प्रकार है—

पहली बोधी[१] (५२७-१३ ई० पू०) में तीर्थिकों ने बुद्ध के लाभ-सत्कार को देखकर उसे नष्ट करने की ठानी। उन्होंने **चिंचा** परिव्राजिका से कहा। वह श्रावस्ती-वासियों के धर्मकथा सुनकर जेतवन से निकलते समय इंद्रगोप के समान वर्णवाले वस्त्र को पहन गंधमाला आदि हाथ में ले जेतवन की ओर जाती थी। जेतवन के समीप के तीर्थिकाराम में वास कर प्रातः ही नगर से उपासक जनों के निकलने पर, जेतवन के भीतर रही हुई सी हो, नगर में प्रवेश करती थी। एक मास के बाद पूछने पर कहती थी—जेतवन में श्रमण गोतम के साथ एक गंधकुटी ही में सोई हूँ। आठ-नौ मास के बाद पेट पर गोल काष्ठ बाँधकर, ऊपर से वस्त्र पहन, सायाह्न समय, धर्मोपदेश करते हुए तथागत के

---

१. धम्मपद—अ० क० १३:१९

सामने खड़ी हो उसने कहा—"महाश्रमण, लोगों को धर्मोपदेश करते हो। मैं तुमसे गर्भ पाकर पूर्णगर्भा हो गई हूँ। न मेरे सूतिका-गृह का प्रबंध करते हो और न घी-तेल का। यदि आपसे न हो सके तो अपने किसी उपस्थापक ही से—कोसलराज से, अनाथपिंडक से या विशाखा से—करा दो....।" इस पर देवपुत्रों ने चूहे के बच्चे बन बंधन की रस्सी को काट दिया। लोगों ने यह देख उसके शिर पर थूककर उसे ढेले, डंडे आदि से मारकर जेतवन से बाहर किया। तथागत के दृष्टिपथ से हटने के बाद ही महापृथिवी ने फटकर उसे जगह दी।

इस कथा में तथागत के आँखों के सामने से चिंचा के अलग होते ही उसका पृथिवी में धँसना लिखा है। बुद्ध इस समय बुद्धासन पर (स्तूप H) बैठे रहे होंगे। दर्वाजे का बहिःकोष्ठक सामने ही था। द्वारकोट्ठक के पार होते ही उसका आँखों से ओझल होना स्वाभाविक है और इस प्रकार धँसने की जगह द्वारकोट्ठक के बाहर पास ही, पुष्करिणी के किनारे हो सकती है; जिसके पास, पीछे देवदत्त का धँसना कहा जाता है। यह फाहियान के भी अनुकूल है। काल बीतने के साथ कथाओं के रूप में भी अतिशयोक्ति होनी स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त युन्-च्वेङ् उस समय आए थे, जिस समय महायान भारत में यौवन पर था। महायान ऐतिहासिकता की अपेक्षा लोकोत्तरता की ओर अधिक झुकता है, जैसा कि महायान करुणापुंडरीक सूत्र आदि से खूब स्पष्ट है। इसीलिये युन्-च्वेङ की किंवदंतियाँ फाहियान की अपेक्षा अधिक अतिरंजित मिलती हैं। और इसीलिये युन्-च्वेङ की कथा में ही चिंचा को हम ८०० कदम और दक्षिण पाते हैं। युन्-च्वेङ का यह कथन कि देवदत्त के धँसने की जगह अर्थात् द्वारकोट्ठक के बाहर पुष्करिणी का घाट विहार (=गंधकुटी) से १०० कदम था, ठीक मालूम होता है; और इस प्रकार विहार F की पूर्वी दीवार से बिलकुल पास ही जेतवन के द्वारकोट्ठक का होना सिद्ध होता है। फिर ४८७ नंबरवाले खेत की निचली भूमि ही जेतवन की पुष्करिणी सिद्ध होती है।

कपल्ल-पूव-पब्भार—इसमें संदेह नहीं कि कितनी ही जगहों का आरम्भ अनैतिहासिक कथाओं पर अवलम्बित है, किन्तु इससे वैसे स्थानों का पीछे बना लिया जाना असत्य नहीं हो सकता। ऐसा ही एक स्थान जेतवन द्वारकोट्ठक में 'कपल्ल-पूव-पब्भार' था। कथा यों है—

राजगृह नगर[१] के पास एक सक्खर नाम का कस्बा था। वहाँ अस्सी करोड़

१. धम्मपदट्ठकथा, Vol. I, p. 373

धनवाला कौशिक नामक एक कंजूस सेठ रहता था। उसने एक दिन बहुत आगा-पीछा करके भार्या से पुआ खाने के लिये कहा। स्त्री ने पुआ बनाना आरम्भ किया। यह जान स्थविर महामोग्गलान उसी समय जेतवन से निकलकर ऋद्धिबल से उस कस्बे में सेठ के घर पहुँचे।....सेठ ने भार्या से कहा--भद्रे! मुझे पुओं की जरूरत नहीं, उन्हें इसी भिक्षु को दे दो।...स्थविर ऋद्धिबल से सेठ-सेठानी को पुओं के साथ लेकर जेतवन पहुँच गए। सारे विहार के भिक्षुओं को देने पर भी वह समाप्त हुआ सा न मालूम होता था। इस पर भगवान् ने कहा--इन्हें जेतवन द्वारकोट्ठक पर छोड़ दो। उन्होंने उसे द्वारकोट्ठक के पास के स्थान पर ही छोड़ दिया। आज भी वह स्थान कपल्ल-पूव-पब्भार के ही नाम से प्रसिद्ध है।

यह स्थान भी द्वारकोष्ठक के ही एक भाग में था, और इस जगह की स्मृति में भी कोई छोटा-मोटा स्तूप अवश्य बना होगा।

जेतवन के बाहर की बातों को समाप्त कर अब हमें जेतवन के अंदर की शेष इमारतों को देखना है। विनय के अनुसार अनाथपिंडक ने जेतवन के भीतर ये चीजें बनवाईं--विहार, परिवेण, कोठा, उपस्थानशाला, कप्पियकुटी, पाखाना, पेशाबखाना, चंक्रम (=टहलने की जगह), चंक्रमणशाला, उदपान (=प्याऊ), उदपानशाला, जंताघर (=स्नान-गृह), जंताघरशाला, पुष्करिणी और मंडप। जातक-अट्ठकथा[१] (निदान) के अनुसार इनका स्थान इस प्रकार है--मध्य में गंधकुटी, उसके चारों तरफ अस्सी महास्थविरों के अलग-अलग निवास-स्थान, एककुड्डक (=एकतला), द्विकुड्डक, हंसवट्टक, दीघशाला, मंडप आदि तथा पुष्करिणी, चंक्रमण, रात्रि को रहने के स्थान और दिन को रहने के स्थान।

चुल्लवग्ग[२] **के सेनासनक्खंधक** (६) से हमें निम्न प्रकार के गृहों का पता लगता है--

उपस्थानशाला--उस समय भिक्षु खुली जगह में खाते समय शीत से भी, उष्ण से भी कष्ट पाते थे। भगवान् से कहने पर उन्होंने कहा--मैं अनुमति देता हूँ कि उपस्थानशाला बनाई जाय, ऊँची कुरसीवाली, ईंट, पत्थर या लकड़ी से

१. जातक, १।८।८

२. विनयपिटक।

चिनकर; सीढ़ी भी ईंट, पत्थर या लकड़ी की; बाँह आलंबन भी; लीप-पोतकर, सफेद या काले रंग की गेरू से सँवारी, माला लता, चित्रों से चित्रित, खूँटी, चीवर-बाँस चीवर-रस्सी के सहित।

जेतवन में भी ऐसी उपस्थानशाला थी, जिसका वर्णन सूत्रों में बहुत आता है। जेतवन की यह उपस्थानशाला लकड़ी की रही होगी तथा नीचे ईंटें बिछी रही होंगी।

जेतवन के भीतर हम इन इमारतों का वर्णन पाली स्रोत से पाते हैं—करेरिकुटिका, कोसंबकुटी, गंधकुटी, सललघर, करेरिमंडलमाल, करेरिमंडप, गंधमंडलमाल, उपट्ठानशाला (=धर्म्मसभामंडप), नहानकोट्ठक, अग्गिशाला, अंबलकोट्ठक (=आसनशाला, पानीयशाला), उपसंपदामालक। यद्यपि सललघर जेतवन के भीतर लिखा मिलता है; किंतु ज्ञात होता है कि जेतवन से यहाँ जेतवन-राजकाराम अभिप्रेत है और सललघर राजकाराम की ही गंधकुटी का नाम था।

करेरिकुटिका और करेरिमंडलमाल—दीघनिकाय[१] में आता है—एक समय भगवान् जेतवन में अनाथपिंडक के आराम, करेरिकुटिका में, विहार करते थे। भोजन के बाद करेरिमंडलमाल में इकट्ठा बैठे हुए बहुत से भिक्षुओं में पूर्वजन्म-संबंधी धार्मिक चर्चा चल पड़ी। भगवान् ने उसे दिव्य श्रोत्र-धातु से सुना।

इस पर टीका करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने लिखा है—

करेरि वरुण वृक्ष का नाम है। करेरि वृक्ष उस कुटी के द्वार पर था, इसी लिए करेरिकुटिका कही जाती थी; जैसे कोसंब वृक्ष के द्वार पर होने से कोसंब-कुटिका। जेतवन के भीतर करेरिकुटी, कोसंबकुटी, गंधकुटी, सललघर ये चार बड़े घर (महागेह) थे। एक एक सौ हजार खर्च करके बनवाए गए थे। उनमें सललघर राजा प्रसेनजित् द्वारा बनवाया गया था, बाकी अनाथपिंडक गृहपति द्वारा। इस तरह अनाथपिंडक गृहपति द्वारा स्तंभों के ऊपर बनवाई हुई देवविमान-समान करेरिकुटिका में भगवान् विहार करते थे[२]।

---

१. दी० नि० महापदानसुत्त।

२. दी० नि० अट्ठकथा, II, पृ० २६९—

"एकं समयं भगवा सावत्थियं विहरति जेतवने अनाथपिंडिकस्स आरामे करेरिकुटिकायं। अथ खो संबहुलानं भिक्खूनं पच्छाभत्तं पिंडपातपटिक्कन्तानं करेरि-मंडल-माले सन्निसिन्नानं सन्निपतितानं पुब्बे-निवासपरिसंयुत्ता धम्मिय-कथा उदपादि—'इति पुब्बे-निवासो इति पुब्बे निवासोति'।"

सूत्र से हमें मालूम होता है कि जेतवन के भीतर (१) करेरिकुटिका थी, जो संभवतः गंधकुटी, कोसंबकुटी की भाँति सिर्फ बुद्ध ही के रहने के लिए थी; (२) उससे कुछ हटकर करेरिमंडलमाल था। बिल्कुल पास होने पर दिव्य कर्ण के सुनने की कोई आवश्यकता न थी। अट्ठकथा से मालूम होता है कि इस (३) कुटी के द्वार पर करेरी का वृक्ष था, इसीलिये इसका नाम करेरिकुटिका पड़ा था। इतना ही नहीं, कोसंबकुटी का नाम भी द्वार पर कोसंब वृक्ष के होने से पड़ा था। (४) अनाथपिंडक द्वारा यह करेरिकुटी लकड़ी के खंभों के ऊपर बहुत ही सुंदर बनाई गई थी। करेरिमंडलमाल पर टीका करते हुए बुद्धघोष कहते हैं–"उसी करेरि-मंडप[१] के अविदूर (=बहुत दूर नहीं) बनी हुई निसीदनशाला (को करेरिमंडलमाल कहते हैं)। वह करेरिमंडप, गंधकुटी और निसीदनशाला के बीच में था। इसीलिये गंधकुटी भी करेरिकुटिका, और शाला भी करेरिमंडलमाल कहा जाता था।" उदान में भी—'एक बार[२] बहुत से भिक्षु करेरिमंडलमाल में इकट्ठे बैठे थे' देखा जाता है। टीका करते हुए अट्ठकथा में आचार्य धर्मपाल लिखते हैं—"करेरि[३] वरुण वृक्ष का नाम है। वह गंधकुटी, मंडप और शाला के बीच में था। इसीलिए गंधकुटी भी करेरिकुटी कही जाती थी, मंडप भी, और शाला भी करेरिमंडलमाल। प्रतिवर्ष बननेवाले घास-पत्ती के छप्पर को मंडलमाल कहते हैं। दूसरे कहते हैं, अतिमुक्त आदि लताओं के मंडप को मंडलमाल कहते हैं।

यहाँ दी० नि० अट्ठकथा में 'करेरिमंडप, गंधकुटी और निसीदनशाला के बीच में था।' उदान अट्ठकथा में 'करेरि वृक्ष गंधकुटी, मंडप और शाला के बीच में था', जिसमें 'मंडप' को 'गंधकुटी-मंडप' स्वीकार किया जा सकता है, किंतु आगे 'इसी के लिये गंधकुटी भी...., मंडप भी और शाला भी...., से मालूम होता है कि यहाँ करेरिकुटी, करेरिमंडप, करेरिमंडलमाला ये तीन अलग चीजें हैं, और इन तीनों के बीच में करेरि वृक्ष था।' लेकिन दीघनिकायअट्ठकथा का 'वह करेरिमंडप गंधकुटी और निसीदनशाला के बीच में था'—यह कहना फिर करेरिमंडप को संदेह में डाल देता है। इससे तो मालूम होता है 'करेरिवृक्ष' की जगह पर 'करेरिमंडप' भ्रम से लिखा गया जान पड़ता है। यद्यपि इस प्रकार

---

१. दी० नि० अ० क०।

२. (उदान—३।८)—"करेरिमंडलमाले सन्निसिन्नानं सन्निपतितानं अयं अंतराकथा उदपादि।"

३. उदानट्ठकथा, पृ० १३५

करेरिमंडप का होना संदिग्ध हो जाता है; तो भी इसमें संदेह नहीं कि करेरि वृक्ष कि करेरिकुटी के सामने था, जिसके आगे करेरिमंडलमाल। जेतवन में सभी प्रधान इमारतें गंधकुटी की भाँति पूर्व मुँह ही थीं। करेरिकुटी के द्वार पर पूर्व तरफ एक करेरि का वृक्ष था, और उससे पूर्व तरफ (१) करेरिमंडलमाल था, जिसमें भोजनोपरांत भिक्षु इकट्ठे होकर धर्म-चर्चा किया करते थे। (२) यह मंडलमाल प्रतिवर्ष फूस से छाया जाता था, इसलिये कोई स्थायी इमारत न थी।

यहाँ हमें यह कुछ भी नहीं पता लगता कि करेरिकुटी, कोसंबकुटी और गंधकुटी से किस ओर थी। यदि हम **'करेरिकुटी, कोसंबकुटी गंधकुटी'** इस क्रम को उनका क्रम मान लें, तो करेरिकुटी कोसंबकुटी से भी पश्चिम थी। यहाँ सललघर को इस क्रम से नहीं मानना होगा क्योंकि यह तैर्थिकों की जगह पर राजा प्रसेनजित् का बनवाया हुआ आराम था। यह जेतवन के बाहर होने पर भी शायद समीपता के कारण उसमें ले लिया गया था। ऐसा होने पर विहार नं० ५ को हम करेरिकुटी मान सकते हैं। करेरि का वृक्ष उसके द्वार पर पूर्वोत्तर के कोने में था, और **करेरिमंडलमाल** उससे पूर्वोत्तर में।

उपट्ठानसाला (उपस्थानशाला)—खुद्दकनिकाय के उदान ग्रंथ में आता है—"एक समय[१] भगवान् श्रावस्ती में अनाथपिंडक के आराम जेतवन में विहार करते थे। उस समय भोजन के बाद, उपस्थानशाला में इकट्ठे बैठे, बहुत से भिक्षुओं में यह कथा होती थी। इन दोनों राजाओं में कौन बड़ा....है, राजा मागध सेनिय बिंबिसार अथवा राजा प्रसेनजित् कोसल।....उस समय ध्यान से उठकर भगवान् शाम के वक्त उपट्ठानशाला में गए और बिछे आसन पर बैठे।"

इसकी अट्ठकथा में आचार्य धर्मपाल लिखते हैं—

'भगवान्[२] ने...भोजनोपरांत...गंधकुटी में प्रवेशकर फलसमापत्ति सुख के साथ दिवस-भाग को व्यतीतकर (सोचा).. अब चारों परिषद् (भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका) मेरे आने की प्रतीक्षा में सारे विहार को पूर्ण करती बैठी है, अब धर्मदेशना के लिये धर्म-सभा-मंडल में जाने का समय है...।'

---

१. तेन खो पन समयेन उपट्ठानसालायं सन्निसिन्नानं सन्निपतितानं अयमन्तरा-कथा उदपादि।"—उदान, २।२

२. उदानट्ठकथा, पृ० ७२ (सिंहललिपि)

इससे मालूम होता है कि उपस्थानशाला (१) जेतवन में भिक्षुओं के एकत्र होकर बैठने की जगह थी; (२) तथागत सायंकाल को उपदेश देने के लिये वहाँ जाते थे। अट्ठकथा से इतना और मालूम होता है—(३) इसी को धर्म-सभा-मंडल भी कहते थे। (४) यह गंधकुटी के पास थी; (५) सायंकाल को धर्मोपदेश सुनने के लिये भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका सभी यहाँ इकट्ठे होते थे; (६) मंडल शब्द से करेरिमंडल की भाँति ही यह भी शायद फूस के छप्परों से प्रतिवर्ष छाई जानेवाली इमारत थी; (७) ये छप्पर शायद गंधकुटी के पासवाली भूमि पर पड़े थे, इसीलिये 'सारे विहार को पूर्ण करतो' शब्द आया है।

गंधकुटी के पासवाले गंधकुटी-परिवेण के विषय में हम कह चुके हैं। यह गंधकुटी के सामने का आँगन था। गंधकुटी की शोभा के ढँक जाने के खयाल से इस जगह उपस्थानशाला नहीं हो सकती। यह संभवतः गंधकुटी से लगे हुए उत्तर तरफ के भू-खंड पर थी, जिसमें स्तूप नं० ८ या ९ शायद बुद्धासन के स्थान पर हैं।

स्थानकोष्ठक—अंगुत्तरनिकाय-अट्ठकथा का उद्धरण दे चुके हैं—"भोजनो-परांत वाले कृत्य (तीसरे पहर के कृत्य—उपदेश आदि) के समाप्त होने पर, यदि बुद्ध नहाना (=गात्र धोना) चाहते थे, तो बुद्धासन से उठकर स्नानकोष्ठक में.... शरीर को ऋतु ग्रहण कराते थे।" (१) यह स्नानकोष्ठक गंधकुटी के पास था। (२) गंधकुटी के पास का कुआँ भी इसके पास ही हो सकता है। (३) यह अलग नहाने की एक छोटी सी कोठरी रही होगी।

इन पर विचार करने से विहार नं० २ के कुएँ के पासवाला स्तूप K स्नान-कोष्ठक का स्थान मालूम होता है, जिसके विषय में सर जान मार्शल ने लिखा है—

The character is not wholly apparent. It cansists of a chamber, 12′ 8″ spuare, with a paved passage around enclosed by an outer wall. The floor of the inner chamber and the passage around it are paved in briks of the same size 13″ × 9 × 2½″ (of Kushana Period) as those used in the walls........absence of any doorway. In all probability, ir was a stupa with a relic-chamber within and a paved walk outside; and the outer wall was added at a later date...A few feet to the south west of this structure is a

carefully constructed well; which appears to be of a slightly later date than the building K...The bricks are of the same size as those in the building K...sweet and clear water......

जंताघर (=अग्निशाला)—इसके बारे में धम्मपद अट्ठकथा के वाक्य ये हैं—

सड़े शरीरवाला तिष्य[१] स्थविर अपने शिष्य आदि द्वारा छोड़ दिया गया था। (भगवान् ने सोचा) इस समय मुझे छोड़ इसका दूसरा कोई अवलंब नहीं; और गंधकुटी से निकल विहारचारिका करते हुए, अग्निशाला में जा जलपात्र को धो चूल्हे पर रख जल को गर्म हुआ जान, जाकर उस भिक्षु के लेटने की खाट का किनारा पकड़ा। तब भिक्षु खाट को अग्निशाला में लाये। शास्ता ने इसके पास खड़े हो गर्म पानी से शरीर को भिगोकर मल-मलकर नहलाया। फिर वह हल्के शरीर हो और एकाग्रचित्त हो, खाट पर लेटा। शास्ता ने उसके सिरहाने खड़े हो यह गाथा कह उपदेश दिया—

"देर नहीं है कि तुच्छ, विज्ञान-रहित, निरर्थक काष्ठखंड सा यह शरीर पृथ्वी पर लेटेगा।...देशना के अंत में वह अर्हत्व को प्राप्त हो, परिनिर्वृत्त हुआ। शास्ता ने उसका शरीरकृत्य कराकर हड्डियाँ ले चैत्य बनवाया।"

जंताघर[२] और अग्निशाला दोनों एक ही चीज हैं। चुल्लवग्ग में अग्निशाला के विधान में यह वाक्य है—

"अनुज्ञा[३] देता हूँ, एक तरफ अग्निशाला...ऊँची कुर्सी की..., ईंट पत्थर या लकड़ी से चुनी..., सोपान...आलंबनबाहु-सहित...।"

महावग्ग में सामणेर का कर्त्तव्य वर्णन करते हुए जंताघर के संबंध में इस प्रकार कहा गया है—

"यदि[४] उपाध्याय नहाना चाहते हों।...यदि उपाध्याय जंताघर में जाना चाहते हों, तो चूर्ण ले जाना चाहिए, मिट्टी भिगोनी चाहिए। जंताघर के पीठ (=चौकी) को लेकर उपाध्याय के पीछे-पीछे जाकर, जंताघर में पीठ

---

१. ध० प० ४ : ८, अ० क० १५७

२. 'जंताघरं त्वग्गिसाला" (अभिधानप्पदीपिका २१४)।

३. "अनुजानामि भिक्खवे एकमन्तं अग्गिसालं कातुं...उच्चवत्थुकं इट्ठिकाचयं सिलाचयं दारुचयं...सोपान...आलंबनवाहं...।" (सेनासनक्खंधक, ६)

४. विनयपिटक, महा० व०, p. 43

देकर, चीवर एक तरफ रखना चाहिए। चूर्ण देना चाहिए। मिट्टी देनी चाहिए।...जल में भी उपाध्याय का परिकर्म करना (=मलना) चाहिए। नहाकर पहले ही निकलकर अपने गात्र को निर्जलकर वस्त्र पहनकर, उपाध्याय के गात्र से जल सम्मार्जित करना चाहिए। वस्त्र देना चाहिए, संघाटी देनी चाहिए। जंताघर के पीठ को लेकर पहले ही (निवासस्थान पर) आकर आसन ठीक करना चाहिए...।"

जंताघर का वर्णन और भी है[१]—

"अनुज्ञा देता हूँ (जंताघर को) उच्च-वस्तुक करना...किवाड़...सूचिक, घटिक, तालछिद्र ···धूमनेत्र...छोटे जंताघर में एक तरफ अग्निस्थान, बड़े के मध्य में...। (जंताघर में कीचड़ होता था इसलिये) ईंट, पत्थर या लकड़ी से गच करना,···पानी का रास्ता बनाना...जंताघर-पीठ...., ईंट, पत्थर या लकड़ी के प्राकार से परिक्षेप करना...।" इन उद्धरणों से मालूम होता है कि (१) जंताघर संघाराम के एक छोर पर होता था। (२) यह नहाने की जगह थी। (३) ईंट, पत्थर या लकड़ी की चुनी हुई इमारत होती थी। (४) उसमें पानी गर्म करने के लिये आग जलाई जाती थी, इसीलिये उसे अग्निशाला भी कहते हैं। (५) उसमें किवाड़, ताला-चाभी भी रहती थी। (६) धुएँ की चिमनी भी होती थी। (७) बड़े जंताघरों में आग जलाने का स्थान बीच में, छोटों में एक किनारे पर। (८) जंताघर की भूमि ईंट, पत्थर या लकड़ी से ढकी रहती थी। (९) उसमें पीढ़े पर बैठकर नहाते थे। (१०) वह ईंट, पत्थर या लकड़ी की दीवार से घिरा रहता था।

जेतवन का जंताघर भी जेतवन के अगल-बगल एक कोने में रहा होगा, जो ऊपर वर्णन किये गए तरीके पर संभवतः ईंट और लकड़ी से बना होगा। ऐसा स्थान जेतवन के पूर्व-दक्षिण कोण में संभव हो सकता है; अर्थात् विहार B के आसपास।

आसनशाला, अंबलकोट्ठक—जातकट्ठ कथा में इसके लिये यह शब्द है—

"अंबलकोष्ठक[२] आसनशाला में भात खानेवाले कुत्ते के संबंध में कहा। उस (कुत्ते) को जन्म से ही पनभरों ने लेकर वहाँ पाला था।" इससे हमें ये

---

१. विनयपिटक, चुल्ल वग्ग, खुद्दकवत्थुक्खंधक, pp. 213, 214

२. जातक, २४२

बातें मालूम होती हैं—(१) जेतवन में आसनशाला थी; (२) जिसके पास या जिसमें ही अंबलकोष्ठक नाम की कोई कोठरी थी; (३) जिसमें पानी भरनेवाले अक्सर रहा करते थे; (४) पानीशाला या उदपानशाला भी यहीं पास में थी।

यह स्थान भी गंधकुटी से कुछ हटकर ही होना चाहिए। पनभरों के संबंध से मालूम होता है, यह भी जंताघर (विहार B) के पास ही कहीं पर रहा होगा।

उपसंपदामालक—"फिर[1] उसको स्थविर ने जेतवन में ले आकर अपने हाथ से ही नहलाकर, मालक में खड़ा कर प्रव्रजित कर, उसकी लँगोटी और हल को मालक की सीमा ही में वृक्ष की डाल पर रखवा दिया।"

अन्यत्र धम्मपद (८:११ अ० क०) में भी उपसंपदामालक नाम आता है।

यह संभवतः गंधकुटी के पास कहीं एक स्थान था, जहाँ प्रव्रज्या दी जाती थी। जेतवन में वैसे सभी जगह वृक्ष हीं वृक्ष थे, अतः इसकी सीमा में वृक्ष का होना कोई विशेषता नहीं रखता।

आनंदबोधि—आखिरी चीज जो जेतवन के भीतर रह गई वह आनंद बोधि है। जातकट्ठकथा में उसके लिये यह वाक्य हैं—

"आनंद[2] स्थविर ने रोपा था, इसलिये आनंदबोधि नाम पड़ा। स्थविर द्वारा जेतवनद्वारकोष्ठक के पास बोधि (=पीपल) का रोपा जाना सारे जम्बूद्वीप में प्रसिद्ध हो गया था।"

भरहुत की जेतवन-पट्टिका में भी गंधकुटी के सामने, कोसंबकुटी से पूर्वोत्तर के कोण पर, वेष्टनी से वेष्टित एक वृक्ष दिखाया गया है, जो संभवतः आनन्दबोधि ही है। यद्यपि उपर्युक्त उद्धरण से यह नहीं मालूम होता कि यह पीपल का वृक्ष द्वारकोष्ठक के बाहर था या भीतर; किंतु अधिकतर इसका भीतर ही होना सम्भव है, क्योंकि ऐसा पूजनीय वृक्ष जेतवन खास के भीतर होना चाहिए। पट्टिका में भीतर ही दिखलाया गया है, क्योंकि उसमें द्वार कोष्ठक छोड़ दिया गया है।

वड्ढमान—जेतवन के भीतर यह एक और प्रसिद्ध वृक्ष था। धम्मपदट्ठकथा में—"आनन्द, आज वर्द्धमान की छाया में....चित्त...मुझे वंदना करेगा।...

---

१. ध० प०, २५१:१०, अ० क०

२. जातक, २६१

वन्दना के समय राजा-मान से आठ करीस प्रमाण प्रदेश में....दिव्य पुष्पों की घनी वर्षा होगी।" (ध० प० ५:१४, अ० क० २५०)। यह चित्त गृहपति तथागत के सर्वश्रेष्ठ गृहस्थ शिष्यों में था। तथागत ने इसके बारे में स्वयं कहा है—"भिक्षुओ, श्रद्धालु उपासक अच्छी प्रार्थना करते हुए यह प्रार्थना करे, वैसा होऊँ जैसा कि चित्त गहपति।" (अ० नि० ३-२-२-५३)।

सुंदरी--जेतवन के सम्बन्ध में एक और प्रसिद्ध घटना (जो अट्ठकथा और चीनी परिव्राजकों के विवरण ही नहीं, वरन् त्रिपिटक के मूलभाग उदान में भी, मिलती है) सुंदरी परिव्राजिका की है। उदान में इसका उल्लेख इस प्रकार है--

"भगवान जेतवन[१] में विहरते थे। उस समय भगवान् और भिक्षु संघ सत्कृत पूजित, पिंडपात, शयनासन, ग्लानप्रत्य भैषज्यों के लाभी थे, लेकिन अन्य तीर्थिक परिव्राजक असत्कृत...थे। तब वे तीर्थिक, भगवान् और भिक्षु संघ के सत्कार को न सहते हुए, सुंदरी परिव्राजिका के पास जाकर बोले—

'भगिनी! ज्ञाति की भलाई करने का उत्साह रखती हो?--मैं क्या करूँ आर्यो! मेरा किया क्या नहीं हो सकता? जीवन भी मैंने ज्ञाति के लिये अर्पित कर दिया है।--तो भगिनी बार-बार जेतवन जाया कर।--बहुत अच्छा आर्यो! यह कह., सुन्दरी परिव्राजिका बराबर जेतवन जाने लगी। जब अन्य तीर्थिक परिव्राजकों ने जाना, कि बहुत लोगों ने सुन्दरी......को बराबर जेतवन जाते देख लिया, तो उन्होंने उसे जान से मारकर वहीं **जेतवन की खाई** में कुआँ खोदकर डाल दिया और राजा प्रसेनजित् कोसल के पास जाकर कहा—महाराज! जो वह सुन्दरी परिव्राजिका थी, सो नहीं दिखलाई पड़ती।—तुम्हें कहाँ सन्देह है?—जेतवन में महाराज—तो जाकर जेतवन को ढूँढ़ो। तब (उन्होंने) जेतवन में ढूँढ़कर अपने खोदे हुए परिखा के कुएँ से निकालकर खाट पर डाल श्रावस्ती में प्रवेश कर एक सड़क से दूसरी सड़क, एक चौराहे से दूसरे चौराहे पर जाकर आदमियों को शंकित कर दिया—"देखो आर्यो! शाक्यपुत्रीय श्रमणों का कर्म, ये अलज्जी, दुःशील, पापधर्म, मृषावादी, अब्रह्मचारी हैं।......इनको श्रामण्य नहीं, इनको ब्रह्मचर्य नहीं। इनका श्रामण्य, ब्रह्मचर्य नष्ट हो गया है।......कैसे पुरुष पुरुष-कर्म करके स्त्री को जान से मार देगा?

उस समय सावत्थी में लोग भिक्षुओं को देखकर (उन्हें) असभ्य और कड़े

---

१. उदान, ४:८ (मेघियवग्ग)।

शब्दों से फटकारते थे, परिहास करते थे···। तब बहुत से भिक्षु श्रावस्ती से···· पिंडपात करके····भगवान् के पास जाकर बोले....––इस समय भगवान् ! श्रावस्ती में लोग भिक्षुओं को देखकर असभ्य और कड़े शब्दों से फटकारते हैं....। यह शब्द भिक्षुओ ! चिरकाल तक नहीं रहेगा, एक सप्ताह में समाप्त हो लुप्त हो जायगा........। (और) वह, शब्द चिरकाल तक नहीं रहा, सप्ताह भर ही रहा....।"

धम्मपद अट्ठकथा में यह भी कथा आई है वहाँ यह विशेषता है––....तब तीर्थिकों[1] ने कुछ दिनों के बाद गुंडों को कहापण देकर कहा––जाओ सुन्दरी को मारकर श्रमण गोतम की गंधकुटी के पास मालों के कूड़े में डाल आओ....।....राजा ने कहा—तो (मुर्दा लेकर) नगर में घूमो।... (फिर) राजा ने सुन्दरी के शरीर को कच्चे श्मशान में मचान बाँधकर रखवा दिया। ....गुंडों ने उस कहापण से शराब पीते ही झगड़ा किया (और रहस्य खोल दिया)....। राजा ने फिर तीर्थिकों को कहा––जाओ, यह कहते हुए नगर में घूमो कि यह सुन्दरी हमने मरवाई....। (फिर) तीर्थिकों ने भी मनुष्य-वध का दंड पाया।

उदान में कहा है––(१) तीर्थिकों ने खुद मारा। (२) जेतवन की परिखा में कुआँ खोदकर सुन्दरी के शरीर को दबा दिया। (३) सप्ताह बाद अपनी ही बदनामी रह गई। लेकिन धम्मपद अट्ठकथा में––(१) तीर्थिकों ने गुंडों से मरवाया। (२) जेतवन की गंधकुटी के पास माला के कूड़े में सुन्दरी के शरीर को डाल दिया। (३) धूर्तों ने शराब के नशे में भंडा फोड़ दिया। (४) तीर्थिकों को भी मनुष्य-वध का दंड मिला। यहाँ यद्यपि अन्य अंशों का समाधान हो सकता है, तथापि उदान का 'परिखा में गाड़ना' और अट्ठकथा का गंधकुटी के पास कूड़े में डालना, परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ते हैं। आरामों के चारों ओर परिखा होती थी, इसके लिये विनयपिटक में यह वचन है—"उस[2] समय आराम में घेरा नहीं था, बकरी आदि पशु भी पौधों का नुकसान करते थे। भगवान् से यह बात कही। (भगवान् ने कहा)—बाँस-वाट, कंटकीवाट, परिखा वाट इन तीन वाटों (=रुँधान) से घेरने की अनुज्ञा देता हूँ।" यह परिखा-

---

१. ध० प०, २२—१, अ० क०, ५७१

२. विनयपिटक चुल्लवग्ग, सेनासन० ६, पृ० २५०

आराम के चारों ओर होने से गंधकुटी के समीप नहीं हो सकती। दोनों का विरोध स्पष्ट ही है। ऐसे भी उदान मूल सूत्रों से सम्बन्ध रखता है, इसलिये उसकी, अट्ठकथा से अधिक प्रामाणिकता है। दूसरे उसका कथन भी अधिक सम्भव प्रतीत होता है। परिखा दूर होने से वहाँ आदमियों के आने-जाने का उतना भय न था, इसलिये खून करने का वही स्थान हत्यारों के अधिक अनुकूल था। गंधकुटी जो मुख्य दर्वाजे के पास थी, वहाँ लोगों का बराबर आना-जाना रहता था। शरीर ढाँकने भर के लिये मालाओं के ढेर का गंधकुटी के पास जमा करके रखना भी अस्वाभाविक है।

युन्-च्वेङ् ने लिखा है—

Behind the convent, not far, is where the Brahmachari heretics killed women and accused Buddha of the murder. (*The Life of Hiuen Tsang, P.* 93)

फाहियान ने इनके लिये कोई विशेष स्थान निर्दिष्ट नहीं किया है।

परिखा—सुंदरी के इस वर्णन से यह भी पता लगता है कि जेतवन के चारों ओर परिखा खुदी हुई थी। इसलिये बाँस या काँटे की बाड़ नहीं रही होगी।

इन इमारतों के अतिरिक्त जेतवन के अंदर पेशाबखाने, पाखाने, चंक्रमण-शालाएँ भी थीं; किन्तु इनका कोई विशेष उद्धरण नहीं मिलता।

जेतवन बनने का समय—जेतवन-निर्माण में दिए विनय के प्रमाण से पता लगता है कि बुद्ध को राजगृह में अनाथपिंडक ने वर्षावास के लिये निमंत्रित किया था। फिर वर्षा भर रहने के लिये स्थान खोजते हुए उसे जेतवन दिखलाई पड़ा और फिर उसने बहुत धन लगाकर वहाँ अनेक सुन्दर इमारतें बनवाईं। यद्यपि सूत्र और विनय में हमें बुद्ध के वर्षावासों की सूची नहीं मिलती तो भी अट्ठकथाएँ इसकी पूरी सूचना देती हैं। अंगुत्तरनिकाय अट्ठकथा (८।४।५) में यह इस प्रकार है—

वर्षा०	ई० पू०	
१	(५२७)	ऋषिपतन (सारनाथ)
२	(५२६)	राजगृह (वेलुवन)
३	(५२५)	,, ,,
४	(५२४)	,, ,,
५	(५२३)	वैसाली (महावन)

वर्षा०	ई० पू०	
६	(५२२)	मंकुल पर्वत
७	(५२१)	तावतिसभवन (त्रायस्त्रिंश लोक)
८	(५२०)	भर्ग (सुंसुमारगिरि = चुनार)
९	(५१९)	कौशांबी
१०	(५१८)	पारिलेय्यकवनसंड
११	(५१७)	नाला
१२	(५१६)	वेरंजा
१३	(५१५)	चालिय पर्वत
१४	(५१४)	जेतवन
१५	(५१३)	कपिलवत्तु
१६	(५१२)	आलवी
१७	(५११)	राजगृह
१८	(५१०)	चालिय पर्वत
१९	(५०९)	चालिय पर्वत
२०	(५०८)	राजगृह
२१	(५०७)	श्रावस्ती
२२	(५०६)	,,
२३	(५०५)	,,
२४	(५०४)	,,
२५	(५०३)	,,
२६	(५०२)	,,
२७	(५०१)	,,
२८	(५००)	,,
२९	(४९९)	,,
३०	(४९८)	,,
३१	(४९७)	,,
३२	(४९६)	,,
३३	(४९५)	,,
३४	(४९४)	,,
३५	(४९३)	,,

वर्षा०	ई० पू०	
३६	(४९२)	श्रावस्ती
३७	(४९१)	,,
३८	(४९०)	,,
३९	(४८९)	,,
४०	(४८८)	,,
४१	(४८७)	,,
४२	(४८६)	,,
४३	(४८५)	,,
४४	(४८४)	,,
४५	(४८३)	वैशाली (बेलुवगाम)

इसके देखने से मालूम होता है कि तथागत ने जेतवन में सर्वप्रथम वर्षावास बोधि के चौदहवें वर्ष में किया था। इसका अर्थ यह भी है कि जेतवन बना भी इसी वर्ष (५१४-५१३ ई० पू०) में था, क्योंकि विनय का कहना साफ है कि अनाथपिंडक ने वर्षावास के लिये निमंत्रित किया था और विनय के सामने अट्ठकथा का प्रमाण नहीं। यहाँ इस बात पर विचार करने के लिये कुछ और प्रमाणों पर विचार करना होगा।

वर्षावास के लिये जेतवन में निमंत्रित होना इसलिये जब जेतवन को पहले गये, तो वर्षावास भी वहीं किया।

(क) कौशांबी[१] में भिक्षुओं के कलह के बाद पारिलेयक में जाकर रहना, वहाँ से फिर जेतवन में।

(ख) उदान[२] में एकांत विहार के लिये पारिलेयक में जाना लिखा है, झगड़े का जिक्र नहीं।

---

१. "कोसंबियं पिंडाय चरित्त्वा....संघमज्झे ठितको'व....गाथाय भासित्वा ....बालकलोणकारगामे....। अथ....पाचीनवंसदाये....। अथ....पारिलेय्यके.... यथाभिरत्तं विहरित्त्वा....अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो....सावत्थियं....जेतवने....।"
—महावग्ग, कोसंबक्खन्धक १०, ४०४—४०८, पृष्ठ।

२. "भगवा कोसंबियं विहरति घोसितारामे। तेन खो पन समयेन भगवा आकिण्णो विहरति भिक्खूहि, भिक्खुनीहि उपासकेहि उपासिकाहि राजूहि राजमहामत्तेहि तित्थियेहि तित्थियसावकेहि आकिण्णो दुक्खं न फासु विहरति।....

(ग) संयुत्तनिकाय[१] में एकांत विहार का भी जिक्र नहीं। बिलकुल चुपचाप पारिलेयक का चला जाना लिखा है। पीछे चिरकाल के बाद आनंद का भिक्षुओं के साथ जाना, किंतु हाथी आदि का वर्णन नहीं।

(घ) धम्मपद अट्ठकथा[२] में झगड़े के विस्तार का वर्णन है, और महावग्ग की तरह यात्रा करके पारिलेयक में जाना तथा वहाँ वर्षावास करना। वर्षावास के बाद फिर वहाँ से जेतवन जाना भी लिखा है।

यद्यपि चारों जगहों की कथाओं में परस्पर कितना ही भेद है, किन्तु संयुत्त-निकाय से भी, जो निःसन्देह सबसे पुरातन प्रमाण है, चिरकाल तक पारिलेय्यक में वास करना मालूम होता है, क्योंकि वहाँ भिक्षु आनंद से कहते हैं—'आयुष्मान् आनन्द! भगवान् के मुख से धर्मोपदेश सुने बहुत दिन हुए।' संयुत्तनिकाय के बाद उदान का नंबर है। वहाँ झगड़े का जिक्र नहीं, तो भी चिरकाल तक वहाँ रहना लिखा है। यद्यपि इन दोनों पुराने प्रमाणों में पारिलेय्यक से श्रावस्ती जाना नहीं लिखा है, तो भी पारिलेय्यक में अधिक समय का वास वर्षावास के विरुद्ध

अथ खो भगवा....अनामंतेत्वा उपट्ठाके अनपलोकेत्त्वा भिक्खुसंघं एको अदुतीयो येन परिलेय्यकं तेन चारिकं पक्कामि। अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो येन पारिलेय्यकं तदवसरि। तत्तसुदं भगवा पारिलेय्यके विहरति रक्खितवनसंडे भद्दसालमूले। अञ्ञातरोपि खो हत्थिनागो...येन भगवा तेनुपसंकमि।"

—उदान, ४।५

१. "एकं समयं भगवा कोसंबियं विहरति घोसितारामे।....कोसंबियं पिंडाय चरित्वा....अनामंतेत्वा उपट्ठाके, अनपलोकेत्त्वा भिक्खुसंघं, एको अदुतीयो चारिकं पक्कामि।....एकको भगवा तस्मिं समये विहरितुकामो होति।.... अथ खो भगवा अनुपुब्बेन चारिकं चरमानो येन पारिलेय्यकं तदवसरि। तत्थ सुदं पारिलेय्यके विहरति भद्दसालमूले।....अथ खो संबहुला भिक्खू..आनंदं उपसंकमित्त्वा...चिरस्सं सुता खो नो आवुसो आनंद भगवतो सम्मुखा धम्मियकथा।...अथ खो...आनंदो तेहि भिक्खूहि सद्धिं येन पारिलेय्यकं भद्दसालमूलं येन भगवा तेनुपसंकमि।...भगवा धम्मिया कथाय संदस्सेसि।"

—सं० नि०, २१।८।९

२. "कोसंबियं पिंडाय चरित्त्वा अनपलोकेत्त्वा भिक्खुसंघं एककोव...बालक-लोणकारगामं गंत्वा....पाचीनवंसदाये....येन पारिलेय्यकं तदवसरि....भद्दसालमूले पारिलेय्यके एकेन हत्थिना उपट्ठहियमानो फासुकं वस्सावासं वसि।...अनुपुब्बेन जेतवनं अगमासि।...."

—(ध० प०, १।५, अ० क०)

नहीं जाता। विनय और पीछे के दूसरे ग्रन्थों में वर्णित जेतवन-गमन से कोई विरोध नहीं है। यहाँ, हाथी की सेवा की कथा संयुत्तनिकाय के बाद उदान के समय में गढ़ी गई मालूम होती है। पारिलेय्यक से वर्षा के बाद जेतवन में जाना निश्चित मालूम होता है। पारिलेय्यक का वर्षावास ऊपर की सूची में बोधि से दसवें वर्ष (५१८ ई० पू०) में है। अतः इससे पूर्व ही जेतवन बना था। बोधि-प्राप्ति के समय तथागत की आयु ३५ वर्ष की थी। संयुत्तनिकाय में राजा प्रसेन-जित् से, संभवतः पहली, मुलाकात होने का इस प्रकार वर्णन आया है—

"भगवान्...जेतवन में विहरते थे। राजा प्रसेनजित् कोसल...भगवान् के पास जा सम्मोदन करके एक तरफ बैठ गया।...फिर भगवान् से कहा। आप गौतम भी—'हमने अनुत्तर सम्यक् संबोधि को प्राप्त कर लिया'—यह प्रतिज्ञा करते हैं?—जिसको महाराज! अनुत्तर सम्यक्-संबुद्ध हुआ कहें, ठीक कहते हुए वह मुझे ही कहे।...हे गौतम! जो भी संघी, गणी, गणाचार्य, ज्ञात, यशस्वी तीर्थंकर, बहुत जनों द्वारा साधु-सम्मत, हैं....जैसे—पूर्ण काश्यप, मंखलि, गोसाल, निगंठ नाथपुत्त, संजय वेलट्ठिपुत्त, पकुध कच्चायन, अजित केसकंबल, वह भी पूछने पर 'अनुत्तर सम्यक् संबोधि को जान गए', यह दावा नहीं करते। फिर क्या कहना है, आप गौतम तो जन्म से दहर (=तरुण) हैं, प्रव्रज्या से भी नए हैं।...भगवान्, आज से मुझे अपना शरणागत उपासक...धारण करें[१]।"

यहाँ राजा प्रसेनजित् जेतवन में जाकर, निर्ग्रन्थ ज्ञातृ-पुत्र (महावीर) आदि का यश वर्णन करके, तथागत को उमर में कम और नया साधु हुआ कहता है। इससे मालूम होता है कि तथागत अभिसंबोधि (३५ वर्ष की आयु) के बहुत देर बाद श्रावस्ती नहीं गए थे। उस समय जेतवन बन चुका था। 'दहर' कहने के लिये हम ४५ वर्ष की उम्र तक की सीमा मान सकते हैं। इस प्रकार पुराने सुत्तंत के अनुसार भी अभिसंबोधि से दसवें वर्ष (५१९ ई० पू०) से पूर्व ही जेतवन बन चुका था।

महावग्ग में राजगृह से कपिलवस्तु, फिर वहाँ से श्रावस्ती जेतवन जाने का वर्णन आया है—

"भगवान्[२] राजगृह में....विहार करके....चारिका चरण करते हुए...शाक्य

---

१. संयुत्तनिकाय, पृ० २३

२. महावग्ग (सिंहललिपि), ३९१-९३

देश में कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विहार करते थे ।....फिर भगवान् पूर्वाह्न समय....पात्र चीवर लेकर जहाँ शुद्धोदन शाक्य का घर था वहाँ गए, और रखे हुए आसन पर बैठे । तब राहुलमाता देवी ने राहुल कुमार से कहा । राहुल ! यह तेरा पिता है, जा दायज्ज माँग । ....राहुल कुमार यह कहते हुए भगवान् के पीछे-पीछे हो लिया—'श्रमण, मुझे दायज्ज दो', 'श्रमण, मुझे दायज्ज दो' । तब भगवान् ने आयुष्मान् सारिपुत्र से कहा—तो सारिपुत्त तू राहुल कुमार को प्रव्रजित कर....। फिर भगवान् कपिलवस्तु में इच्छानुसार विहार कर श्रावस्ती की ओर चारिका के लिये चल दिए । वहाँ....अनाथपिंडक के आराम जेतवन में विहार करते थे । उस समय आयुष्मान् सारिपुत्त के उपस्थापक-कुल ने एक लड़के को आयुष्मान् सारिपुत्र के पास प्रव्रज्या देने के लिये भेजा । आयुष्मान् सारिपुत्र के चित्त में हुआ, भगवान् ने प्रज्ञप्त किया है, एक को, दो सामणेर अपनी सेवा में न रखना चाहिए । और यह मेरा राहुल सामणेर है ही...." अट्ठकथा से स्पष्ट है कि यह यात्रा बोधि के दूसरे वर्ष में अर्थात् गया से वाराणसी ऋषिपतन, वहाँ से राजगृह आकर फिर कपिलवस्तु जाना । इस प्रकार ५२६ ई० पू० में जेतवन मौजूद मालूम होता है ।

जातकट्ठकथा में इसे इस तरह संक्षिप्त किया है—शास्ता[1] बुद्ध होकर प्रथम वर्षा० ऋषिपतन मैं बसकर,....उरुवेला को जा वहाँ तीन मास बसे,..भिक्षुसंघ-सहित पौष की पूर्णिमा को राजगृह में पहुँच दो मास ठहरे । इतने[2] में वाराणसी से निकले को पाँच मास हो गए ।....फाल्गुन पूर्णिमा को उस (=उदायि) ने सोचा....अब यह (यात्रा का) समय है....। राजगृह से निकलकर प्रतिदिन एक योजन चलते थे ।....(इस प्रकार) राजगृह से ६० योजन कपिलवस्तु दो मास में पहुँचे ।...(वहाँ से) भगवान् फिर लौटकर राजगृह जा, सीतवन में ठहरे । उस समय अनाथपिंडक गृहपति....अपने प्रिय मित्र राजगृह के सेठ के घर जा, बुद्धोत्पत्ति सुन,....शास्ता के पास जा धर्मोपदेश सुन,....द्वितीय दिन बुद्ध प्रमुख संघ को महादान दे, श्रावस्ती आने के लिये शास्ता की प्रतिज्ञा ले....।

यहाँ विनय से जातकट्ठकथा का, कपिलवस्तु से आगे जाने के स्थान में विरोध है । जातकट्ठकथा के अनुसार बुद्ध वहाँ से लौटकर फिर राजगृह आए । लेकिन

---

१. महावग्ग (सिंहललिपि), ३९१-९३

२. जातक. निदान ।

विनय के अनुसार राहुल को प्रव्रजितकर वे श्रावस्ती जेतवन पहुँचे। जातक के अनुसार बुद्ध की कपिलवस्तु की यात्रा बोधि से दूसरे वर्ष (५२६ ई० पू०) की फाल्गुन-पूर्णिमा को आरंभ हुई, और वे दो मास बाद वैशाख-पूर्णिमा को वहाँ पहुँचे। वहाँ से फिर लौटकर राजगृह आकर वहीं उन्होंने वर्षावास किया जो ऊपर की सूची से स्पष्ट है। वहीं सीतवन में अनाथपिंडक का जातक अट्ठकथा के अनुसार श्रावस्ती आने की प्रतिज्ञा लेना, विनय के अनुसार वर्षावास के लिए निमंत्रण स्वीकार कराना होता है। इस प्रकार तथागत का जाना द्वितीय वर्षा-वास के बाद (५२६-५२५ ई० पू०) हो सकता है।

अब यहाँ दो बातों पर ही हमें विशेष विचार करना है—(१) विनय के अनुसार कपिलवस्तु से श्रावस्ती जाना और वहाँ जेतवन में ठहरना। (२) जातक अ० के अनुसार कपिलवस्तु से राजगृह लौट आना, और संभवतः वर्षावास के बाद दूसरे वर्ष जेतवन में विहार तैयार हो जाने पर वहाँ जाना। यद्यपि विनय ग्रंथ की प्रामाणिकता अट्ठकथा से अधिक है, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि कपिलवस्तु के जाने से पहले अनाथपिंडक का तथागत से मिलना नहीं आता; इसीलिये कपिल-वस्तु से श्रावस्ती जाकर जेतवन में ठहरना बिल्कुल ही संभव नहीं मालूम पड़ता। इसके विरुद्ध जातक का वर्णन सीतवन के दर्शन के (द्वितीय वर्षा० के) बाद जाना अधिक युक्तियुक्त मालूम होता है। विनय ने स्पष्ट कहा है कि अनाथपिंडक ने वर्षावास के लिये निमंत्रण दिया, और इसीलिये तीन मास के निवास के लिये जेतवन के झटपट बनवाने की भी अधिक जरूरत पड़ी; इस प्रकार तथागत जेतवन गए और साथ ही वहीं उन्होंने वर्षावास भी किया—यह अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यद्यपि वर्षावासों की सूची में तीसरा वर्षा-वास राजगृह में लिखा है, तो भी जेतवन बोधि के दूसरे और तीसरे वर्ष के बीच (५२६-५२५ ई० पू०) में बना जान पड़ता है।

पहिले दिये अट्ठकथा के उद्धरण से मालूम होता है कि तीर्थिकों ने जेतवन के पास तीर्थिकाराम प्रथम बोधि अर्थात् बोधि के बाद प्रथम पंद्रह वर्षों (५२७-५१३ ई० पू०) में बनाना आरंभ किया था। इससे निश्चित ही है कि उस (२१३ ई० पू०) से पूर्व जेतवन बन चुका होगा।

ऊपर दी गई वर्षावास की सूची के अनुसार प्रथम वर्षावास श्रावस्ती में बोधि से चौदहवें साल (५१४ ई० पू०) में किया। चूँकि अनाथपिंडक का निमंत्रण वर्षावास के लिये था, इसलिये यह भी जेतवन के बनने का साल हो सकता है।

सातवाँ वर्षावास त्रयस्त्रिंश-लोक में बतलाया जाता है। उस वर्ष आषाढ़

पूर्णिमा (बुद्धचर्या पृष्ठ ८५) के दिन तथागत श्रावस्ती जेतवन में थे। इस प्रकार इस समय (५२१ ई० पू०) जेतवन बन चुका था।

सारांश यह कि जेतवन के बनने के सात समय हमें मिलते हैं—

(१) सोलहवे वर्ष (५१२ ई० पू०) से पूर्व, (अट्ठकथा) पृ० २५९।
(२) पंद्रहवें „ (५१३ ई० पू०) से पूर्व, (अट्ठकथा) पृ० २९४।
(३) दसवें „ (५१८ ई० पू०) से पूर्व, (विनय सूत्र) पृ० २९६।
(४) „ „ „ „ (सूत्र) पृ० २९८।
(५) सातवें „ (५२१ ई० पू०) „ (अट्ठकथा) पृ० २९९।
(६) द्वितीय „ (५२० ई० पू०) „ (विनय) पृ०, २९९।
(७) तृतीय „ (५२५ ई० पू०) „ (अट्ठकथा) पृ०, ३००।

इनमें पहले पाँच से हमें यही मालूम होता है कि उक्त समय से पूर्व किसी समय जेतवन तैयार हुआ, इसलिये उनका किसी से विरोध नहीं है।

पूर्वाराम

जेतवन के बाद बौद्धधर्म की दृष्टि में दूसरा महत्त्वपूर्ण स्थान पूर्वाराम था। पहले हम पूर्वाराम की स्थिति के बारे में संक्षेप से विचार कर चुके हैं। पूर्वाराम और पूर्वद्वार के संबंध में संयुत्तनिकाय[1] के और उदान[2] के इस उद्धरण से कुछ प्रकाश पड़ता है।

"भगवान्....पूर्व्वाराम में....सायंकाल ध्यान से उठकर बाहरी द्वार के कोठे के बाहर बैठे थे।....(उस समय) राजा प्रसेनजित् भगवान् के पास पहुँचा।.... उस समय सात जटिल, सात निगंठ, सात अचेलक, सात एकसाटक और सात परिव्राजक, नख, लोम बढ़ाए अनेक प्रकार की खारिया लेकर भगवान् के अविदूर से जाते थे। तब राजा....आसन से उठकर, उत्तरासंग को एक कंधे पर कर, दाहिने घुटने को भूमि पर रख, उन सातों....की ओर अंजलि जोड़ तीन बार नाम सुनाने लगा—भंते! मैं राजा प्रसेनजित् कोसल हूँ....।"

इस पर अट्ठकथा—"बाहरी द्वार का कोठा—प्रासाद—द्वारकोट्ठक के बाहर, विहार के द्वारकोट्ठक से बाहर का नहीं। वह प्रासाद लौहप्रासाद की भाँति

---

१. ३।२।१, पृ० २४; अ० क० २१६
२. ६।२

चारों ओर चार द्वारकोट्ठकों से युक्त, प्राकार से घिरा था। उनमें से पूर्व द्वारकोट्ठक के बाहर प्रासाद की छाया में पूर्व दिशा की ओर मुँह करके....बैठे थे। अविदूर से, अर्थात् अविदूर मार्ग से नगर (=श्रावस्ती) में प्रवेश करते थे।"

इससे हमें निम्नलिखित बातें मालूम होती हैं—

(१) पूर्वाराम के प्रासाद के चारों ओर चार फाटकोंवाली चहार-दीवारी थी।

(२) अनुराधपुर का लौहप्रासाद और पूर्वाराम का प्रासाद कई अंशों में समान थे। संभवतः पूर्वाराम के नमूने पर ही लौहप्रासाद बना था।

(३) इसके चारों तरफ चार दर्वाजे थे।

(४) (जाड़े में) सायंकाल को पश्चिम द्वार के बाहर बैठकर प्रायः तथागत धूप लिया करते थे।

(५) वहाँ राजा प्रसेनजित् तथा दूसरे संभ्रांत व्यक्ति भी उपस्थित होते थे।

(६) उसके पास ही से मार्ग था।

(७) इस स्थान से नगर का पूर्वद्वार बहुत दूर न था, क्योंकि जटिलों के लिये 'नगर को जाते थे' न कहकर 'नगर में प्रवेश करते थे' कहा है।

(८) संभवतः पूर्वाराम[१] की ओर भी, जटिल, निगंठ (=जैन), अचेलक, एकसाटक और परिव्राजक साधुओं के विहार थे, जहाँ से वे नगर में जा रहे थे।

पहले[२] यह बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार विशाखा का 'महा-लता आभूषण' एक दिन जेतवन में छूट गया था। विशाखा ने तथागत से कहा —"भंते[३] ! आर्य आनंद ने मेरे आभूषण को हाथ लगाया....। उसको देकर, (उसके मूल्य से) चारों प्रत्ययों में कौन प्रत्यय ले आऊँ ? विशाखा ! पूर्व द्वार पर संघ के लिये वासस्थान बनाना चाहिए। अच्छा भंते ! यह कहकर तुष्टमानसा विशाखा ने नव करोड़ में भूमि ही खरीदी। अन्य नव करोड़ से विहार बनाना आरंभ किया।....एक दिन अनाथपिंडक के घर भोजन करके शास्ता उत्तर द्वार की ओर गए।....उत्तर द्वार जाते हुए देख चारिका को जाएँगे....यह सुन....

---

१. वर्तमान हनुमनवाँ।

२. देखो पृष्ठ ५१

३. ध० प०, ४–८; अ० क०, १९९, ३८–३९

विशाखा ने जाकर....कहा—भंते ! कृताकृत जानने वाले एक भिक्षु को लौटाकर (=देकर) जाएँ।— तो वैसे (भिक्षु) का पात्र ग्रहण कर।....विशाखा ने ऋद्धिमान् समझ महामोग्गलान का पात्र पकड़ा।....उनके अनुभाव से पचास-साठ योजन पर वृक्ष और पाषाण के लिये आदमी जाते थे। बड़े-बड़े पाषाणों और वृक्षों को लेकर उसी दिन लौट आते थे।....जल्दी ही दो-महला प्रासाद बना दिया गया। निचले तल पर पाँच सौ गर्भ (=कोठरियाँ) और ऊपर की भूमि (=तल) पर पाँच सौ गर्भ, (कुल) एक हजार गर्भों से सुशोभित....था। शास्ता नौ मास चारिका करके फिर श्रावस्ती आए। विशाखा के प्रासाद में भी काम नौ मास में समाप्त हुआ। प्रासाद के कूट को ठोस साठ जलघड़े के बराबर लाल सुवर्ण से बनवाया। शास्ता को अपने विहार में लाकर....। उसकी एक सहायिका हजार मूल्य वाले एक वस्त्र को ले आकर—सहायिके ! तेरे प्रासाद में मैं इस वस्त्र का फर्श बिछाना चाहती हूँ; बिछाने का स्थान मुझे बतलाओ। वह उससे कम मूल्यवाले वस्त्र को न देख रोती हुई खड़ी थी। तब आनंद स्थविर ने कहा —सोपान और पैर धोने के स्थान के बीच में पाद-पुंछन करके बिछा दो।.... विहार की भूमि को खरीदने में नौ करोड़, विहार बनवाने में नौ, और विहार के उत्सव में नौ, इस प्रकार सब सत्ताईस करोड़ उसने बुद्ध-शासन में दान किया। स्त्री होते, तथा मिथ्या-दृष्टि के घर में बसनेवाली का इस प्रकार का त्याग (और) नहीं है।"

इससे मालूम होता है—

(९) पूर्वाराम ९ मास में बना था।

(१०) मोग्गलान बनाने में तत्त्ववधायक थे।

(११) मकान बनवाने में कुल खर्च २७ करोड़ हुआ।

(१२) यह दो-महला था। प्रत्येक तल में ५०० गर्भ थे।

विनयपिटक में है—

"विशाखा[१]....संघ के लिये आलिंद (=बरामदा)-सहित, हस्तिनख प्रासाद बनवाना चाहती थी।"

इससे—

(१३) वह बरामदा सहित था।

(१४) वह हस्तिनख प्रासाद था।

---

१. विनयपिटक चुल्लवग्ग, सेनासनक्खंधक ६

संयुत्त निकाय में—

"भगवान्[१]....पूर्वाराम में....सायंकाल को....पीछे की ओर धूप में पीठ तपाते बैठे हुए थे। आयुष्मान् आनन्द भगवान् के पास गए।....और हाथ से भगवान् के शरीर को रगड़ते हुए बोले—आश्चर्य है भंते! अब भगवान्....का छवि-वर्ण उतना परिशुद्ध नहीं रहा। गात्र शिथिल है, सब झुर्रियाँ पड़ गई हैं। शरीर सामने झुका हुआ है। चक्षु....(आदि) इंद्रियों में भी विपरीतता दिखलाई पड़ती है।"

इस पर अट्ठकथा में है—"प्रासाद पूर्व ओर छाया से ढँका था, इसीलिये प्रासाद के पश्चिम-दिशा भाग में धूप थी। उस स्थान पर....बैठे थे।....यह हिम पड़ने का शीत समय था। उस वक्त महाचीवर को उतारकर सूर्य किरणों से पीठ को तपाते हुए बैठे थे।"

इनसे ये बातें और मालूम होती हैं—

(१५) उस समय तथागत के शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई थीं, आँखों आदि की रोशनी में अन्तर आ गया था।

(१६) प्रधान द्वार पूर्व ओर था, तभी 'पीछे की ओर' कहा गया है। संयुत्तनिकाय ही में है—

"मोग्गलान[२] ने....पैर के अँगूठे से मिगारमाता के प्रासाद को हिलाया।.... उन भिक्षुओं ने (कहा)...यह मिगारमाता का प्रासाद गम्भीर नेम, सुनिखात, अचल, असंप्रकम्प्य है....।"

अट्ठकथा ने गम्भीर नेम का अर्थ 'गम्भीर भूमि भाग में प्रतिष्ठित' किया है। और 'सुनिखात' का, कूटकर अच्छी तरह स्थापित।"

इनसे—

(१७) पूर्वाराम ऊँची और दृढ़ भूमि में बनाया गया था।

(१८) "कूटकर गाड़ा गया था" से खंभों को गाड़कर, लकड़ियों का बना मालूम होता है।

---

१. सं० नि०, ५।६।२६

२. ५०।२।४

मज्झिमनिकाय में--

"हे गौतम, जिस[1] प्रकार इन मिगारमाता के प्रासाद में अंतिम सोपान कलेवर तक अनुपूर्व क्रिया देखी जाती है....।"

अट्ठकथा में--

"प्रथम सोपानफलक[2] तक, एक ही दिन में सात महल का प्रासाद नहीं बनाया जा सकता। वस्तु शोधन कर स्तम्भ खड़ा करने से लेकर चित्रकर्म करने तक अनुपूर्व क्रिया।"

इससे भी--

(१९) वह प्रासाद सात महल का था, जो (१२) से बिल्कुल विरुद्ध है, और बतलाता है कि किस प्रकार बातों में अतिशयोक्ति होती है।

(२०) मकान बनाने में पहले भूमि को बराबर किया जाता था, फिर खम्भे गाड़े जाते थे,....अन्त में चित्रकर्म होता था।

मज्झिमनिकाय में ही--

"जिस[3] प्रकार आनन्द! यह मिगारमाता का प्रासाद हाथी, गाय, घोड़ा-घोड़ी से शून्य है, सोना-चाँदी से शून्य है; स्त्री-पुरुष-सन्निपात से शून्य है।" इसकी अट्ठकथा में लिखा है--

"वहाँ काष्ठ-रूप[4], पुस्त-रूप, चित्र-रूप में बने हाथी आदि हैं। वैश्रवण मांधाता आदि के स्थित स्थान पर चित्रकर्म भी किए गए हैं। रत्न-परिसेवित जँगले, द्वारबंध, मंच, पीठ आदि रूप से स्थित तथा जीर्ण प्रतिसंस्करणार्थ रखा हुआ सोना-चाँदी है। काष्ठरूपादि के रूप में तथा प्रश्न पूछने आदि के लिए आनेवाले स्त्री-पुरुष हैं। इसलिये वह (मिगारमातु पासाद) उनसे शून्य है, का अर्थ है--इंद्रिययुक्त जीवित हाथी आदि का, तथा इच्छानुसार उपभोग योग्य सोने-चाँदी का, नियमपूर्वक बसनेवाले स्त्री-पुरुषों का अभाव"।

इससे--

(२१) वह सोने-चाँदी से शून्य था। अट्ठकथा की इस पर की लीपा-पोती

---

१. म० नि०, ३।१।७, गणक-मोग्गलानसुत्त, १०७

२. अ० क०, ८५५

३. म० नि०, ३।२।७, चूल सुञ्ञतासुत्त, ११९

४. अ० क०। रूप = मूर्त्ति।

सिर्फ यही बतलाती है कि कैसे पीछे भिक्षु वर्ग चमक-दमक के पीछे पड़कर, तावील किया करता था।

दीघनिकाय की अट्ठकथा में—

"(विशाखा)[१] दशबल की प्रधान उपस्थायिका ने उस आभूषण को देकर नव करोड़ से...करीस भर भूमि पर प्रासाद बनवाया। उसके ऊपरी भाग में ५०० गर्भ, निचले भाग में ५०० गर्भ, १००० गर्भों से सुशोभित। वह प्रासाद खाली नहीं शोभा देता था, इसलिये उसको घेरकर, साढ़े पाँच सौ घर, ५०० छोटे प्रासाद और ५०० दीर्घशालाएँ बनवाईं...। अनाथपिंडक ने श्रावस्ती के दक्षिण भाग में **अनुराधपुर** के **महाविहार** सदृश स्थान पर जेतवन महाविहार को बनवाया। विशाखा ने श्रावस्ती के पूर्व भाग में **उत्तम देवी** विहार के समान स्थान पर पूर्वाराम को बनवाया। भगवान् ने इन दो विहारों में नियमित रूप से निवास किया। (वह) एक वर्षा जेतवन में व्यतीत करते थे, एक पूर्वाराम में।"

(२२) विहार एक करीस अर्थात् प्रायः ३ एकड़ भूमि में बना था।

(२३) चारों ओर हजारों घरों, छोटे प्रासादों, दीर्घशालाओं का लिखना अट्ठकथाकारों का अपना काम मालूम होता है।

(२४) अनुराधपुर में भी जेतवन और पूर्वाराम का अनुकरण किया गया था। पूर्वाराम श्रावस्ती के उसी प्रकार पूर्व तरफ था, जैसे अनुराधपुर (सिंहल) में उत्तर देवी विहार।

जिस प्रकार सुदत्त सेठ का नाम अनाथपिंडक प्रसिद्ध है, उसी प्रकार विशाखा मिगारमाता के नाम से प्रसिद्ध है। नाम से, मिगार विशाखा का पुत्र मालूम होगा, किन्तु बात ऐसी नहीं है, मिगार सेठ विशाखा का ससुर था। इस नाम के पड़ने की कथा इस प्रकार है—

"विशाखा[२]—...अंगराष्ट्र (भागलपुर, मुंगेर जिले) के भद्दिय (=मुंगेर) नगर में मेंडक सेठ के पुत्र धनंजय सेठ की अग्रमहिषी सुमना देवी के कोख से पैदा हुई......। बिंबिसार राजा के आज्ञा-प्रवर्तित स्थान (अंगमगध) में पाँच अतिभोग व्यक्ति **जोतिय, जटिल, मेंडक, पुण्णक** और **काकवलिय** थे......।

---

१. दी० नि०, आनञ्जसुत्त २०, अ० क० पृ० १४। अं० नि० अ० क० १।७।२ भी।

२. अं० नि०, १।७।२, अ० क० २१९

श्रावस्ती में कोसल राजा ने बिंबिसार के पास सन्देश भेजा... . हमको एक महाधनी कुल भेजो।........राजा ने.......धनंजय को........भेजा। तब कोसल राजा ने श्रावस्ती से सात योजन के ऊपर साकेत (अयोध्या) नगर में श्रेष्ठी का पद देकर (उसे) बसा दिया। श्रावस्ती में मिगार सेठ का पुत्र पूर्णवर्द्धन-कुमार वयःप्राप्त था।........मिगार सेठ (बारात के साथ) कोसल राजा को लेकर गया।........चार मास (उन्होंने वहीं) पूरे किये।........ (धनंजय सेठ ने विशाखा को) उपदेश देकर दूसरे दिन सभी श्रेणियों को इकट्ठा करके राजसेना के बीच में आठ कुटुंबियों को जामिन देकर—'यदि गए हुए स्थान पर मेरी कन्या का कोई दोष उत्पन्न हो, तो तुम उसे शोधन करना'—कहकर नौ करोड़ मूल्य के 'महालता' आभूषण से कन्या को आभूषित कर, स्नान चूर्ण के मूल्य में ५४ सौ गाड़ी धन दे...। मिगार सेठी ने···सातवें दिन ...नंगे श्रमणकों को बैठाकर, (कहा)—मेरी बेटी आवे, अर्हतों की वंदना करे....। वह....उन्हें देख....'धिक्, धिक्' निंदा करती चली गई।....नंगे श्रमणों ने सेठ की निंदा की—....क्यों गृहपति! दूसरी नहीं मिली? श्रमण गौतम की श्राविका (शिष्या) महाकाल कर्णी को किस लिये इस घर में प्रवेश कराया। ....(सेठ) आचार्यो! बच्ची है आप चुप रहें— यह कह नंगों को बिदाकर, आसन पर बैठ सोने की कर्छुल लेकर विशाखा द्वारा परोसे (खाद्य को) भोजन करता था ....उसी समय एक मधूकरीवाला भिक्षु घर के द्वार पर पहुँचा ..। वह....स्थविर को देखकर भी....नीचे मुँह कर पायस को खाता ही रहा। विशाखा ने....स्थविर से (कहा)—माफ करें भंते! मेरा ससुर पुराना खाता है। उस (सेठ) ने अपने आदमियों से कहा,....इस पायस को हटाओ, इसे (= विशाखा को) भी इस घर से निकालो। यह ऐसे मंगल घर में मुझे अशुचि-खादक बना रही है....। विशाखा ने....कहा—तात! इतने वचन मात्र से मैं नहीं निकलती। मैं कुंभदासी की भाँति पनघट से तुम्हारे द्वारा नहीं लाई गई हूँ। जीते माँ-बाप की लड़कियाँ इतने मात्र से नहीं निकला करतीं,....आठों कुटुंबिकों को बुलाकर मेरे दोषादोष की शोध कराओ।....सेठ ने आठ कुटुंबिकों को बुला-कर कहा—यह लड़की सप्ताह भी न परिपूर्ण होते, मंगल घर में बैठे हुए मुझे अशुचि-खादक बतलाती है। .. ऐसा है अम्म?—तातो! मेरा ससुर अशुचि खाने की इच्छावाला होगा, मैंने ऐसा करके नहीं कहा; एक पिंडपातिक स्थविर के घर-द्वार पर स्थित होने पर, यह निर्जल पायस भोजन करते हुए, उसका ख्याल (मन में) नहीं करते थे। मैंने इसी कारण से—'माफ करो भंते! मेरा ससुर

इस शरीर से पुण्य नहीं करता, पुराने पुण्य को खाता है,'....कहा—आर्य, दोष नहीं है, हमारी बेटी तो कारण कहती है, तुम क्यों क्रुद्ध होते हो।....(फिर कुछ और इलजामों के जाँच करने पर)—वह और उत्तर न दे, अधोमुख हो बैठ गया। फिर कुटुंबिकों ने उससे पूछा—क्यों सेठ, और भी दोष हमारी बेटी का है?—नहीं आर्यो!—क्यों फिर निर्दोष को अकारण घर से निकलवाते हो? उस समय विशाखा ने कहा—पहले मेरे ससुर के वचन से मेरा जाना ठीक न था। मेरे आने के दिन मेरे पिता ने दोष शोधन के लिये तुम्हारे हाथ में रखकर (मुझे) दिया था। अब मेरा जाना ठीक है। यह कह, दासी दासों को यान तैयार करने के लिये आज्ञा दी। तब सेठ ने उन कुटुंबिकों को लेकर कहा—अम्म! अनजाने मेरे कहने को क्षमा कर।—तात, तुम्हारे क्षंतव्य को क्षमा करती हूँ; किंतु मैं बुद्ध शासन में अनुरक्त कुल की बेटी हूँ; हम बिना भिक्षु-संघ के नहीं रह सकतीं। यदि अपनी रुचि के अनुसार भिक्षु-संघ की सेवा करने पाऊँगी, तो रहूँगी।—अम्म! तू अपनी रुचि के अनुसार अपने श्रमणों की सेवा कर।

तब विशाखा ने निमंत्रित कर दूसरे दिन....बुद्ध प्रमुख भिक्षुसंघ को बैठाया। ...मेरा ससुर आकर दशवल को परोसे (यह खबर भेजी)।....(मिगार सेठ ने बहाना कर दिया)....। आकर दशवल की धर्मकथा को सुने....। मिगार सेठ जाकर कनात से बाहर ही बैठा।....देशना के अंत में सेठ ने **सोतापत्ति-फल** में प्रतिष्ठित हो कनात को हटा...पंचंग से वंदना कर, शास्ता के सामने ही—'अम्म! तू आज से मेरी माता है'—यह कह विशाखा को अपनी माता के स्थान पर प्रतिष्ठित किया। तभी से विशाखा 'मिगारमाता' प्रसिद्ध हुई।"

स्थान को देखने पर हनुमनवाँ ही पूर्वाराम मालूम होता है।

तीर्थिकाराम

समयप्पवादक-परिव्वाजकाराम—पहिले[1] पाँच प्रकार के अन्य तीर्थिक—जटिल, निर्ग्रंथ आदि बतलाए हैं। अचेलक[1] एकदम नंगे रहते थे। अट्ठकथा में—एक दिन भिक्षुओं ने निर्ग्रंथों को देखकर कथा उठाई—आवुसो! सब तरह बिना ढँके हुए अचेलकों से यह निर्ग्रंथ (=जैन) श्रेष्ठतर हैं, जो एक अगला

---

१. ध० प० २२।८, अ० क० ५७८

भाग भी तो ढाँकते हैं, मालूम होता है ये सलज्ज हैं। यह सुन निग्रंथों ने कहा—इस कारण से नहीं ढाँकते हैं, पाँशु धूलि भी तो पुद्गल (=जीव) ही है। प्राणी हमारे भिक्षा-भाजन में न पड़ें, इस वजह से ढाँकते हैं।" एकशाटक और परिव्राजकों का जिक्र कर चुके हैं। इन सभी मतों के साधुओं के आराम श्रावस्ती के बाहर फैले हुए थे। ये अधिकतर श्रावस्ती के दक्षिण और पूर्व तरफ में रहे होंगे, जिधर कि पूर्वाराम और जेतवन थे। चिंचा और सुंदरी के वर्णन से भी पता लगता है कि जेतवन की ओर तीर्थिकों के भी स्थान थे। इनमें **समयप्पवादक तिंदुकाचीर एक सालक** मल्लिका का आराम बहुत ही बड़ा था। हमने इसको **चीरेनाथ** के मंदिर की जगह पर निश्चित करने के लिये कहा है। दीघनिकाय में कहा है—"पोट्ठपाद[1] परिव्राजक समयप्पवादक ....मल्लिका के आराम में तीस सौ परिव्राजकों की बड़ी परिषद् के साथ निवास करता था।" अ० क० में—उस स्थान पर चंक, तारुक्ख, पोक्खरसाति, "आदि ब्राह्मण, निर्ग्रंथ, अचेलक, परिव्राजक आदि प्रव्रजित एकत्र हो अपने-अपने समय (=सिद्धान्त) का व्याख्यान करते थे; इसीलिये वह आराम समयप्पवादक (कहा जाता था)....।"

मज्झिमनिकाय में—

"समणमंडिकापुत्र उग्गहमाण परिव्राजक समयप्पवादक....मल्लिका के आराम में सात सौ परिव्राजकों की बड़ी....परिषद् के साथ वास करता था। उस समय पंचकंग गृहपति दोपहर को श्रावस्ती से भगवान् के दर्शन के लिये निकला। तब पंचकंग गृहपति को ख्याल हुआ—भगवान् के दर्शन का यह समय नहीं है, भगवान् इस समय ध्यान में हैं....। क्यों न.... मल्लिका के आराम में चलूँ।"

ये दोनों उद्धरण दीघनिकाय और मज्झिमनिकाय के हैं; जो कि त्रिपिटक के अत्यंत पुराने भाग हैं[2]। इनसे हमें ये बातें स्पष्ट मालूम होती हैं—

(१) यह एक बड़ा आराम था, जिसमें ७०० से तीन हजार तक परिव्राजक निवास कर सकते थे।

---

१. दी० नि०, ९

२. "आयुष्मान् सारिपुत्र....(जेतवन से) श्रावस्ती में पिंड के लिये चले।.... बहुत सबेरा है.......(इसलिये) जहाँ अन्य तीर्थिकों, परिव्राजकों का आराम था वहाँ गए।"

—अं० नि० ७।८।११, ९।२।८, १०।३।७

(२) नगर से जेतवन जानेवाले द्वार (=दक्षिण द्वार) के बाहर था।

(३) यहाँ बैठकर ब्राह्मण और साधु लोग नाना प्रकार की दार्शनिक चर्चाएँ किया करते थे।

(४) बुद्ध तथा उनके गृहस्थ और विरक्त शिष्य यहाँ जाया करते थे।

जेतवन के पीछे आजीवकों की भी कोई जगह थी। क्योंकि जातक अट्ठकथा में आता है—

"उस समय[१] आजीवक जेतवन के पीछे नाना प्रकार का मिथ्या तप करते थे। उक्कुटिक प्रधान, वग्गुलिब्रत, कंटकाप्रश्रय, पंचातप, तपन आदि।"

परिव्राजकाराम का बनना रुक जाने से, जेतवन के बहुत समीप और कोई किसी ऐसे आराम का होना असंभव नहीं मालूम होता। शायद जेतवन के पीछे की ओर खुली ही जगह में वे तपस्या करते रहे होंगे।

सुतनु-तीर—[२]संयुक्तनिकाय से पता लगता है, सुतनुतीर पर भी भिक्षुओं का कोई विहार था। 'तीर' शब्द से तो पता लगता है, सुतनु कोई जलाशय (=छोटी नदी, या बड़ा तालाब) होगा। संभवतः वर्तमान ओडाझार, खडौआझार सुतनु-तीर को सूचित करते हैं। ऐसा होने पर वर्तमान खजुहा ताल प्राचीन सुतनु है।

अंधवन—श्रावस्ती के पास एक और प्रसिद्ध स्थान अंधवन था। संयुत्त-निकाय-अट्ठकथा में —

"काश्यप[३] सम्यक्-संबुद्ध के चैत्य की मरम्मत के लिये धन एकत्रित करा कर आते हुए यशोधर नामक धर्मभाणक आर्यपुद्गल की आँखें निकालकर, वहाँ (स्वयं) अंधे हुए पाँच सौ चोरों के बसने से...अंधवन नाम पड़ा। यह श्रावस्ती से दक्षिण तरफ गव्यूति भर दूर राजरक्षा से रक्षित (वन) था....। यहाँ एकांत-प्रिय (भिक्षु)....जाया करते थे।"

फाहियान[४] ने इस पर लिखा है—

"विहार से चार 'ली' दूर उत्तर-पश्चिम तरफ एक कुंज है।....पहले ५००

---

१. जातकट्ठकथा १।१४।५

२. "एक समय आयुष्मान् अनुरुद्ध सावत्थी में सुतनु के तीर विहार करते थे।"—सं० नि०, ५१।१।३

३. स० नि०, ५।१।१०, अ० क०, ११४८

४. ch. XX

अन्धे भिक्षु इस वन में वास करते थे। एक दिन उनके मंगल के लिये बुद्धदेव ने धर्मव्याख्या की, उसी समय उन्होंने दृष्टिशक्ति पा ली। प्रसन्न हो उन्होंने अपनी-अपनी लकड़ियों को मिट्टी में दबाकर प्रणाम किया। उसी दम वे लकड़ियाँ वृक्ष के रूप में, और शीघ्र ही वन के रूप में परिणत हो गईं।....इस प्रकार इसका यह नाम (अंधवन) पड़ा। जेतवनवासी अनेक भिक्षु मध्याह्न भोजन करके (इस) वन में जाकर ध्यानावस्थ होते हैं।"

इससे मालूम होता है—

(१) काश्यप बुद्ध के स्तूप से श्रावस्ती की ओर लौटते समय यह स्थान रास्ते में पड़ता था।

(२) श्रावस्ती से दक्षिण एक गव्यूति या प्रायः २ मील पर था।

(३) जेतवन से उत्तर-पश्चिम ४ 'ली' (=१ मील से कम) था। दूरी और दिशाएँ इन पुरानी लिखंतों में शब्दशः नहीं ली जा सकती। इसलिये **पुरैना** का ध्वंस अंधवन मालूम होता है। यह **भीटी** से श्रावस्ती के आने के रास्ते में भी है भीटी को सर जान मार्शल[१] ने काश्यप-स्तूप निश्चित किया है।

पांडुपुर—श्रावस्ती के पास पांडुपुर नामक गाँव था। धम्मपदअट्ठकथा में "श्रावस्ती के अविदूर पाँडुपुर नामक एक गाँव था। वहाँ एक केवट वास करता था।"

इस गाँव के बारे में इसके अतिरिक्त और कुछ मालूम नहीं है।

मैंने इन थोड़े से पृष्ठों में श्रावस्ती और उसके पास के बुद्धकालीन स्थानों पर विचार किया है। सुत्त, विनय और उसकी अट्ठकथाओं की सामग्री शायद ही कोई छूटी हो। यहाँ मुझे सिर्फ भौगोलिक दृष्टि से ही विचार करना था, यद्यपि कहीं-कहीं और बातें भी आ गई हैं।[२]

---

१. A.S.R., 1910-11, p. 4

२. जेतवन के नक्शों के लिये देखो Arch. Survey of India की १९०७-०८ और १९१०-११ की रिपोर्टें।

ज्ञातृ = जथरिया

पण्डित ज० श० एम० ए० ने मेरे बसाढ़ की खुदाई नामक लेख में आये कुछ वाक्यों के खण्डन में, एक लेख लिखा। उसको पढ़ने से मालूम होता है कि, मेरे लेख से उन्हें दु:ख हुआ है। संभवत: कुछ और भी भूमिहार-बन्धुओं को दुःख हुआ हो। अपने उक्त कथन को सत्य के समीपतम समझते हुए भी वस्तुत: मुझे दु:ख है कि, उससे इन भाइयों को मानसिक कष्ट पहुँचा। उन चन्द पङ्क्तियों में मैं अपने भावों को संक्षेप से भी नहीं प्रकट कर सका था (और, इस छोटे लेख में भी शायद न कर सकूँगा); तो भी कुछ गलतफहमियों को हटा देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

शर्माजी के लेख को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है--(१) उन्होंने युक्ति से मेरी बातों का खण्डन करना चाहा है; (२) मुझे भूमिहार ब्राह्मणों का विरोधी समझा है।

जथरिया वंश के लिच्छवि (ज्ञातृ) न होने के बारे में आपने कहा है--

(१) "जेथरिया वंश बेतिया-राजवंश से लिच्छवि क्षत्रियों की ज्ञातृ अथवा किसी भी शाखा से कोई भी सम्पर्क नहीं। वे इतने काल से बिहार के निवासी भी नहीं कि, उनका कोई भी सम्बन्ध लिच्छवि जाति से ठहराया जा सके। वे विशुद्ध ब्राह्मण हैं तथा महाकवि बाणभट्ट के वंशज सोनभदरियों और अथर्वों को छोड़कर अन्यान्य भूमिहार ब्राह्मणों की तरह पश्चिम के जिलों से मुसलमानी शासनकाल में या उसके कुछ पूर्व बिहार में आकर बस गये हैं।"

(२) "जयस्थल" से ही जैथर की उत्पत्ति सर्वथा भाषा-विज्ञान के अनुकूल है, 'ज्ञातृ' से नहीं। ज्ञातृ शब्द का अपभ्रंश "जैथरिया" मान लेना अनुचित और अपने भाषा विज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान की अल्पज्ञता दिखाना है। "भाषा विज्ञान की दृष्टि से 'ज्ञातृ' शब्द का "जैथरिया" बन जाना कदापि सम्भव नहीं।"

(३) "केवल ज्ञातृ शब्द के आधार पर जैथरिया लोगों को ज्ञातृवंशीय

लिच्छवि क्षत्रिय मान लेना तो लालबुझक्कड़ की बूझ को भी मात कर देना है।"

(४) "सम्भव है, लिच्छवि-वंश (जो बुद्ध के समय में ही व्रात्य हो चुका था) पतित होकर नीच जातियों में मिल चुका हो; अथवा, यदि, तिर्हुत के अहीर ही उनके वंशज हों तो क्या आश्चर्य !"

मैं आरम्भ में यह कह देना चाहता हूँ कि, ज्ञातृ और जेथरिया के एक होने की खोज का श्रेय मुझे नहीं है; बल्कि हमारे देश के गौरवस्वरूप और भारत के प्राचीन इतिहास के अद्वितीय विद्वान् श्रद्धेय डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने पहले पहल इसका पता लगाया था। मैंने प्रमाण की कुछ कड़ियाँ भर और जोड़ दी हैं। ज्ञातृ और जथरिया क्यों एक हैं :—

(१) "भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान की अल्पज्ञता" क्या, अज्ञता को स्वीकार करते हुए भी ज्ञातृ से ज्ञातर, जथर या जेथर, फिर 'इया' लगाकर जथरिया स्वीकार करने में मैं गलती पर नहीं हूँ; और, न "लालबुझक्कड़ की बूझ को" मात कर रहा हूँ। ज्ञातृ (=ज्ञातर=जतर=जथर), इका (=इया)=जथरिया, जेथरिया।

(२) जैन धर्म के संस्थापक वर्द्धमान महावीर को नात-पुत्त और ज्ञातृ-पुत्र कहा जाता है; क्योंकि वह ज्ञातृकुल में उत्पन्न हुए थे। उनका गोत्र काश्यप था, यह सभी जैन ग्रन्थों में मिलता है। जेथरियों का भी गोत्र काश्यप है। यह आकस्मिक नहीं हो सकता।

(३) बषाढ़ (=बैशाली) जिस परगने में है, वह रत्ती कहा जाता है। यह परगना आजकल भी जेथरियों का केन्द्र है। रत्ती=लत्ती-नत्ती=नाती=नादि (पाली) है। बुद्ध के समय वज्जी देश में नादिका नामक ज्ञातृ वंशियों का एक बड़ा गाँव था, जिसका संस्कृत रूप ज्ञातृका होता है।

(४) ज्ञातृ लोग जिन लिच्छवियों[१] के ९ विभागों के एक प्रमुख विभाग में थे, ई० पू० छठी-पाँचवीं शताब्दियों में उनकी शक्ति इतनी प्रबल थी कि, मगधराज को भी डर के मारे गंगातट पर पाटलिग्राम में एक किला बनाना पड़ा; और आगे चलकर पाटलिपुत्र (=पटना) नगर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

---

१. लिच्छवियों के नौ वर्गों में जेथरिया के अतिरिक्त दिघवइत भी मालूम होते हैं। यदि मुजफ्फरपुर-चम्पारन जिलों के पर्गनों और प्रधान जातियों को मिलाकर खोज की जाये, तो शायद और भी कुछ वर्गों का पता लग जाये।

मगध-साम्राज्य में सम्मिलित होने पर भी लिच्छवि प्रभावहीन नहीं हो गये, यह तो इसी से प्रकट है कि, चौथी शताब्दी में उनकी सहायता से गुप्तों को अपना साम्राज्य कायम करने में सफलता मिली। ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दियों में लिच्छवियों की शक्ति को ही प्रकट करने के लिये लिच्छवि कुमारी कुमारदेवी का पुत्र सम्राट् समुद्रगुप्त अपने को "लिच्छवि-दौहित्र" कहकर अभिमान करता है। ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक जो लिच्छवि जाति अपने अस्तित्व को ही कायम नहीं रख सकी थी, बल्कि पूरी पराक्रमशालिनी थी, वह इसके बाद बिलकुल नष्ट हो गयी या "पतित होकर नीच जातियों में मिल" गई, यह विश्वास करने के लिये कोई कारण नहीं। विशेष कर जब कि, उक्त लक्षणों वाली एक जाति को हम उसी स्थान पर पाते हैं।

(५) ज्ञातृ (लिच्छवि) वंश जिस वैशाली के आसपास ई० पू० छठी शताब्दी से ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक बसता था, वहीं अब भी जथरिया वंश का प्राधान्य है। छपरा जिले के मसरख थाने के जेथरडीह में ज्ञातृओं का निवास हो सकता है। (छपरा जिले का वह हिस्सा तो प्राचीन वज्जी देश का भाग ही है। उस समय गंडक की धार घोघाडी और मही नदियों से होकर बहती थी।) मेरी तुच्छ राय में जेथरियों (=ज्ञातृओं) की वजह से उक्त स्थान का नाम जेथरडीह पड़ा होगा। जेथरडीह के कारण जाति का नाम जेथरिया नहीं पड़ा। एक कहावत को मैंने भी सुना है कि, जेथरिया "ब्राह्मण" लोग नीमसार से किसी कुष्टि राजा को अच्छा करने के लिए आये। पीछे भूमि का दान लेकर वहीं रह गये। नीमसार से आने का मतलब यह है कि, वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। फिर वह मगह के ब्राह्मणों से ही क्यों सम्बन्ध जोड़ सके, सरवरियों से क्यों नहीं, जो कि, अपने को कान्यकुब्ज भी कहते हैं? मगध के बाभनों (="भूमिहार ब्राह्मणों") को मैं शुद्ध प्राचीन मगध-देशीय ब्राह्मणों की सन्तान मानता हूँ। इस वंश ने बाण जैसे महाकवि को ही नहीं पैदा किया, बल्कि भगवान् बुद्ध के सबसे प्रधान तीन शिष्यों (सारिपुत्र, मौद्गल्यायन और महाकाश्यप) को पैदा करने का गौरव भी इसे ही है। सम्राट् अशोक के गुरु मौद्गलि-पुत्र तिष्य भी इसी कुल के रत्न थे। बौद्ध महापुरुषों और महान् दार्शनिकों के पैदा करने में मगध-ब्राह्मण (=बाभन)-कुल सबसे आगे रहा; इसी के लिये बौद्ध द्वेषी ब्राह्मणों के प्रभुत्व में उन्हें और उनके मगध देश को नीच कहना और लिखना शुरू किया गया।

जेथरियों को ज्ञातृओं के साथ सम्बन्ध न जोड़ने देने के लिये "पश्चिम के जिलों से मुसलमानी शासनकाल में या उसके कुछ पूर्व बिहार में आकर उनका

बसना" कहना व्यर्थ की खींचातानी है। आप बगौछियों (हथुआ राजवंश) को नवागन्तुक कहना चाहते हैं, फिर हथुआ की ८०-८५ पीढ़ियाँ कैसे गुजरीं ? मेरी समझ में व्यर्थ के ब्राह्मण बनाने के प्रयत्न में (जिसका मूल निकट भविष्य में ऐसा न रहेगा) एक कीर्तिशाली जाति के इतिहास को नष्ट करना है।

(६) गणराज्यों के क्षत्रियों ने कभी अपने को ब्राह्मणों के चरणों का दास नहीं होने दिया। बौध-जैन-ग्रन्थों को देखने से पता लगता है कि, इन क्षत्रियों को शुद्ध आर्यरक्त की रक्षा का बहुत खयाल था। जहाँ उस समय के ब्राह्मण अनुलोम, प्रतिलोम—दोनों प्रकार के विवाहों को करके अपने रक्त में आर्य-भिन्न-रक्त मिला रहे थे, वहाँ यह क्षत्रिय लोग आर्यों के गौरवर्ण, अभिनीलनेत्र और तुंग नासा की रक्षा के लिये न अनुलोम ही विवाह जायज मानते थे, न प्रतिलोम ही। पीछे बौद्धधर्म के प्रभाव के बढ़ने के साथ, जातिवाद का खयाल जब ढीला होने लगा, तब इन्होंने ब्राह्मणों की कन्याओं को भी लेना शुरू किया। पहले जातिभेद इतना कड़ा न था। पीछे, जब गुप्तों के काल के बाद कन्नौज के प्रभुत्व के समय में जातियों का अलग-अलग गुट बनना शुरू हुआ, तब कितने ही गणतन्त्रों के क्षत्रिय ब्राह्मणों में चले गये; कितने ही क्षत्रियों में। मल्ल क्षत्रियों के बगौछिया भूमिहार ब्राह्मण (हथुआ राजवंश), राजपूत (मझौली राजवंश) और सैंथवार (पडरौना राजवंश)—इन तीन वर्गों में बँटने की बात मैं किसी दूसरे लेख में कह चुका हूँ। (याद रहे, जहाँ लोग बगौछिया नाम का कुत्ते-बिल्ली की कहानी से व्याख्यान कर देना चाहते हैं, वहाँ मल्लों के एक कुल का गोत्र ही व्याघ्रपद था, जिससे यह नाम अधिक सार्थक हो सकता है।) इसी प्रकार टटिहा या तटिहा भूमिहारों और राजपूतों को ही ले लीजिये। उनके नाम, मूल, गोत्र सब एक हैं; और बतलाते हैं कि, यह दोनों एक ही वंश की सन्तानें हैं। ऐसे और भी कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

गणक्षत्रियों के रक्त की शुद्धता की बात मैं कह चुका हूँ। जेथरियों के आर्य-रक्त के बारे में मैं श्रद्धेय जायसवालजी की ही कही बात को कहता हूँ। एक बार वह बसाढ़ गये थे। वहाँ उन्होंने एक भूमिहार लड़के को भैंस चराते देखा, जिसका शरीर ही देदीप्यमान गौरवर्ण का नहीं था, बल्कि आँखें भी नीली थीं। मैंने स्वयं चम्पारन में एक नीली आँखों वाले गोरे नौजवान को जब जेथरिया कहा, तो उसे आश्चर्य होने लगा, कि मैं कैसे जान गया। आज भी आप इन भूमिहारों में आर्यों के शरीरलक्षण जितनी प्रचुरता से पायेंगे, उतने ब्राह्मणों में नहीं पायँगे। कारण, ब्राह्मणों ने, चाहे किसी लोभ से ही सही, बहुत पहले से

ही अनुलोम विवाह करके अपने भीतर आर्य-भिन्न रुधिर को प्रविष्ट करना शुरू किया, जबकि, इस बात में यह गणक्षत्रिय दक्षिणी अफ्रिका के गोरों की भाँति वर्ण (=रंग) के कट्टर भक्त थे। हजारों वर्षों तक आर्यरक्त की शुद्धता के कायम रखने का प्रयत्न अब भी इन्हें इतने अधिक आर्यरक्त का धनी बनाये हुए है।

(७) जेथरियों की क्षत्रिय-वीरता की बात मैं पहले ही कह चुका हूँ।

मेरे लेख को पढ़कर श्री ज० श० को खयाल हुआ है कि, मैं भूमिहार ब्राह्मणों का विरोधी हूँ। इसी भाव से प्रेरित होकर उन्होंने अपने लेख में ये वाक्य लिखे हैं—

(१) " 'गंगा' में पारसाल भी उन्होंने हथुआ राजवंश के सम्बन्ध में ऐसी ही ऊटपटाँग बातें लिख डाली थीं।"

(२) "क्या सांकृत्यायनजी को भूमिहार ब्राह्मण-समाज से ही विरक्ति है? क्या इसी कारण एक-एक कर उन्होंने उसके सभी दृढ़ अङ्गों पर आक्रमण करना अपना कर्तव्य बना रखा है? यह कार्य नितान्त हेय है।"

मैं हनुमानजी नहीं हूँ कि, अपने हृदय को चीरकर हृद्गत् भावों को प्रकट कर सकूँ। यदि उक्त लेखक मेरे छपरा के भूमिहार मित्रों से पूछें, तो शायद उन्हें मेरे भाव मालूम हो जायँ। बाबू गुणराजसिंह (वकील, छपरा), जिनका घर वर्षों तक मेरा घर रहा है, भूमिहार ब्राह्मण ही हैं। इस खयाल को हटाने के लिये मैं छपरे के दर्जनों सम्भ्रान्त शिक्षित भूमिहार बन्धुओं को पेश कर सकता हूँ।

दो वर्ष पूर्व (१९३१ ई०) मुझे गया जिले के गाँवों में घूमने का मौका मिला था। वहाँ मुझे कितने ही भारद्वाज तथा दूसरे गोत्रों के बाभनों के गाँव मिले थे। सचमुच उस समय बार-बार मेरे सामने इन्हीं कुलों में उत्पन्न भगवान् बुद्ध के महान् शिष्यों की तस्वीरें आ जाती थीं; और, इस महान् जाति के सम्मुख मेरा मस्तक झुक जाता था।

मैं भूमिहार जाति को नीचे गिराने के लिये "एक-एक कर उसके सभी दृढ़ अङ्गों पर आक्रमण करना अपना कर्त्तव्य" नहीं समझ रहा हूँ। इतिहास के एक तुच्छ विद्यार्थी के नाते जब कहीं इतिहास की कोई अनमोल बात पाता हूँ, तब उसका संग्रह जरूर करना चाहता हूँ। लिच्छवियों का शक्तिशाली गणतन्त्र, उनकी स्वतन्त्रप्रियता, न्यायप्रियता हमारे देश के लिये गौरव की चीजें हैं। हमारी भविष्य की सन्तान (जो कि प्रजातन्त्र की अनन्य भक्त होगी) तो वैशाली को तीर्थ मानेगी। ऐसी दशा में यदि मैं किसी समुदाय को उन्हीं प्रजातन्त्र-

संस्थापकों का रक्त-सम्बन्धी समझता हूँ, तो उसमें आक्रमण करने की गंध कहाँ से आती है। मेरी समझ में जेथरिया युवक एक ज्ञान-जड़, कूपमण्डूक, भिखमंगी जाति[1] बनने की अपेक्षा भारत के अद्वितीय पराक्रमी प्रजातन्त्र के संस्थापक होने को अधिक गौरव की बात समझेंगे।

लेखक ने मेरे विचारों को तो "पुरातत्त्वाङ्क" के "भारत में मानव विकास" नामक लेख में पढ़ लिया होगा। मैं तो ब्राह्मण जाति का बनना आर्यों पर अनार्यों के प्रभाव के कारण मानता हूँ। भारत में आने से पूर्व यह स्वर्ग की ठेकेदारी आर्यों ने एक फिर्के को नहीं दे रखी थी। मैं जब ब्रह्मा बाबा को नहीं मानता हूँ, तो उसके मुख से पैदा होने के कारण किसी को बड़ा कैसे मानूँगा ? अहीर जाति को छोड़कर भूमिहारों की जाति को ही मैं बिहार में सबसे अधिक आर्य-रक्तवाली मानता हूँ। अहीर पीछे से आये; इसलिये उनमें अधिक आर्य-रक्त रहना स्वभाविक है; लेकिन भूमिहारों में आर्य-रक्त का आधिक्य उनके अपने संयम का फल है।

मेरे लेख से लेखक को बुरा न मानना चाहिये; क्योंकि वह एक नास्तिक द्वारा लिखा गया है; और, उसका प्रभाव भी वैसे ही चन्द इने-गिने नास्तिकों पर ही पड़ेगा। ईश्वर या खुदा, पोथियों और पट्टेदारों पर जिसका विश्वास है, वह मेरी चंद पङ्क्तियों से क्यों डरने लगा ? लेकिन भूतकाल में भूमिहार जाति (= गणक्षत्रिय) अपने बुद्धिस्वातन्त्र्य से बड़ी बनी, पोथियों और व्यवस्थाओं की गुलामी से नहीं।

एक बात और भी है। मान लीजिये कि, यदि जेथरिया कहने लगें कि, हम लिच्छवि गणतन्त्र के संस्थापक वही ज्ञातृ हैं, तो क्या मगह के बाभन—जिनके पूर्व से ही ब्राह्मण होने में कोई सन्देह नहीं—उनसे ब्याह-शादी करना छोड़ देंगे ? फिर सामाजिक तौर से तो कोई हानि नहीं ?

वज्जी गणतन्त्र और उसके संचालक ज्ञातृवंश के पुण्य स्मरण में कुछ लिखने का मौका देने के लिये मैं श्री० ज० श० का आभारी हूँ। यदि कोई अरुचिकर बात यहाँ फिर लिखी गई हो, तो यह समझकर वे क्षमा करेंगे कि, यह किसी जाति के द्वेषवश नहीं, बल्कि नास्तिकता के कारण लिखी गई।

———

१. मैं अपने ब्राह्मण पाठकों से क्षमा माँगता हूँ; कहीं वे भी रुट न हो जायँ !—लेखक।

(७)

थारू

हिमालय की तराई में यह रहस्यपूर्ण थारू-जाति निवास करती है। पश्चिम में बहराइच जिले के उत्तर से पूर्व में दरभंगा जिले के उत्तर तक पहाड़ के किनारे इसी जाति की प्रधानता है। तराई की भूमि में मलेरिया का बड़ा भय है, और यह जाति वहीं बसती है। मुँह देखते ही मालूम हो जाता है कि यह अपने आस-पास के रहनेवालों से भिन्न—उत्तरी पहाड़ों में रहनेवाली (मंगोल) जाति से सम्बन्ध रखती है। रंग इनका गेहुँआँ या पक्का होता है—काले बहुत कम होते हैं। कद में आस-पास के लोगों से विशेष अन्तर नहीं है।

यहाँ मुझे विशेषकर चम्पारन और मुज़फ्फरपुर जिलों के उत्तर तरफ बसने वाले थारुओं के बारे में ही कहना है। इनके भेद और पदवियाँ निम्न-प्रकार हैं :—

भेद	पदवी
बाँतर	(महतो)
चितवनिया	(")
गढ़वरिया	(")
रववशिया	(दिसवाह)
रउतार	(महतो)
न (ल) म्पोंछा	(महतो, राय)
सेंठा	(महतो)
कोंचिला	(खाँव)
महाउत	(राउत)
मझिअउर	(माझी)
गोरत	(महतो)
कनफटा	(नाथ)
कुम्हार	(राना)

भेद	पदवी
मर्दनिया	(मर्द)
खउहट	(महतो)

थारू लोग बढ़ई का काम अपने आप कर लेते हैं। तेल भी खुद निकालते हैं। यद्यपि थरुहट (थारुओं के देश) में धोबी नहीं होता, तो भी अपने-से दक्षिण के लोगों से उनके कपड़े-लत्ते अधिक साफ रहते हैं। खेती ही थारुओं का एकमात्र व्यवसाय है, और इसमें उनकी-सी दूसरी कोई परिश्रमी जाति नहीं। एक हल पर थारू तीन जोड़ी बैल रखते हैं। सबेरे ही हल जोतते हैं और दस बजे दिन को छोड़ देते हैं। फिर दूसरी जोड़ी से दो बजे तक काम लेते हैं, इसके बाद फिर तीसरी जोड़ी। थरुहट में धान ही की खेती होती है, इसलिये भात ही इनका प्रधान खाद्य है। खाने के लिये मुर्गियाँ भी ये लोग पालते हैं। थारुओं में 'भगत' मिलना बहुत कठिन है। मांस और शराब के ये बड़े प्रेमी हैं।

इनकी पोशाक अपने आस-पास के लोगों की ही भाँति होती है। हाँ, मिरजई की जगह ये लोग नैपाली बगलबन्दी पहनते हैं। स्त्रियाँ साड़ी पहनती हैं और शिर नंगा रखना अधिक पसंद करती हैं।

विवाह अधिकतर ये लोग अपनी ही उप-जातियों में करते हैं। युवक और युवती में प्रेम हो जाने पर वे घर से निकल जाते हैं, और बाहर किसी गाँव में जाकर वर्षों तक रहते हैं। फिर लौटकर पति-गृह में रहते हैं। कभी बाँतर और चितवनियों में भी इस प्रकार प्रेम हो जाता है, फिर जाति में मिलने के लिये बिरादरी को भात-भोज देना पड़ता है। इस प्रकार के विवाह अन्य उप-जातियों में भी होते हैं। प्रौढ़ विवाह ही इनमें अधिक होते हैं, लेकिन अब अपने पड़ोसी 'अधिक सभ्य' बाजियों का प्रभाव इन पर भी पड़ रहा है, और धीरे-धीरे इसमें भी बाल-विवाह की प्रथा बढ़ रही है। गढ़वरियों में बाल-विवाह अधिक होता है और चितवनियों में बहुत कम। गरीब होने पर लड़की को घर लाकर विवाह किया जाता है, नहीं तो बरात जाती है। बरात में २०, ३० आदमी साधारणतः जाते हैं। रासधारी, झुमरा, पूर्वी, नाटक इनमें से कोई नाच भी होता है, जिनमें पहले दो गीत प्रायः थारू भाषा में होते हैं। ब्राह्मण और नाई विवाह-विधि कराते हैं। पुरोहित नैपाली या बाजी ब्राह्मण होते हैं।

जन्म के वक्त गाना-बजाना कुछ नहीं करते। छठी बरही, और हिन्दुओं की भाँति होती है। अन्नप्राशन का कोई नियम नहीं। नाक-कान वर्ष के भीतर

ही छेद दिया जाता है। मृत्यु में थारू लोग विशेष उत्सव करते हैं। छोटे बच्चे को भी मरने पर जलाते हैं। नाच-बाजा विवाह की भाँति होता है। थारुओं की यह विशेषता बर्मी लोगों से बहुत मिलती है। मरने के बाद दस दिन में दशगात्र और बारह दिन के बाद ब्राह्मण-भोजन और जाति भोजन होता है।

प्रायः प्रत्येक थारू के घर में गृह-देवता हैं, जिसे 'गन' कहते हैं। उसके लिए दूध, पाट (रेशम), कबूतर, मुर्गे बलि चढ़ाये जाते हैं। 'बरम' स्थान हर गाँव का ग्राम-देवता है। इसके अतिरिक्त हल का ऊपरी भाग गाड़कर जखिन (यक्षिणी), कोल्हू की जाठ गाड़कर मसान भी पूजते हैं। मलंग, औलिया बाबा आदि कितने ही और भी देवता होते हैं। थरुहट में मन्त्र-तन्त्र भूत-प्रेत बहुत चलता है। बाहर के भोले-भाले लोग समझते हैं, थरुहट जादूगरनियों का स्थान है। थरुहट में जादूगरनियों को डाइन कहते हैं। हर गाँव में दस-पाँच डाइनें होती हैं। लोगों का विश्वास है कि डाइनें आदमी को जादू से मार डालती हैं, हैजा महामारी को बुलाती हैं। इसीलिये लोग डाइनों से बहुत डरते और घृणा करते हैं। इन्हीं सबसे बचाने के लिए हर थारू-गाँव का एक गुरु होता है, जिसे गृहस्थ अपने घर के प्रत्येक आदमी पीछे चार पसेरी धान हर साल देता है। बनिहार को दो पसेरी और खोकइता (मजूर) को एक पसेरी देते हैं। गुरु का काम है, भूत-प्रेत, मन्त्र-तन्त्र, हैजा आदि से आदमियों की रक्षा करना।

थारुओं का प्राचीन काल ही से एक संगठन चला आता है। कई गाँवों का एक हल्का होता है, इसे 'दह' कहते हैं। हर एक दह में एक प्रधान होता है, जिसे मधस्त (मध्यस्थ) कहते हैं। उसके नीचे १६ या १७ पंच होते हैं। इन पंचों के नीचे 'हजारिया पंच' होते हैं, जिनमें प्रायः प्रत्येक घर का मुखिया होता है। जाति से सम्बन्ध रखनेवाले सभी मामले इसी पंचायत के सामने पेश होते हैं। फैसला हमेशा सर्वसम्मत से हुआ करता है। मधस्त और पंचों के मरने पर, वह अधिकार उनके बड़े लड़कों को मिलता है। यह दह सभी थारुओं का एक नहीं है। गढ़वरिया, चितवनिया, सभी की अपनी-अपनी अलग पंचायतें हैं। भिखना ठोरी (जिला चम्पारन) के पास गढ़वरियों की प्रधानता है। यहाँ इनके बरहगाँवाँ और लौरइयाँ दो दह हैं। बरहगाँवाँ अंग्रेजी इलाके में है और इसके मधस्त राजमन महतो हैं। लौरइयाँ नेपाल राज्य में है, जिसके मधस्त लेखमन महतो हैं।

भिखनाठोरी से उत्तर-नेपाली तराई में चितावन का इलाका है। यहाँ चितवनियाँ थारू रहते हैं। यहाँ के थारूओं पर नैपालियों का प्रभाव अधिक है। बरहगाँवाँ आदि के थारू भी चितावन की भाषा ही को शुद्ध थारू-भाषा कहते हैं। पाठकों को यह सुनकर बहुत ही आश्चर्य होगा कि चितावन के थारुओं की भाषा, स्वर, शब्द आदि में गया जिले की मगही (मागधी) भाषा से बिलकुल एक है। हलई, गेलही, लन्लही आदि सभी शब्द शुद्ध मगही के हैं। गेल्सुन में सिर्फ थको ससे (गेलथुन) बदल दिया गया है। सम्बोधन में रे, हे का प्रयोग अधिक होता है, और मागही का गे भी कम प्रयुक्त नहीं होता। छोड़ गे, चल गे साधारण प्रयोग हैं। चितवनियाँ अपने को चित्तौरगढ़ से आया बतलाते हैं, और भाषा उन्हें खींचकर मगध में ले जा रही है; और चेहरा और आँखें उत्तर की ओर खींच रही हैं।

ठोरी से दक्षिण-पूर्व ५ मील पर पिपरिया गाँव है। यह भी थरुहट के अन्दर ही है। पिपरिया के पास ही रमपुरवा के दो अशोक-स्तम्भ हैं। एक ही स्थान पर दो-दो अशोक-स्तम्भ विशेष महत्त्व रखते हैं। पुरातत्त्व की खुदाई में एक स्तम्भ के ऊपर का बैल भी मिला था। परम्परा से जनश्रुति चली आ रही है कि एक खम्भे के ऊपर पहले मोर था। खम्भे की पेंदी में तो मोर खुदे अब भी मौजूद हैं। खुदाई में यद्यपि कोई मोर नहीं मिला, तो भी इसमें तो सन्देह नहीं कि दूसरे खम्भे के शिखर पर जरूर कुछ था। दीघनिकाय के महा-परिनिर्वाण-सूत्र से हम जानते हैं, कि पिप्पली वन के मौर्यों ने भी गौतम बुद्ध की अस्थियों का एक भाग पाया था, जिस पर उन्होंने स्तूप बनवाया। इसी मौर्य वंश का राजकुमार चन्द्रगुप्त पीछे मगध के मौर्य-साम्राज्य का संस्थापक हुआ। ऐसी अवस्था में सम्राट् अशोक ने बुद्ध भक्त अपने पूर्वज मौर्यों के आदि स्थान पर यदि ये दो स्तम्भ गड़वाये हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। जिस प्रकार यह पाषाण-स्तम्भ मगध-साम्राज्य से सम्बद्ध हैं, वैसे ही शुद्ध थारू-भाषा भी आधुनिक मागधी भाषा से अपना स्पष्ट सम्बन्ध बतलाती है, लेकिन मंगोल-जातीय थारुओं ने कैसे मागधी भाषा को अपनाया, यह बड़े ही रहस्य की बात है।

मानवशास्त्र-वेत्ताओं के अन्वेषण के लिये थारु-जाति एक बड़ा ही रहस्य-पूर्ण विषय है। देखें, उसे कब कोई शरच्चन्द्र मिलता है। जब तक कोई वैसा सांगोपांग वैज्ञानिक रीति से अनुसंधान करनेवाला नहीं मिलता, तब तक साधारण शिक्षित लोगों ही को उनकी उस सामग्री की रक्षा करने का प्रयत्न करना चाहिये, जो वर्तमान काल में बड़ी शीघ्रता से लुप्त होती जा रही है।

उनकी भाषा दिन-पर-दिन पड़ोसी भाषाओं से प्रभावित हो बिगड़ती जा रही है। लोग अपनी परम्परागत कथाओं को भूलते जा रहे हैं। उनके सामाजिक रीति-रवाज बड़ी शीघ्रता से परिवर्तित हो रहे हैं। उनका संगठन शिथिल और निर्बल होता जा रहा है। यदि दरभंगा, मुजफ्फरपुर, चम्पारन, गोरखपुर, बस्ती, गोंडा, और बहराइच के जिलों के कुछ शिक्षित इस विषय को अपने हाथ में ले लें, और अपनी सीमावाले थारुओं की भाषा, पुराने गीत, जनश्रुति, रीति-रवाज, संगठन आदि का अन्वेषणकर प्रकाशित करें, तो इससे मानव इतिहास के एक महत्त्वपूर्ण अंश पर बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ सकता है। सामग्री संग्रह करने में वाह्य प्रभाव से बहुत कम प्रभावित तथा अशिक्षित वृद्ध थारू ही अधिक सहायक होंगे।

——

(८)

महायान बौद्धधर्म की उत्पत्ति

बुद्ध ने ४५ वर्षों तक ईश्वरवाद, आत्मवाद, पुस्तकवाद, जातिवाद और कितने ही अन्य वादों के विरोधी, जड़वाद की सीमा के पास तक पहुँचे, अपने बुद्धि-प्रधान एवं सदाचार-परायण धर्म का उपदेश कर ४८३ ई० पू० में निर्वाण प्राप्त किया। जैसे-जैसे समय बीतता गया और जैसे-जैसे नाना प्रकृति के लोग बुद्ध-धर्म में सम्मिलित होते गये, वैसे ही वैसे उसमें परिवर्तन होता गया। इस प्रकार बुद्ध के निर्वाण के १०० वर्ष बाद, वैशाली की संगीति के समय, बौद्धधर्म, स्थविरवाद और महासांघिक नामक दो निकायों (=सम्प्रदायों) में विभक्त हो गया। इसके सवा सौ वर्ष बाद और भी विभाग होकर उसके अठारह निकाय बन गये, जिनका वंशवृक्ष, पाली "कथावत्थु" की "अट्ठकथा" के अनुसार, इस प्रकार है—

फा० ७
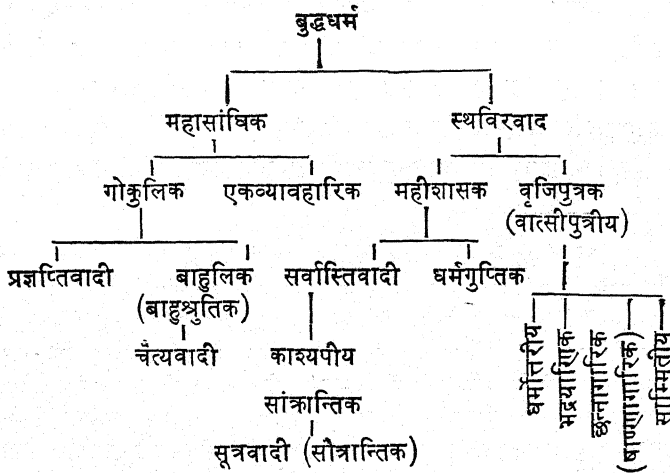
बुद्ध के जीवन में ही उनके शिष्य गन्धार, गुजरात (सूनापरान्त), पैठन (हैदराबाद-राज्य) तक पहुँच चुके थे। धीरे-धीरे भिक्षुओं के उत्साह एवं अशोक, मिलिन्द, इन्द्राग्निमित्र आदि सम्राटों की भक्ति और सहायता से इसका प्रसार और भी अधिक हो गया। अशोक का सबसे बड़ा काम यह था कि, उन्होंने भारत की सीमा के बाहर के देशों में, धर्म-प्रचारकों के भेजे जाने में, बहुत सहायता की। अशोक (ई० पूर्व तृतीय शताब्दी) के बाद बौद्धधर्म सभी जगह फैल चुका था। उस समय तक अठारह निकाय पैदा हो चुके थे; इसलिये राजा की सहायता, चाहे एक ही निकाय के लिए रही हो लेकिन दूसरे निकायों ने भी अच्छा प्रचार किया। शुंगों और काण्वों के बाद; आन्ध्र या आन्ध्रभृत्य सम्राट् हुए। इनकी सर्वपुरातन राजधानी प्रतिष्ठान (पैठन)[१] महाराष्ट्र में थी। पीछे धान्यकटक भी दूसरी राजधानी बना, जो आगे चलकर कोसल की राजधानी श्रावस्ती की भाँति, प्रधान बन गया और पैठन सिर्फ युवराज की राजधानी रह गया। शातकर्णी या शातवाहन (शालिवाहन) आन्ध्र राजा, यद्यपि कुछ समय तक, उत्तरीय भारत के भी शासक थे, तो भी पीछे उन्हें दक्षिण पर ही सन्तोष करना पड़ा। बौद्ध धर्म पर इनका विशेष अनुराग था, यह उनके पहाड़ काटकर बने गुहा-विहारों में खुदे शिलालेखों से मालूम पड़ता है। राजधानी धान्यकटक (अमरावती) में उनके बनाये भव्य स्तूप, नाना मूर्तियाँ, लताओं तथा चित्रों से अलंकृत संगमरमर की पट्टिकाएँ, स्तम्भ, तोरण आज भी उनकी श्रद्धा के जीवित नमूने हैं। वस्तुतः बौद्धों के लिये, शातवाहन राजवंश, ई० पूर्व प्रथम शताब्दी से ईस्वी तीसरी शताब्दी तक, पुराने मौर्यों या पिछले पालवंश की तरह था। पहाड़ खोदकर गुहा बनाने का कार्य यद्यपि मौर्यों ने आरम्भ किया

---

१. पीछे पैठन के इन शातवाहनों का शकों से भी विवाह-सम्बन्ध हुआ। इन्हें अपने देश के नाम पर, रट्ठिक (राष्ट्रक) या महारट्ठिक भी कहते थे। पीछे नाटकों में शक या शकार के लिये "रट्ठिअ-साल" (राष्ट्रिक-श्यल) शब्द प्रयुक्त होने का भी यही कारण है। वैसे भारत में अचिरागत शकों का रंग अधिक गोरा होने से, रनिवासों में, शककन्याओं की काफी माँग भी थी। इससे भी राजा का साला होना हो सकता है। रट्ठ या महारट्ठ नाम पड़ने से पूर्व पैठन के आसपास का प्रदेश अन्धक कहा जाता था; और इसी, लिये शातवाहनों को आन्ध्र भी कहा जाता था। पीछे, राजनीतिक कारणों से, उन्हें अपनी राजधानी धान्यकटक में बनानी पड़ी, जो कि, तेलगू देश में है; और, उसी से इस प्रदेश का नाम आन्ध्र हो गया। अन्धक और वृष्णि, दोनों ही पड़ोसी जातियाँ थीं। वृष्णियों के वासुदेव के आर्य होने पर अन्धकों का आर्य होना निर्भर है।

था। और, वे उसमें कहाँ तक तरक्की कर चुके थे, यह बराबर की चमकते पालिश वाली गुहाओं से मालूम होता है; तो भी गुहाओं को बहुत अधिक और सुन्दर ढंग से बनवाने का प्रयत्न आन्ध्रों के ही राज्य में हुआ। नासिक, कार्ला आदि की भाँति अजन्ता और एलोरा की गुहाओं का भी श्रीगणेश इन्हीं के समय में हुआ था, और पीछे तक बढ़ता गया।

अन्धक-साम्राज्य में महासाङ्घिकों और थर्मोत्तरीयों के होने का कार्ला[१] और नासिक के गुहा लेखों के पता लगता है। पाली अभिधम्मपिटक के "कथा-वत्थु" ग्रन्थ में कितने ही निकायों के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। उनका विश्लेषण उसकी अट्ठकथा के अनुसार निम्न प्रकार है—

इस नक्शे से मालूम होगा कि, कुल २१४ (२१६) सिद्धान्त हैं, जिन पर "कथावत्थु" ने बहस की है। उनमें १३० अन्धक आदि अर्वाचीन निकायों के हैं, ४० सिद्धान्त बहुतों के सम्मिलित हैं, १७[२] सिद्धान्तों के विषय में अट्ठकथा चुप है; और २७ ही ऐसे हैं, जो पुराने १८ निकायों से सम्बन्ध रखते हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि, कथावत्थु मुख्यतः अर्वाचीन निकायों के ही विरुद्ध लिखी गयी है। इन अर्वाचीन आठ निकायों में अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राज-गिरिक और सिद्धार्थिक अन्धकों के ही भेद हैं। इनमें अन्धकों के ८२ सिद्धान्तों का खण्डन हुआ है। वैपुल्यवादियों और हेतुवादियों के रहने का स्थान यद्यपि नहीं लिखा है, तो भी आगे चलकर वैपुल्यवादियों को हम आन्ध्र देश का बत-लायेंगे। उत्तरापथक पंजाब या हिमालय के मालूम होते हैं; किन्तु हेतुवादियों के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। महासांघिकों से ही पिछले अन्धक-निकायों का जन्म हुआ मालूम होता है। ऐसा मानने के लिये दो कारण हैं; एक तो

---

१ *Epigraphica Indica*, Vol. VII, pp. 54, 64, 71.

२. मिलाकर देखने से अनिश्चित सत्रह सिद्धान्तों वाले निकाय इस प्रकार मालूम होते हैं—

अन्धक ४+१, पूर्वशैलीय १, उत्तरापथक ५, महासांघिक ५, साम्मितीय अन्धक १।

भूत भविष्य-कालों के अस्तित्व का सिद्धान्त (कथा० १।७) किसका है यद्यपि यह यहाँ नहीं दिया है, तो भी युन्-च्वेङ् (हुएन-साङ) द्वारा अनुवादित्त "विज्ञप्ति मात्रता-सिद्धि" की टीका में यह सिद्धान्त सर्वास्तिवादियों और साम्मतियों का बत-लाया गया है। (देखिये "विज्ञप्ति-मात्रतासिद्ध", डाक्टर पूसिन का फ्रेंच अनुवाद पृ० १५७)।

"कथावत्थु" में खण्डित सिद्धान्तों की तुलनात्मक सूची

	कुल सिद्धान्त	अर्वाचीन								प्राचीन								केवल अपने	दूसरों के सम्मिलित
		अन्धक								महा-सांघिक		स्थविरवाद							
		अन्धक	अपरशैल	पूर्वशैल	राजगिरिक	सिद्धार्थिक	वैपुल्य	उत्तरापथ	हेतुवाद	महासांघिक	गोकुलिक	काश्यपीय	भद्रयानिक	महीशासक	वात्सीपुत्रीय	सर्वास्तिवाद	साम्मितीय		
(अर्वाचीन)	. .	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६		१०
१ अन्धक	७२	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	२	. .	१	८	६२	७
२ अपरशैलीय	७	१	. .	६	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	.	११
३ पूर्वशैलीय	३९	१	६	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	V	. .	१	. .	. .	३	१८	९
४ राजगिरिक	११	१	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	१	२	९
५ सिद्धार्थिक	९	१	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	१	. .	१
६ वैपु० (वेतुल्ल)	८	१	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	७	१०
७ उत्तरापथक	४४	७	. .	. .	. .	. .	. .	. .	१	. .	. .	. .	. .	१	. .	१	. .	३४	१
८ हेतुवाद	८	. .	. .	. .	. .	. .	. .	१	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	७	
																		१३०	

(प्राचीन)																			
९ महासांघिक	२४	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	१	१	१	४	२०	४
१० गोकुलिक	१	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	१	०
११ काश्यपीय	१	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	१	०
१२ भद्रयाणिक	१	१	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	१
१३ महीशासक	९	२	. .	१	. .	. .	. .	१	१	१	. .	. .	. .	. .	. .	. .	३	१	८
१४ वात्सीपुत्रीय	१	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	१	१	. .	१
१५ सर्वास्तिवादी	४	१	. .	. .	. .	. .	. .	१	. .	. .	. .	. .	१	. .	१	. .	२	१	३
१६ साम्मितीय	२२	८	. .	३	१	१	. .	. .	. .	४	. .	. .	१	३	२	२	. .	३	११
																		२७	
सम्मिलित	४०	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	१५७	
अनिश्चित	१७	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	. .	५७	
																		२१४	

कितने ही विवादग्रस्त विषय इनके सम्मिलित हैं, दूसरे आन्ध्र-साम्राज्य में महासांघिकों[1] का बहुत अधिक प्रचार और प्रभाव था। इस प्रकार इन्हीं से आगे चलकर अन्धकों की उत्पत्ति हुई।
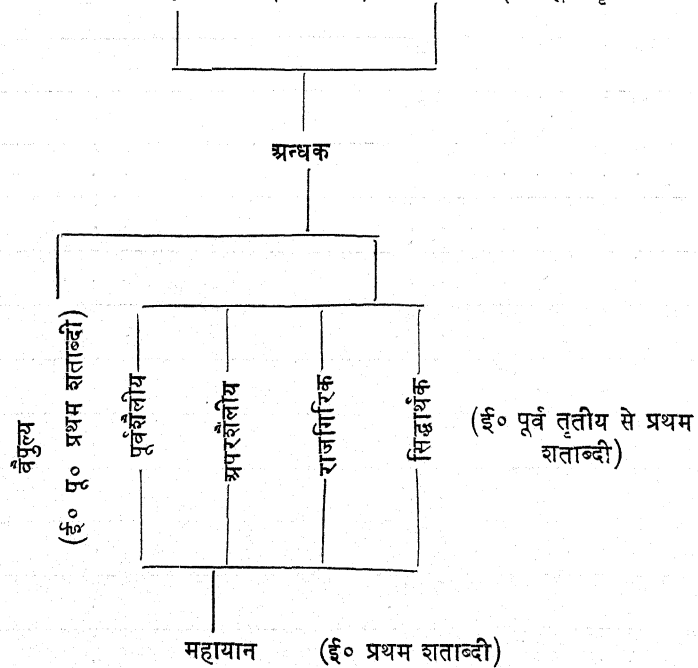
पूर्वशैलीय—"कथावत्थु" की अट्ठकथा (१।९) में इसे तृतीय संगीति के बाद उत्पन्न होने वाले अन्धक-निकायों में गिना गया है। महासांघिकों का (धान्यकटक-महाचैत्य का) चैत्यवाद-निकाय पुराने अठारह निकायों में सम्मिलित

---

१. महासांघिकों के भीतर चैत्यवाद-निकाय भी था। धान्यकटक में इसकी प्रधानता थी, यह अमरावती में मिले शिलालेखों से मालूम होती है। धान्यकटक के स्तूप का नाम ही "महाचैत्य" था। मंजुश्रीमूलकल्प, १० पटल में है—

"श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणा-पथ-संज्ञके।
श्रीधान्यकटकके चैत्ये जिनधातु-धरे भुवि।"

इसी चैत्य के नाम से वहाँ वाले चैत्यवादी कहे जाते थे।

किया गया है; किन्तु इन अन्धक-निकायों को हम उनमें सम्मिलित नहीं पाते। इसलिये मालूम होता है, यह चैत्यवादियों के भी पीछे का है। यद्यपि चैत्यवादियों का नाम अठारह निकायों में होने से अट्ठकथाचार्य उन्हें तृतीय संगीति से पूर्व का बतलाते हैं। तो भी धान्यकटक के चैत्य की प्रसिद्धि, शुङ्गों के बाद, आन्ध्रों के प्रतापी काल में हुई होगी। अतः यहाँ के विहार के भिक्षुओं का पृथक् व्यक्तित्व खारबेल और शुङ्गों के बाद ही स्थापित होना चाहिये। यदि यह ठीक हो, तो चैत्यवाद को हम ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी के अन्तिम भाग में मान सकते हैं; और, तब पूर्वशैलीय आदि चारों अन्धक निकायों की उत्पत्ति ई० पू० प्रथम शताब्दी में माननी होगी। भोटिया ग्रन्थों से[१] मालूम होता है कि, पूर्व-शैल और अपरशैल धान्यकटक के पूर्व और पश्चिम की ओर दो पर्वत थे। इन्हीं के ऊपर के विहार पूर्वशैलीय और अपरशैलीय कहे जाते थे। धान्यकटक आन्ध्र देश में वर्तमान धरनीकोट (जि० गुंटूर) है। चौदहवीं शताब्दी के लिखे सिंहली-ग्रन्थ "निकायसंग्रह" से यह भी मालूम होता है कि, इन्होंने "राष्ट्रपाल-गर्जित"[२] ग्रन्थ को बुद्ध के नाम से प्रसिद्ध किया था। भोट (तिब्बत) में शर्-री (पूर्वशैल) कही जाने वाली पीतल मूर्तियों का दाम कई गुना अधिक होता है।

अपरशैलीय—धान्यकटक के पश्चिम की पहाड़ी पर बसने वाला यह निकाय भी चैत्यवादियों से निकला मालूम होता है। शेष पूर्वशैलीय की भाँति, इसके बारे में, जानना चाहिये। भोटिया-ग्रन्थों में इसका भी जिक्र आता है। इसके सिद्धान्तों पर पहले कुछ कहा जा चुका है। "निकायसंग्रह" के अनुसार इन्होंने "आलवक-गर्जित" सूत्र को बनाकर बुद्ध के नाम से प्रकाशित किया।

राजगिरिक—अन्धक थे; किन्तु आन्ध्र में राजगिरि कहाँ है (जहाँ पर कि, इनका केन्द्र था), नहीं कहा जा सकता। "कथावत्थु" में इनके ११ सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है, जिनमें से आठ इनके तथा "सिद्धार्थकों" के एक हैं। इससे ज्ञात होता है, इन दोनों का आपस में कुछ अधिक सम्बन्ध था। निकाय-संग्रह में इन्हें "अंगुलिमालपिटक" का[३] कर्ता कहा गया है।

सिद्धार्थक—राजगिरिक की भाँति इनके बारे में भी नहीं कहा जा सकता

---

१. क्लोङ-र्दल्-ग्सुं-बुम् (ल्हासा) ग, पृ० ८ ख।

२. सम्भवतः चीनी त्रिपिटक का "राष्ट्रपालपरिपृच्छा"। (*Nanjio's* 873 स्कन्-जुर ४९।९)।

३. सम्भवतः "अङ्गुलिमाल-सूत्र" (*Nanjio's* 434 स्कन्-जुर ६२।१३)

कि, इनका केन्द्र आन्ध्र-देश में किस स्थान पर था। इनके और राजगिरिकों के सिद्धान्तों की समानता बतलाती है कि, इनमें से या तो एक दूसरे से निकला था, या दोनों का उद्गम एक ही था। "निकायसंग्रह" में इन्हें 'गूढ़-वेस्संतर' का कर्त्ता बतलाया गया है।

यह चारों ही अन्धक-निकाय, आन्ध्र-सम्राटों के समय में, बहुत ही उन्नत अवस्था में थे। आन्ध्र राजा और उनकी रानियों का बौद्धधर्म पर कितना अनुराग था, यह हमें अमरावती और नागार्जुनी-कोंडा में मिले शिलालेखों से मालूम होता है। इनके बारे में यद्यपि हमें चीन, भोटिया, पाली तथा संस्कृत-स्रोतों से कुछ सामग्री मिलती है; किन्तु वह बहुत ही अल्प है। लेकिन आन्ध्र लोग शिलालेखों के बहुत अधिक प्रेमी थे; और, आशा है, धान्यकटक तथा नागार्जुनी-कोंडा एवं गुंटूर-जिले के अन्य पुराने ध्वंसावशेषों की खुदाई पूरी होने पर हम इन सभी गुत्थियों को सुलझा सकेंगे एवम् उनसे महायान और वज्रयान के आरम्भिक दिनों तथा उनके विकास के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ेगा।

वैपुल्य (वेतुल्ल) वादी—"कथावत्थु" की अट्ठकथा में वैपुल्यवादियों को महाशून्यतावादी कहा गया है। हमें मालूम ही है कि, नागार्जुन शून्यवाद के आचार्य कहे जाते हैं। इस प्रकार वैपुल्यवाद और महायान एक सिद्ध होते हैं। "कथावत्थु" में दो बातें विशेष महत्त्व की हैं। एक तो वैपुल्यों के खण्डित सिद्धान्तों में "शून्यता" नहीं सम्मिलित है। [इनके मत संघ, बुद्ध और मैथुन के विषय में भेद रखते थे। इनका कहना था—(१) संघ न दान ग्रहण करता है, न उसे परिशुद्ध करता तथा उपभोग करता है, न संघ को देने में महाफल है,[१] (२) बुद्ध को दान देने में न महाफल है, न बुद्ध लोक में आकर ठहरे और न बुद्ध ने धर्मोपदेश किया;[२] (३) खास मतलब से (एकाभिप्रायेण) मैथुन का सेवन किया जा सकता है।[३] यह कहने की जरूरत नहीं कि, ये तीनों ही बातें एक प्रकार से बौद्धधर्म में भयङ्कर विप्लव मचानेवाली थीं। विशेष कर ऐतिहासिक बुद्ध के अस्तित्व से इन्कार तथा खास स्थिति में मैथुन की अनुज्ञा। पहले में हम महायान के आखिरी विकास तक का स्पष्ट पूर्व रूप पाते हैं, और दूसरे में

---

१. कथावत्थु १६।६-९

२. वही १७।१०; १८।१

३. वही २३।१

वज्रयान या तान्त्रिक बौद्धधर्म का स्फुट बीज।] दूसरी बात है, "वेतुल्लवाद" के सभी मत "कथावत्थु" के अन्तिम भाग १७वें, १८वें और २३वें वर्गों में हैं। यह पहले ही कह चुके हैं कि, "कथावत्थु" का आरम्भ चाहे अशोक की तीसरी संगीति से ही हुआ हो; किन्तु उसमें पीछे के वाद भी जुटते गये। इस प्रकार यह मान लेने में कोई कठिनाई नहीं मालूम होती कि, कथावत्थु का "वेतुल्य-वाद" वाला भाग सबसे पीछे का है। कितना पीछे का है? इसके लिये इतना कहा जा सकता है कि, वह बुद्धघोष से ही पहले का नहीं, बल्कि नागार्जुन से भी पहले का है; क्योंकि उसमें वेतुल्लवादियों के शून्यवाद का खण्डन नहीं है। हम इसे यदि ईसा की पहली शताब्दी मान लें, तो वास्तविक समय से बहुत थोड़ा ही आगे-पीछे रहेंगे। इस बात में हम और कुछ निश्चित तौर से तभी कह सकेंगे, जब हम शक-शालिवाहन संवत् एवं नागार्जुन के समय को, अन्तिम तौर पर, निश्चित कर सकेंगे। सिंहल के इतिहास से पता लगता है कि, सर्वप्रथम राजा बलगमबाहु (ई० पू० प्रथम शताब्दी) के समय में वेतुल्लवाद सिंहल में पहुँचा; किन्तु हो सकता है कि, पिछले समय में, जब चारों अन्धक-सम्प्रदाय एवम् उन्हीं की एक शाखा "वेतुल्लवाद" एक हो गये, तब सबको ही "वेतुल्ल" कहा जाने लगा हो।

महायान सूत्रों को हम चीन[१] में प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य, अवतंसक और निर्वाण तथा तिब्बती कन्-जूर में प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य, सूत्र (प्रकीर्ण) और निर्वाण के क्रम से विभक्त पाते हैं। अवतंसक-सूत्रों को वैपुल्य से पृथक् गिना गया है; किन्तु वैपुल्य और अवतंसक एक ही प्रकार के सूत्र हैं।[२] "मंजुश्री मूलकल्प" में हर एक पटल के अन्त में आता है—"बोधिसत्त्व-पिटका-दवतंसकात् महायानवैपुल्य-सूत्रात्।" भोटिया में भी वैपुल्य-सूत्रों के नाम के साथ आता है—"बोधिसत्त्व-पिटकात् अवतंसकात् महावैपुल्य........सूत्रम्।" स्वयं ननूज्यों के सूचीपत्र के ही ८७, ८९, ९४, ९६, १०१ ग्रन्थों में अवतंसक और वैपुल्य साथ-साथ विशेषण-विशेष्य-रूप से प्रयुक्त हुये हैं। प्रज्ञापारमिता, रत्नकूट, वैपुल्य आदि सूत्र महायान के हैं;[३] इसमें तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता;

---

१. देखिये *A Catalogue of the Buddhist Tripitaka by Bunjiu Nanjio.*

२. *Trivendrum Sanskrit Series* LXX. LXXXIV

३. स्कन्-जुर ४१-४६

और इसी से वैपुल्यवाद (पाली वेतुल्लवाद) वही है, जिसे हम आजकल महायान कहते हैं। या यों कहिये कि, वेतुल्ल या "वैपुल्य" वह नाम है, जिससे आरम्भिक काल में महायान प्रसिद्ध हुआ। आरम्भ में, महायान कहलाने में, उन्हें सफलता न हुई थी। "वेतुल्ल" और "वैपुल्य" एक ही हैं; यही हम कथावत्थु की अट्ठकथा के उस वाक्य से भी समझ सकते हैं, जिसमें वेतुल्लवादी को महाशून्यतावादी कहा है। निकाय-संग्रह में वेतुल्लवादियों को "वेतुल्ल-पिटक" (वैपुल्य-पिटक) का कर्ता कहा है। वहीं यह भी लिखा है कि, अन्धकों[१] ने "रत्नकूट" कथा दूसरे शास्त्रों की रचना की। "रत्नकूट" और "वैपुल्य", दोनों ही प्रकार के सूत्र महायानी हैं, यह हम देख चुके हैं; इसलिये महायान अन्धकों (पूर्वशैलीय आदि चार सम्प्रदाय) और वैपुल्यवाद के सम्मिलित रूप का नाम है।

यह तो मालूम हो चुका कि, महायान पूर्वशैलीय आदि चार अन्धक सम्प्रदायों के तथा वैपुल्यवाद के सम्मिश्रण से बना है; और, जितना अंश अन्धक-निकायों से सम्बन्ध रखता है, वह आन्ध्र-देश की—खासकर गुंटूर जिले के वर्तमान धरनीकोट की—उपज है। लेकिन वैपुल्यवाद का मुख्य स्थान कहाँ था, अब हम इस पर विचार करेंगे।

यहाँ पर ध्यान रखना चाहिये कि, महायान-सूत्र बराबर परिवर्तित और परिवर्द्धित किये जाते रहे हैं; इसलिये उनके मूल स्थान से मतलब हमारा इतना ही है कि, उनके निर्माण की नींव वहाँ डाली गयी; और, परिवर्द्धन-परिवर्तन करने में तो सारा भारत शामिल था। वैपुल्यवाद के बारे में हमें निम्न बातें मालूम हैं—

(१) ईसा पूर्व[२] पहली शताब्दी में यह सिंहल पहुँचा था।

(२) इसके[३] कुछ सूत्रों का चीनी में अनुवाद, ईसा की दूसरी शताब्दी में ही, हो चुका था।

(३) इसके प्रचारकों में सबसे ऊँचा स्थान आचार्य नागार्जुन का है।

---

१ "अन्धकयो रनतकूटादिवू शास्त्रान्तर रचना कळह" निकायसंग्रहय (सीलोन-सरकार द्वारा १९२२ में मुद्रित)।

२. महावंस।

३. नन्ज्योका सूचीपत्र, संख्या २५, "सुखावतीव्यूह" लोकरक्षा (१४७-१८६ ई०) द्वारा अनूदित।

(४) नागार्जुन का वास-स्थान श्रीपर्वत और धान्यकटक था।[१]

(५) (आन्ध्र-राजा) शातवाहन नागार्जुन का घनिष्ठ मित्र था।[२]

(६) कुछ[३] क्रान्तिकारी सिद्धान्त इनके और अन्धकों के आपस में मिलते थे।

इससे अनुमान होता है कि, वैपुल्यवाद का केन्द्र[४] भी श्रीधान्यकटक के पास ही था। इस बात की पुष्टि मंजुश्री मूलकल्प का यह श्लोक भी करता है—

> गच्छेद् विदिशं तन्त्रज्ञः सिद्धिकामफलोद्भवाम्।
> पश्चिमोत्तरयोर्मध्यं स देशः परिकीर्तितः॥
>
> (पृ० १७५, पटल १८)

इसमें "पश्चिम-उत्तर के बीच में" विदिशा (मध्य प्रदेश) को बतलाया गया है। यह स्पष्ट ही है कि, लेखक दक्षिण भारत में बैठकर ही ऐसा लिख सकता है। "मंजु- श्रीमूलकल्प" महावैपुल्य-सूत्रों में से है, यह पहले कहा जा चुका है। हमारी समझ में यह स्थान श्रीपर्वत या धान्यकटक ही हो सकता है।

---

१. क्लोङ्-दॅल-ग्सुङ-बूम् (ल्हासा) च, पृष्ठ ९क—"नागार्जुन का निवास-स्थान दक्षिण भारत में, श्रीपर्वत के समीम श्रीधान्यकटक में था।"

२. हर्षचरित, सप्तम उच्छ्वास—(निर्णय सागर, तृतीय संस्करण, पृ० २५०)—"समतिक्रामति च कियत्यपि काले कदाचित् तामेकावलीं तस्मान्नाग-राजात् नागार्जुनो नाम नागैरेवानीतः पातालतलं, भिक्षुरभिक्षत् लेभे च। निर्गत्य रसातलात् त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहननाम्ने नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्।" नागार्जुन ने शातवाहन राजा के नाम "सुहृल्लेख" नामक पत्र लिखा था, जो चीनी और भोटिया-भाषाओं में अब भी सुरक्षित है।

३. जैसे खास अभिप्राय से मैथुन की अनुज्ञा (कथावत्थु २३।१), यह अन्धकों और इनकी एक-सी है। अन्धक बुद्ध के व्यवहार को लोकोत्तर मानते थे (क० ब० २।८), और, यह बुद्ध की ऐतिहासिकता से ही इन्कार करते हैं—"बुद्ध मनुष्य लोक में (आकर) नहीं ठहरे" (१८।१)। "बुद्ध ने धर्म का उपदेश नहीं किया" (१८।२)।

४ नहरल्लवडु (नागार्जुनी-कोंडा, ज़िला गुंटूर)।

(९)

वज्रयान और चौरासी सिद्ध

१. वज्रयान की उत्पत्ति

मन्त्र कोई नयी चीज नहीं है। मन्त्र से मतलब उन शब्दों से है, जिनमें लोग मारण, मोहन, उच्चाटन आदि की अद्भुत शक्ति मानते हैं। यह हम वेदों में भी पाते हैं। ओं वौषट्, श्रौषट् आदि शब्द ऐसे ही हैं, जिनका प्रयोग यज्ञों में आवश्यक माना जाता है। मन्त्रों का इतिहास ढूँढ़िये, तो आप, इन्हें मनुष्य के सभ्यता पर पैर रखने के साथ-साथ, तरक्की करते पायेंगे। प्राचीन बाबुल (बेबिलोन), असुर, मिश्र आदि देशों में भी मन्त्र का अच्छा जोर था। फलतः मन्त्रयान बौद्धों का कोई नया आविष्कार नहीं है। केवल प्रश्न यह है कि, बौद्धों में इसका आरम्भ कैसे हुआ और उसमें प्रेरक-शक्ति क्या थी? पाली के ब्रह्मजालसुत्त से मालूम होता है कि, बुद्ध के समय में ऐसे शान्ति-सौभाग्य लाने वाले पूजा-प्रकार या कल्प प्रचलित थे। गन्धारी-विद्या या आवर्तनी-विद्या पर भी लोग विश्वास रखते थे। बुद्ध ने इन सबको मिथ्या-जीव (=झूठा व्यवसाय) कहकर मना किया; तो भी इससे उनके शिष्य इन विद्याओं में पड़ने से रुक न सके। बुद्ध के निर्वाण को जितना ही अधिक समय बीतता जाता था, उतना ही, लोगों की नजर से, उनके मानुष गुण भी ओझल होते जाते थे। बादल की तह में दिखायी पड़ते सूर्य अथवा कुहरे में टिमटिमाते चिराग की भाँति उनका ऐतिहासिक व्यक्तित्व अधिक धुधला रूप धारण करता जाता था। जहाँ इस प्रकार मानुष बुद्ध लुप्त होते जा रहे थे, वहाँ अलौकिक गुणों वाले बुद्ध की सृष्टि का उपक्रम बढ़ता जाता था। इसी प्रयत्न में बुद्ध के जीवन की अलौकिक कहानियाँ गढ़ी जाने लगीं। ऐसी कहानियाँ आकर्षक होती ही हैं। जब लोगों ने बुद्ध की अलौकिक जीवन-कथाओं को अधिक प्रभावशाली देखा, तब इधर जुट पड़े; किन्तु कुछ दिनों में ही वह आकर्षण फीका पड़ने लगा। बुद्ध की वे अलौकिक शक्तियाँ तो अतीत के गर्भ में विलीन हो गयी थीं। उनकी कथा

से लोगों को वर्तमान में क्या लाभ ? तब बुद्ध की अलौकिक शक्तियों का वर्तमान में भी, उपयोग होने के लिये, बुद्ध के वचनों के पारायणमात्र से, पुण्य माना जाने लगा। उनके उच्चारण मात्र से रोग, भय आदि का नाश समझा जाने लगा ! उस समय भूत-प्रेत आज से बहुत अधिक थे ! इतने अधिक थे कि, अभी उस परिणाम पर पहुँचने के लिये थियासोफी और स्पिरिचुअलिज्म को शताब्दियों मेहनत करनी पड़ेगी ! कुछ लोगों को इन भूतों की बहुत फिक्र रहती थी। इसलिये उन्हें वश में करने के लिये भी कुछ सूत्रों की रचना होने लगी। स्थविरवादियों ने (जो कि, मानुष बुद्ध के बहुत पक्षपाती थे) ही "आटानाटीय-सुत्त"[१] से इसका आरम्भ किया। फिर क्या था, रास्ता खुल निकला। तब स्थविरों ने देखा, वे इस घुड़दौड़ में तब तक बाजी नहीं मार सकते, जब तक वे ऐतिहासिक बुद्ध से पिण्ड न छुड़ा लें; किन्तु वह इनके लिये बहुत कड़वी गोली थी ! उधर दूसरे सम्प्रदाय इसमें विशेष तरक्की करने लगे। जब देखा, दुनिया भी उन्हीं की ओर खिचती जा रही है, तब उन्होंने उसमें और भी उत्साह दिखाना शुरू किया। इसका, फल, हम देखते हैं कि, बुद्ध के निर्वाण से चार ही पाँच सौ वर्षों बाद वैपुल्यवादियों ने बुद्ध के लोक में आने से भी इनकार कर दिया। आखिर लौकिक पुरुष उन अभिलषित अद्भुत शक्तियों का कैसे धनी हो सकता है ?

उक्त क्रम से पहले अठारह प्राचीन बौद्ध-सम्प्रदायों ने सूत्रों में ही अद्भुत शक्तियाँ माननी शुरू कीं; और कुछ खास सूत्र भी इसके लिये बनाये। फिर वैपुल्यवादियों ने, लम्बे-लम्बे सूत्रों के पाठ में विलम्ब देखकर, कुछ पङ्क्तियों की छोटी-छोटी धारणियाँ बनायीं। लेकिन मनुष्य बैलगाड़ी से रेल तक पहुँचकर क्या हवाई जहाज से इनकार कर सकता है ? अन्त में दूसरे लोग पैदा हुए, जिन्होंने लम्बी धारणियों को रटने में तकलीफ उठाती जनता पर, अपार कृपा करते हुए, "ओं मुने-मुने महामुने स्वाहा," "ओं आ हुं," "ओं तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा" आदि मन्त्रों की सृष्टि की। अब अक्षरों का मूल्य बढ़ चला। फिर लोगों को, एक-एक मन्त्राक्षर की खोज में भटकते देख, उन्होंने "मंजुश्रीनामसंगीति"

---

१. "दीर्घ-निकाय" ३२ सुत्त, जिसमें यज्ञों और देवताओं का बुद्ध से संवाद वर्णित है। इसमें यक्षों और देवताओं के प्रतिनिधियों ने प्रतिज्ञाएँ की हैं, जिनके दोहराने से आज भी उनके वंशज देवताओं को, अपने पूर्वजों की प्रतिज्ञा, याद आ जाती है; और, वे सताने से बाज रहते हैं !

के कहे अनुसार सभी स्वर और व्यञ्जन वर्णों को मन्त्र करार दे दिया। अब "ओं" और "स्वाहा" लगाकर चाहे जो भी मन्त्र बनाया जा सकता था; बशर्ते कि, उसके कुछ अनुयायी हों! कहने की आवश्यकता नहीं कि, इन सारी मेहनतों का पारितोषिक, यदि उन्हें रुपये-आने-पाई या उसी तरह की किसी और दुनियावी सुख-सामग्री के रूप में न मिलता, तो शायद दुनिया उनकी इन कृतियों से वंचित ही रहती। संक्षेप में, भारत में बौद्ध मन्त्र-शास्त्र के विकास का यही ढंग रहा है। इस मन्त्रयान-काल को, यदि हम निम्न क्रम से मान लें, तो वास्तविकता से बहुत दूर न रहेंगे—

सूत्र-रूप में मन्त्र—ई० पू० ४००–१००,
धारणीमन्त्र—ई० पू० १००–४०० ईस्वी,
मन्त्र-मन्त्र—ई० ४००–७०० ई०।

इसी धारणी-मन्त्र के युग में हम अलौकिक बुद्ध के सहायक और अनुयायी कितने ही अवलोकितेश्वर, मञ्जुश्री आदि अलौकिक बोधिसत्त्वों की सृष्टि होते देखते हैं।

अब मन्त्रों का माहात्म्य बढ़ने लगा। लोग इन पर धन और श्रम खर्च करने लगे। आविष्कारकों ने भी इधर मन्त्रों की फलदायकता की वृद्धि पर सोचना शुरू किया। उन्होंने देखा, योग की कुछ क्रियाएँ योगी के प्रति अपूर्व श्रद्धा उत्पन्न करती हैं, जिससे लोग जल्दी उनकी बात (*Suggestion*) पर आरूढ़ हो जाते हैं। (आजकल भी हिप्नाटिज्म और मेसमेरिज्म में उत्कट श्रद्धा बहुत ही आवश्यक चीज मानी गयी है)! दूसरे उनकी मानसिक शक्ति, एकाग्रता के कारण, अधिक तीव्र हो, श्रद्धालुओं को छोटे-मोटे चमत्कार दिखाने में या उनके कष्ट-सहन की शक्ति को बढ़ाने में, समर्थ होती है। योगी की कुछ प्रक्रियाओं का, बुद्ध के समय के पूर्व से ही, लोग अभ्यास करते आ रहे थे। बुद्ध के बाद तो और भी करने लगे। इसलिये, बुद्ध-निर्वाण के चार-पाँच सौ वर्षों बाद, इस तरह की उपयोगी मानसिक शक्तियों का उन्हें काफी अनुभव हो चुका था। उन्हें मालूम हो गया था कि, इस तरह के चमत्कार के लिए भक्तों में अन्धश्रद्धा और प्रयोक्ता में तीव्र मानसिक शक्ति की अत्यन्त आवश्यकता है। अब वे, एक ओर, योग से अपनी मानसिक शक्ति को विकसित करने लगे; दूसरी ओर भक्तों में श्रद्धा की मात्रा खूब बढ़ाने के लिये नाना हठ, त्राटक क्रियाओं तथा मन्त्र-तान्त्र की वृद्धि के साथ-साथ सहस्रों नये देवी-देवताओं की सृष्टि करने लगे।

उक्त मन्त्रों और योग-विधियों के प्रवर्त्तकों और अनुवर्त्तकों में दो प्रकार

के मनुष्य थे, एक तो वे, जो वस्तुतः अत्यन्त श्रद्धा से मुग्ध हो, इन क्रियाओं को "स्वान्तःसुखाय" या "परहिताय" करते थे। उनमें उनका अपना स्वार्थ उतना न था। वे उन क्रियाओं द्वारा उस समय के मानसिक वातावरण में तत्काल लोगों को लाभ होते देखते थे; इसलिये, अपार श्रद्धा से, उस काम में प्रवृत्त थे। दूसरे, वे चालाक लोग थे, जो अच्छी तरह जानते थे कि इन मन्त्र-तन्त्र-क्रियाओं की सफलता का अधिक दारोमदार उनकी अपनी अद्भुत् शक्तियों पर उतना नहीं है, जितना कि, श्रद्धालु की उत्कट श्रद्धा पर। इसीलिये श्रद्धालु की श्रद्धा को पराकाष्ठा तक पहुँचाने के लिये या उसे पूर्ण-रूपेण "हिप्नोटाइज्ड" करने के लिये वे नित्य नये आविष्कार करते थे। वस्तुतः फर्स्ट क्लास के आविष्कारक इसी दूसरी श्रेणी के लोग थे। इसी युग में चढ़ावे से अपार धनराशि मठों में जमा हो गयी थी। जब इन्होंने देखा कि, आखिर बुद्ध की शिक्षा से भी हम बहुत दूर हो चुके हैं—लोग श्रद्धा से अन्धे हैं ही और सभी भोग हमारे लिये सुलभ हैं, तब उन्होंने विषय-भोगों के संग्रह की ठानी; और इस प्रकार मद्य और स्त्री-सम्भोग का श्रीगणेश हुआ। यह न समझना चाहिये कि, भैरवी-चक्र के ये ही आविष्कारक थे; क्योंकि इनसे सहस्रों वर्ष पूर्व मिस्र, असुर, यवन आदि देशों में भी ऐसे चक्रों का हम प्रचार देखते हैं। इनका काम इतना ही था कि, इन्होंने बुद्ध के नाम पर और नये साधनों के साथ इन बातों को पेश किया।

इस प्रकार मन्त्र, हठयोग और मैथुन—ये तीनों तत्त्व क्रमशः बौद्धधर्म में प्रविष्ट हो गये। इसी बौद्धधर्म को मन्त्रयान कहते हैं। इसको हम निम्न भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) मंत्रयान (नरम) ई० ४००—७००,

(२) वज्रयान (गरम) ई० ८००–१२००।

वैसे तो वैपुल्यवाद में तथा उससे पूर्व के अन्धक निकायों में विशेष अभिप्राय से मैथुन की अनुज्ञा हो चुकी थी (कथावत्थु २३।१); तो भी वह भैरवी चक्र के रूप में तब तक न प्रकट हो सकी थी, जब तक कि, वज्रयान न बन सका। इस पुराने मन्त्रयान की पुस्तकों में, "मंजुश्रीमूलकल्प" एक है। "मंजुश्रीमूलकल्प" वैपुल्य सूत्रों में से भी है। इसका मतलब यह हुआ कि, मन्त्रयान वैपुल्यवाद या महायान से ही विकसित हुआ है (वस्तुतः अलौकिक बुद्ध और अद्भुत शक्ति-सम्पन्न धारणियों से वैसा होना सम्भव ही था)। "मंजुश्रीमलकल्प" में यद्यपि हम नाना मन्त्र-तन्त्रों का विधान देखते हैं, तथापि उसमें भैरवी-चक्र का अभाव है;

और, वहाँ सदाचार के नियमों की अवहेलना नहीं की गयी है। इस युग को यद्यपि हम गुप्त-साम्राज्य की स्थापना से आरम्भ कर हर्षवर्द्धन के शासन के साथ समाप्त करते हैं, तथापि इसके अङ्कुरित और विकसित होने का स्थान उत्तर भारत न था। "मंजुश्रीमूलकल्प" के वैपुल्यवादी होने की बात हम कह चुके हैं। हम अपने एक लेख में[१] यह भी बतला चुके हैं कि, "मंजुश्रीमूलकल्प" उत्तर भारत में न लिखा जाकर दक्षिण भारत में, विशेषतः धान्यकटक या श्रीपर्वत में लिखा गया है; उसमें इन दोनों स्थानों को, मन्त्र-सिद्धि के लिये, बहुत ही उपयोगी बतलाया गया है।[२]

इससे यह भी मालूम होता है कि, मन्त्रयान के जन्मस्थान श्रीधान्यकटक और श्रीपर्वत है। तिब्बती ग्रन्थों में तो स्पष्ट कहा गया है कि, बुद्ध ने बोधि के प्रथम वर्ष में, ऋषिपतन में श्रावक-धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया; १३वें वर्ष राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर महायान-धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया; और, १६वें वर्ष में मन्त्रयान का तृतीय धर्म-चक्र-प्रवर्तन श्रीधान्यकटक[३] में किया। श्रीपर्वत[४] मन्त्रशास्त्र के लिये बहुत ही प्रसिद्ध था। मालतीमाधव में भवभूति ने श्रीपर्वत का जिक्र कई बार किया है—

(१) "दाणि सोदामिनि समासादिअ अच्चरिअमन्तसिद्धिप्पहावा सिरिपव्वदे कावालिअ-व्वदं धारेदि।" (अङ्क १)।

(२) "यावच्छ्री पर्वतमुपनीय प्रतिपर्व तिलश एनां निकृत्य दुःखमारिणीं करोमि।" (अङ्क ८)।

(३) "श्रीपर्वतादिहाहं सत्वरमपतं तयैव सह सद्यः।" (अङ्क १०)।

बाण भी श्रीपर्वत के माहात्म्य से खूब परिचित था; और, द्रविड़-पुरुष के साथ उसका सम्बन्ध जोड़ने से उसका दक्षिण में होना भी सिद्ध होता है—

---

१. देखिये "महायान की उत्पत्ति"।

२. पृष्ठ ८८—"श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथ संज्ञिके।
श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनधातुधरे भुवि॥
सिध्यन्ते तत्र मन्त्रा वै क्षिप्रं सर्वार्थकर्मसु॥"

३. "बुग-प-पद्म-द्कर्-पो" का "छोस्-व्युङ" पृष्ठ १४ क-१५ क।

४. नहरल्ल-बडु (नागार्जुनी-कोंडा, जि० गुंटूर)।

"श्रीपर्वताश्चार्यवार्तासहस्राभिज्ञेन............जरद्द्रविडधार्मिकेन"[१] और "सकल-प्रणयि-मनोरथ-सिद्धिः श्रीपर्वतो हर्षः।" (हर्षचरित, १ उच्छ्वास)।

इन उदाहरणों से अच्छी तरह मालूम होता है कि, छठी सातवीं शताब्दियों में श्रीपर्वत मन्त्र-तन्त्र के लिये प्रसिद्ध था। वस्तुतः मुसलमानों के आने के वक्त (बल्कि हाल तक) जैसे बंगाल जादू के लिये मशहूर था, वैसे ही उस समय श्रीपर्वत था। ऊपर के मालती माधव के उद्धरण में एक विशेष बात यह है कि, सौदामिनी एक बौद्ध-भिक्षुणी थी, जो पद्मावती (मालवा) से श्रीपर्वत पर मन्त्र-तन्त्र सीखने गयी थी।

श्रीपर्वत के साथ यहाँ सिद्धों के बारे में कुछ कह देना जरूरी है। वस्तुतः श्रीपर्वत सिद्धों का स्थान था; और, जहाँ कहीं भी पुराने संस्कृत-काव्यों में सिद्ध या सिद्धाचार्य-शब्द मिलता है, तहाँ प्रायः कवि का अभिप्राय, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, श्रीपर्वत के साथ रहता है। सिद्धों और उनकी भविष्यद्वाणियों (=सिद्धादेशों) की हम संस्कृत साहित्य में भरमार पाते हैं। मृच्छकटिक (ईस्वी पाँचवीं शताब्दी) में भी—"आर्यकनामा गोपालदारकः सिद्धादेशेन समादिष्टो राजा भविष्यति" (अङ्क २) और "चन्दनं भोः स्मरिष्यामि सिद्धा-देशस्तथा यदि" देखने में आता है। नागार्जुन को सिद्धनागार्जुन कहा जाता है। सम्भवतः नागार्जुन ने श्रीपर्वत को अपना वासस्थान बनाया था। वज्र-यान के साथ नागार्जुन को नहीं जोड़ा जा सकता। यद्यपि तिब्बती ग्रन्थकार इसके लिये नागार्जुन को ६०० वर्ष की लम्बी आयु देने के लिये तैयार हैं; तथापि मालूम होता है कि, उनकी शिक्षा में मन्त्रों की कुछ बात थी, जिसकी पुष्टि श्रीपर्वत के मन्त्र-तन्त्र का केन्द्र बनने से होती है। नागार्जुनी-कोंडा की खुदाई में मिले लेखों से अब तो यह मालूम हो गया है कि, श्रीपर्वत श्रीशैल न होकर नागार्जुनी-कोंडा का 'नहरल्ल-वडु' पहाड़ ही है।

सातवीं शताब्दी में मन्त्रयान का प्रथम रूप समाप्त होता है, और, उसके बाद, वह वज्रयान के घोर रूप को धारण करता है। १४वीं शताब्दी के सिंहल-भाषा के ग्रन्थ "निकाय-संग्रह" में इसी वज्रयान को वज्रपर्वतवासी निकाय कहा है। मालूम होता है श्रीपर्वत ही, वज्रयान का केन्द्र होने के कारण वज्रपर्वत कहा जाने लगा। यद्यपि वज्रयान के ग्रन्थों में वज्रपर्वत स्थान नहीं आता है, तथापि निकाय-संग्रह ने जिन ग्रन्थों को इस निकाय का बताया है,

---

१. कादम्बरी (निर्णयसागर, सप्तम संस्करण, पृ० ३९९)

वे वज्रयान के ही हैं। "निकायसंग्रह"[१] में वज्रपर्वतवासियों को निम्न ग्रन्थों का कर्त्ता बताया गया है—

गूढ़ विनय।
मायाजालतन्त्र ([२]*Naujio's* 1061, भोट, कन्जुर ८४।१०)।
समाजतन्त्र (गुह्यसमाजतन्त्र कन्जुर ८३।२)।[३]
महासमयतत्व।
तत्वसंग्रह (क० २५।८)।
भूत-चामर (भूतडामरतन्त्र, क० ४३।८)।
वज्रामृत (क० ८२।१२)।
चक्र-संवर (क० ८०।१)।
द्वादशचक्र (कालचक्र, क० ७९।३, ४)।
भेरुकाद्बुद (हेरुकाद्भुत, क० ८१।२)।
महामाया (क० ८२।३)।
पदनिःक्षेप।
चतुष्पिष्ट (चतुः पीठतन्त्र, क० ८२।६, ८)।
परामर्द (? महासहस्रप्रमर्दनी, क० ९१।१)।
मारीच्युद्भव।
सर्वबुद्ध (सर्वबुद्ध समायोग, क० ८९।६)।
सर्वगुह्य (क्रोध राज सर्वमन्त्र-गुह्य-तन्त्र, क० ८२।११)।
समुच्चय (वज्रयान-समुच्चय, क ८३।५)।
मायामारीचिकल्प (क० ९१।६?)।
हेरम्बकल्प।
त्रिसमय कल्प (त्रिसमयव्यूह-राजतन्त्र, क० ८८।४)।
राजकल्प (? परमादिकल्पराज, क० ८६।५)।
वज्रगान्धार कल्प। मारीचिकल्प।
गुह्यकल्प (गुह्य-परम रहस्य कल्पराज क० ८९।१)
शुद्ध समुच्चय कल्प (? सर्वकल्प समुच्चय, क० ७९।७)।

---

१. निकायसंग्रह पृष्ठ ८, ९ (सीलोन सरकार द्वारा १९२२ में, मुद्रित)।
२. *Bunjio Naujio* का चीनी त्रिपिटक-सूचीपत्र।
३. नार्थङ के छापे के कन्जुर का लेखक द्वारा लिखित सूचीपत्र।

ये सभी वज्रयान के प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, इसलिये वज्रपर्वत निकाय और वज्रयान एक ही हैं। तिब्बतीय ग्रन्थों में लिखा है कि, वज्रयान का धर्म-चक्र-प्रवर्त्तन बुद्ध ने श्रीधान्यकटक में किया था। इससे वज्रयान की उत्पत्ति भी, आन्ध्र-देश में हुई सिद्ध होती है। श्रीपर्वत और धान्यकटक, दोनों ही वर्तमान गुंटूर जिले में हैं; इसलिये पीछे श्रीपर्वत के वज्रयान का केन्द्र बन जाने पर वही वज्रपर्वत कहा जाने लगा। मद्य, मन्त्र, हठयोग और स्त्री[१]—ये चार ही चीजें वज्रयान के मुख्य रूप हैं।

चौथी बात (स्त्री) में तो उन्होंने जाति, कुल ही नहीं, बल्कि माता, बहन के सम्बन्ध तक की अवहेलना करने की शिक्षा दी है। यह बुद्ध की मूल शिक्षा से दूर तो थी ही, महायान के लिये भी इसे जल्दी हजम करना मुश्किल था। इसीलिए महायान से साधारण मन्त्र-यान में होकर वज्रयान तक पहुँचना पड़ा।

---

१. गायकवाड़-ओरियंटल-सीरीज, बड़ौदा से प्रकाशित "गुह्यसमाजतंत्र" में लिखा है—

"प्राणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्यं च मृषा वचः
अदत्तं च त्वया ग्राह्यं सेवन योषितामपि ॥
अनेन वज्रमार्गेण वज्रसत्त्वान् प्रचोदयेत्।
एषो हि सवबुद्धानां समयः परमशाश्वतः ॥" (पृ० १२०)
"दुष्करैर्नियमैस्तीव्रैः सेव्यमानो न सिध्यति।
सर्वकामोपभोगांस्तु सेवयंश्चाशु सिध्यति।" (पृ० १३६)
"विण्मूत्रशुक्ररक्तानां जुगुप्सां नैव कारयेत्।
भक्षयेत् विधिना नित्यं इदं गुह्यं त्रिवज्रजम् ॥" (पृ० १३६)
"नीलोत्पलदलाकारं रजकस्य महात्मनः।
कन्यां तु साधयेत् नित्यं वज्रसत्त्व-प्रयोगतः ॥" (पृ० ९४)

वज्रयान के आदि आचार्यों में सिद्ध अनङ्गवज्र भी हैं। यह ८४ सिद्धों में से एक हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ "प्रज्ञोपायविनिश्चय-सिद्धि" (गा० ओ० सी० बड़ोदा) में लिखा है—

'प्रज्ञापारमिता सेव्या सर्वथा मुक्ति-काङ्क्षिभि ॥२२॥
ललनारूपमास्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता ॥२३॥
ब्राह्मणादिकुलोत्पन्नां मुद्रां वै अन्त्यजोद्भवाम् ॥२४॥
जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्।
कामयन् तत्त्वयोगेन लघु सिध्येद्धि साधकः ॥२५॥" (पृ० २२-२५)

साधारण मन्त्रयान से कब यह ज्वालामुखी फूट पड़ा, इसके बारे में हमें प्रत्यक्ष प्रमाण तो मिल नहीं सकता; किन्तु ऐसी बातें हैं, जिनके बल पर हम उसका आरम्भ सातवीं शताब्दी के आस-पास मान सकते हैं—

(१) सिंहल के "निकाय-संग्रह" में लिखा है—राजा मत-बल-सेन (८४६-८६६ ई०) के समय वज्र पर्वत निकाय का एक भिक्षु सिंहल में आया और वीरांकुर (विहार) में रहने लगा। उसके प्रभाव में आकर राजा ने वाजिरिय (वज्रयान) मत को स्वीकार किया। इसी से लंका में रत्नकूट आदि (ग्रन्थों) का प्रचार आरम्भ हुआ। इसके बाद से राजा ने यद्यपि वज्रयान के खिलाफ कुछ कड़ाई[१] दिखायी, तथापि वाजिरिय सिद्धान्त गोप्य थे; इसलिये वह चुपचाप बने रहे। तिब्बत के रंगीन चित्रों में जिन्होंने अतिशा (दीपंकर श्रीज्ञान) आदि भारतीय भिक्षुओं की शकल देखी होगी, उन्हें वहाँ उनके चीवर के भीतर एक नीले रंग की जाकेट-सी दिखायी पड़ी होगी। "निकायसंग्रह" में इसकी उत्पत्ति विचित्र ढंग से कही गई है—जिस समय कुमारदास (५१५-५२४ ई०) सिंहल में राज्य कर रहे थे, उसी समय दक्षिण मथुरा में श्रीहर्ष नामक राजा शासन करता था। उस समय सम्मितीय निकाय का एक दुःशील भिक्षु, नीला कपड़ा पहन, रात को वेश्या के पास गया। जब दिन उग आने पर वह विहार लौटा और उसके शिष्यों ने वस्त्र के बारे में पूछा, तब उसने उसके बहुत से माहात्म्य वर्णन किये। तब से उसके अनुयायी नीला वस्त्र पहनने लगे। उनके "नीलपट-दर्शन" में लिखा है—

इनके शिष्य सिद्ध राजा इन्द्रभूति ने अपने ग्रन्थ "ज्ञानसिद्धि" में लिखा है—
"घातयेत् त्रिभवोत्पत्तिं परवित्तानि हारयेत्।
कामयेत् परदारान्वै मृषावादमुदीरयेत्॥१४॥
कर्मणा येन वै सत्त्वाः कल्पकोटिशतान्यपि।
पच्यन्ते नरके घोरे तेन योगी विमुच्यते॥१५॥
भक्ष्याभक्ष्यविनिर्मुक्तो पेयापेयविवर्जितः।
गम्यागम्य-विनिर्मुक्तो भवेद् योगी समाहितः॥१८॥
चाण्डालकुलसम्भूतां डोम्बिकां वा विशेषतः।
जुगुप्सितकुलोत्पन्नां सेवयन् सिद्धिमाप्नुयात्॥८२॥ (१....)
शुक्रं वैरोचनं ख्यातं परं वज्रोदकं तथा।
स्त्रीन्द्रियं च यथा पद्म वज्रं पुंसेन्द्रियं तथा॥" (२।४२)

१. "सद्धम्मपटिरूपानं दिस्वालोके पवत्तानं
गण्हापेसि तथा रक्खं सागरन्ते समन्ततो॥" (निकाय; सं० पृ० १७)

"वेश्यारत्नं सुरारत्नं रत्नं देवो मनोभवः ।
एतद्रत्नत्रयं वन्दे अन्यत् काचमणित्रयम् ।।"

कहते हैं, इस पर श्रीहर्ष ने उन्हें बहाने से एक घर में इकट्ठा कर जलवा दिया ।

इस कथा में सभी बातें तो सच नहीं मालूम होतीं; किन्तु छठी शताब्दी में इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति तथा साम्मितीय निकाय से इसका सम्बन्ध कुछ ठीक सा जँचता है । हम दूसरी जगह, अपने "महायान की उत्पत्ति" नामक लेख में, लिख चुके हैं कि, महायान की उत्पत्ति में साम्मितीयों का काफी हाथ था । इस तरह हम छठी शताब्दी को वज्रयान की उत्पत्ति की ऊपरी सीमा मान सकते हैं । निचली सीमा हमें ८४ सिद्धों के काल से मिलती है ।

२—चौरासी सिद्ध[१]

सरह आदिम सिद्ध हैं, और, आगे हम बतलायेंगे कि, वह पालवंशीय राजा धर्मपाल (ई० ७६८–८०९) के समकालीन थे; इसलिये उनका समय, आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध, मानना चाहिये । प्रथम कहे कारणों से हम वज्रयान की उत्पत्ति को, छठी शताब्दी से पूर्व और सरह आदि के कारण आठवीं शताब्दी से बाद भी, नहीं मान सकते । सरह उन चौरासी सिद्धों के आदि-पुरुष हैं,

---

१ इस वंश वृक्ष को मैंने अधिकांश तिब्बत के स-स्क्य-विहार के पाँच प्रधान गुरुओं (१०९१-१२७९ ई०) की ग्रन्थावली "स-स्क्य-ब्कं-बुम्" के सहारे बनाया है, जो कि, चीन की सीमा के पास "तेर्-गी" मठ में छपी है । मत्स्येन्द्र जालन्धर पाद के शिष्य थे, यह प्रोफेसर पीताम्बरदत्त बड्थ्वालजी के लेख से लिया है । कहीं-कहीं कुछ दूसरे भोटिया-(तिब्बतीय) ग्रन्थों से भी मदद ली गयी है । लेखक के पास जो नार-थङ् के तन्-जूर की प्रति है, वह ब्लाक के पुराने होने से सुपाठ्य नहीं है; इसी लिये कुछ स्थान पढ़े नहीं जा सकते । पेरिस के महान् पुस्तकालय की तन्-जूर् की कापी मैंने मिलायी थी; किन्तु उसका नोट पास में न होने से यहाँ उसका उपयोग नहीं किया जा सका ।

स-स्क्य-ब्कं-बुम् 'प' में (महन्तराज फग-स्-प १२३३–१२७९ ई० की कृति) के पृष्ठ "६५ क" में सरहपाद से नारोपा तक की परम्परा इस प्रकार दी हुई है—(महाब्राह्मण) सरह, (नागार्जुन), (शबरपा), लूयिपा, दारिकपा, (वज्र-घण्टापा), (कूर्मपाद), जालन्धरपा, (कण्हचर्यपा) गुह्यपा, (विजयपा), तेलोपा, नारोपा ।

कोष्टक के भीतर के नाम मैंने भोटिया से अनुवाद कर दिये हैं ।

जिन्होंने लोक-भाषा की अपनी अद्‌भुत कविताओं तथा विचित्र रहन-सहन और योग-क्रियाओं से वज्रयान को एक सार्वजनीन धर्म बना दिया। इससे पूर्व वह, महायान की भाँति, संस्कृत का आश्रय ले, गुप्त रीति से फैल रहा था। सरह से पूर्व की एक शताब्दी को हम साधारण मन्त्रयान और वज्रयान का सन्धि-काल मान सकते हैं। आठवीं शताब्दी से जोरों का प्रचार होने लगा। तब से मुसलमानों के आने तक यह बढ़ता ही गया। १२वीं शताब्दी के अन्त में भारत के तुर्कों के हाथ में जाने के समय से पतन आरम्भ हुआ और तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दियों तक यह विलुप्त तथा रूपान्तरित हो गया (बंगाल, उड़ीसा और दक्षिण भारत में कुछ देर और रहा)। रूपान्तरित इसलिये कि, ऊपरी वंश-वृक्ष में आपको चौरासी सिद्धों में गोरक्षनाथ, मीननाथ और चौरंगीनाथ का नाम मिलेगा। यहाँ हमने इन्हें तिब्बती ग्रन्थ के आधार पर दिया है। उधर नाथ-पंथ के ग्रन्थों में भी चौरासी सिद्धों के साथ सम्बन्ध होने की बात दिखायी पड़ती है। इसे समझने में और आसानी होगी, यदि आप चौरासी सिद्धों की निम्न सूची पर ध्यान देंगे—

	नाम	जाति	देश	समकालीन राजा या सिद्ध
१	लूइपा	कायस्थ	(मगध)	राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)
२	लीलापा			सरह (६) से तीसरी पीढ़ी
३	विरूपा		मगध (देवपाल का देश)	राजा देवपाल (८०९-४९ ई०)
४	डोम्बिपा	क्षत्रिय	(मगध)	लूइपा (१) का शिष्य
५	शबरपा	”	विक्तमशिला	[सरह (६) का शिष्य, लूइपा का गुरु]
६	सरहपा	ब्राह्मण	(नालन्दा)	राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०)
७	कंकालीपा[1]	शूद्र	मगध[2]	
८	मीनपा	मछुआ	कामरूप....	जालन्धरपाद (४६) का शिष्य गोरक्षपा के गुरु मत्स्येन्द्र का पिता देवपाल[3] (८०९-४९ ई०)
९	गोरक्षपा			
१०	चोरंगिपा	राजकुमार	मगध	गोरक्षपा (९) का गुरुभाई
११	वीणापा	राजकुमार	गौड़ (विहार)	कण्हपा (१९) के शिष्य, भद्रपा का शिष्य
१२	शान्तिपा[4]	ब्राह्मण	मगध	महीपाल ९७४-१०२६
१३	तन्तिपा	तँतवा	सोंधो नगर	जालन्धर (४६) का शिष्य

---

१. कोंकलिपा, कंकलिपा, कंकरपा

२. पूर्व में राज्ञी नगर।

३. "चतुराशीति-सिद्ध-प्रवृत्ति" तन्जूर ८६।१ *Cordier* पृ० २४७।

४. रत्नाकर शान्ति (विक्रमशिला)

	नाम	जाति
१४	चमारिपा	चर्मकार
१५	खड्गपा	शूद्र
१६	नागार्जुन	ब्राह्मण
१७	कण्हपा (चर्यपा)	कायस्थ
१८	कर्णरिपा (आर्यदेव)	
१९	थगनपा	शूद्र
२०	नारोपा[१]	ब्राह्मण
२१	शलिपा[२] (शीलपा)	शूद्र
२२	तिलोपा (तिल्लोपा)	ब्राह्मण
२३	छत्रपा	शूद्र
२४	भद्रपा	ब्राह्मण
२५	दोखंधि (द्विखंडि) पा	
२६	अजोगिपा	गृहपति
२७	कालपा	
२८	धोम्भिपा	धोबी

---

१. देहान्त १०३९ ई० ।

२.

३. सम्भवतः बघेलखण्ड का मैहर ।

देश	समकालीन राजा या सिद्ध
विष्णुनगर (पूर्वदेश)	
मगध	चर्पटी (५४) का शिष्य
काञ्ची	सरह (६) का शिष्य
सोमपुरी	देवपाल (८०९-४९ ई०)
(नालन्दा)	नागार्जुन (१६) का शिष्य
पूर्व भारत	शान्तिपा (१२) का गुरु
मगध............	(महीपाल ९७४-
विघसुर	१०२६ ई०)
भिगुनगर	नारोपा (२०) का गुरु
संधोनगर	
मणिधर[3]	सरहपा (६) से तीसरी पीढ़ी
गंधपुर	
सालिपुत्र	
राजपुर...........	अवधूतिया (११वीं शताब्दी)
सालिपुत्र	की तीसरी पीढ़ी

सम्भवतः शृगालीपाद ("बौद्ध गान ओ दोहा") भी यही हैं ।

	नाम	जाति
२९	कंकरापा	राजकुमार
३०	कमरि (कंबल)पा	
३१	डेंगिपा	ब्राह्मण
३२	भदेपा	
३३	तंधे (तंते)पा[1]	शूद्र
३४	कुकुरिपा	ब्राह्मण
३५	कुचि[2] (कुसूलि)पा	शूद्र
३६	धर्मपा	ब्राह्मण
३७	महीपा (महिलपा)	शूद्र
३८	अचिंतिपा	लकड़हारा
३९	भलह (भव) पा	क्षत्रिय
४०	नलिनपा	
४१	भुसुकुपा	राजकुमार

१. सम्भवतः टंटन (बौ० गा० दो०)   २.

देश	समकालीन राजा या सिद्ध
विष्णुनगर	
उड़ीसा	घंटापा (५२) का शिष्य
उड़ीसा (सालिपुत्र)	लूइपा (१) का शिष्य
श्रावस्ती	कण्हपा (१७) का शिष्य
कौशाम्बी	
कपिल (वस्तु)	मीनपा (८) का गुरु
करि	
विक्रम (शिला)	देश कण्हपा (१७) और जालन्धरपा का शिष्य
मगध	कण्हपा (१७) का शिष्य
धनिरूप (?)	
धञ्जुर (देश)	
सालिपुर	
नालन्दा	देवपाल (८०९-४९ ई०)

सम्भवतः गुंजरीपा (बौ० गा० दो०)।

नाम	जाति	देश
७० धहुलि[१] (धहुरि) पा	शूद्र	धेकरदेश (?)
७१ उधलि (उधरि) पा	वैश्य	देवीकोट
७२ कपाल (कमल) पा	शूद्र	राजपुरी
७३ किलपा	राजकुमार	प्रहर (? सहर)
७४ सागरपा	राजा	कांची
७५ सर्वभक्षपा	शूद्र	महर (सहर)
७६ नागबोधिपा	ब्राह्मण	पश्चिम भारत
७७ दारिकपा	राजा	उड़ीसा (सालिपुत्र)
७८ पुतुलिपा	शूद्र	भंगलदेश
७९ पनह (उपानह)पा	चमार	सन्धो नगर
८० कोकालिपा	राजकुमार	चम्पारन
८१ अनंगपा	शूद्र	गौड़
८२ लक्ष्मीकरा (योगिनी)	राजकुमारी	सम्भलनगर[२]
८३ समुदपा		सर्वडिदेश[३]
८४ भलि (व्यालि) पा	ब्राह्मण	अपत्रदेश (?)

---

१. सम्भवतः दवडीपा (चर्यागीति)। २. सम्भलपुर (बिहार)।
३. सर्वार (गोरखपुर, बस्ती जिले)।

नाम	जाति	देश
७० धहुलि[1] (धहुरि) पा	शूद्र	धेकरदेश (?)
७१ उधलि (उधरि) पा	वैश्य	देवीकोट
७२ कपाल (कमल) पा	शूद्र	राजपुरी
७३ किलपा	राजकुमार	प्रहर (? सहर)
७४ सागरपा	राजा	कांची
७५ सर्वभक्षपा	शूद्र	महर (सहर)
७६ नागबोधिपा	ब्राह्मण	पश्चिम भारत
७७ दारिकपा	राजा	उड़ीसा (सालिपुत्र)
७८ पुतुलिपा	शूद्र	भंगलदेश
७९ पनह (उपानह)पा	चमार	सन्धो नगर
८० कोकालिपा	राजकुमार	चम्पारन
८१ अनंगपा	शूद्र	गौड़
८२ लक्ष्मीकरा (योगिनी)	राजकुमारी	सम्भलनगर[2]
८३ समुदपा		सर्वंडिदेश[3]
८४ भलि (व्यालि) पा	ब्राह्मण	अपत्रदेश (?)

१. सम्भवतः दवडीपा (चर्यागीति)। २. सम्भलपुर (बिहार)।
३. सर्वार (गोरखपुर, बस्ती जिले)।

चौरासी सिद्धों की गणना में यद्यपि पहला नम्बर लूइपा का है; तथापि वह चौरासी सिद्धों का आदिम पुरुष नहीं था, वह ऊपर दिये वंश-वृक्ष से मालूम होगा। यद्यपि इस वंश-वृक्ष में सिर्फ ५० से कुछ अधिक सिद्ध आये हैं; तथापि छूटे हुओं में सरह के वंश से पृथक् का कोई नहीं मालूम होता; इसलिये सरह ही चौरासी सिद्धों का प्रथम पुरुष है। चौरासी सिद्धों में सरह, शवर, लूइ, दारिक, वज्रघण्टा (या घण्टा) जालंधर, कण्हपा और शान्ति का खास स्थान है। वज्रयान के इतने भारी प्रचार और प्रभाव का श्रेय अधिकांश में इन्हीं को है। डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य[१] ने सरह का समय ६३३ ई० निश्चित किया है। भोटिया-ग्रन्थों से मालूम होता है कि, (१)[२] बुद्धज्ञान जो सरह के सहपाठी और शिष्य थे, दर्शन में हरिभद्र के भी शिष्य थे। हरिभद्र शान्तरक्षित के शिष्य थे, जिनका देहान्त ८४० ई० के करीब तिब्बत में हुआ था। (२) वहीं से यह भी मालूम होता है कि, बुद्धज्ञान और हरिभद्र महाराज धर्मपाल[३] (७६९–९०९) के समकालीन[४] थे। (३) सरह के शिष्य शबरपा लूइपा के गुरु थे। लूइपा महाराज धर्मपाल[५] के कायस्थ(= लेखक) थे।

शान्तरक्षित का जन्म ७४० के करीब, विक्रमशिला के पास, सहोर[६] राज-वंश में हुआ। फलतः हम सरहपा को महाराज धर्मपाल (७६९–८०९) का समकालीन मान लें, तो सभी बातें ठीक हो जाती हैं। इस प्रकार चौरासी सिद्धों का आरम्भ हम आठवीं शताब्दी के अन्त (८०० ई०) मान सकते हैं। अन्तिम सिद्ध कालपाद (२७), मालूम होता है, चेलूकपा (५४) के शिष्य थे। एक छोटे कालपाद भी हुए हैं, यदि यह वह नहीं हैं, तो इन्हीं को चौरासी सिद्धों में लिया जा सकता है। चेलुकपा अवधूतिपा या मैत्रीपा के शिष्य थे। यह वही मैत्रीपा हैं, जो दीपंकर श्रीज्ञान के विद्यागुरु थे और ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में वर्त्तमान थे। इस प्रकार अन्तिम सिद्ध का समय ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त से पूर्व

---

१. बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी का जर्नल, खण्ड १४, भाग ३, पृष्ठ ३४९।

२. स-स्क्य ब्कं-ऽबुम् फ्, पृष्ठ २१२ खं––२१७ क।

३. अध्यापक दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य के मतानुसार ७४४–८०० ई०।

४. स-स्क्य ब्कं-ऽबुम् फ्, पृष्ठ २१२ ख।

५. स-स्क्य-ब्कं-ऽबुम् फ्, पृष्ठ २४३ क।

६. वर्तमान सबोर पर्गना (भागलपुर)।

होगा। अतएव चौरासी सिद्धों का युग—८००–११७५ ई० मानना ठीक जान पड़ता है। इसी समय सिद्धों की चौरासी संख्या पूरी हो गयी थी।[१]

---

१. वज्रयान की ऐतिहासिक खोज भोटिया-(तिब्बती) साहित्य की सहायता के बिना बिल्कुल अपूर्ण रहेगी; किन्तु, भोटिया-साहित्य का उपयोग करने में कुछ बातों का ध्यान रखना जरूरी है; नहीं तो, भारी गलती होने का डर है। पहली बात तो यह है कि, इस प्रकार की सामग्री में पद्मसंभव से सम्बन्ध रखने वाली कथाएँ बहुत ही भ्रमपूर्ण हैं। भोट के निग्र-मा-पा सम्प्रदाय ने भोट में एक अलौकिक बुद्ध खड़ा करने के खयाल से, इस अद्भुतकर्मा पुरुष की सृष्टि की! ज्यादा से ज्यादा इसकी ऐतिहासिकता के बारे में, इतना ही कह सकते हैं कि, शान्तरक्षित की मण्डली के भिक्षुओं में पद्मसंभव नाम का एक साधारण भिक्षु भी था। जैसे महायान ने पाली-सूत्रों के अल्प प्रसिद्ध सुभूति को सारी प्रज्ञापारमिताओं का उपदेष्टा बनाकर सारिपुत्र और मौद्गल्यायन से भी अधिक महत्त्वशाली बना डाला, वैसे ही निग्-मा-पा ने पद्मसंभव के लिये किया। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि, भोट में भारतीय बौद्धधर्म के इतिहास की सामग्री दो प्रकार की है। एक तो उस समय की, जब कि, भारत में बौद्धधर्म जीवित था और उस समय भारतीय विद्वान् तिब्बत में धर्म-प्रचारार्थ तथा तिब्बतीय विद्यार्थी भारत में अध्ययनार्थ आया-जाया करते थे। दूसरी वह, जब कि, भारत से बौद्धधर्म नष्ट हो चुका था और तिब्बतीय ग्रन्थकार नेपाल या भारत में आकर, अथवा भोट में यहाँ के आदमियों को पाकर, सुन-सुनाकर लिखते गये। इन दो प्रकार की सामग्रियों में प्रथम प्रकार की सामग्री ही अधिक प्रामाणिक है। इस सामग्री के संग्रह करने के समय को तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है—

(१) सम्राट् ठि-स्रोङ-ल्दे-ब्वन् से सम्राट् रल्-पा-चन् तक (७१९-९०० ई०)।

(२) अतिशा और उनके अनुयायियों का (१०४२-१११७ ई०)।

(३) स-स्क्य-विहार की प्रधानता और बु-स्तोन् का समय (११४१-१३६४) ई०।

बु-स्तोन् के बाद भारत से बौद्धधर्म नष्ट हो जाने के कारण, फिर भोट को सजीव बौद्ध भारत से सम्बन्ध जोड़ने का अवसर नहीं मिला। प्रथम काल में ऐतिहासिक सामग्री बहुत कम मिलती है, जो मिलती भी है, उसे निग्-मा-पा (प्राचीनपंथी) सम्प्रदाय ने इतना गड़बड़ कर दिया है कि, उसका उपयोग बहुत ही सावधानी से करना पड़ेगा। दूसरे काल में डोन्-तोम् आदि रचित दीपंकर की जीवनी एवं कई और ऐतिहासिक ग्रन्थ बड़े काम के हैं। तृतीय काल की सामग्री बहुत ही प्रामाणिक तथा प्रचुर प्रमाण में मिलती है। इसके मुख्य ग्रन्थ हैं स-स्क्य-विहार के पाँच प्रधान महन्त-राजाओं की कृतियाँ (स-स्क्य-ब्कं-बुम्) और बु-स्तोन् (१२९०–१३८४ ई०) तथा उनके शिष्यों की ग्रन्थमाला (बु-स्तोन्-यब-स्रस्-ग्सुं-बुम्)। डुक्-पा-पद्मा-दकर् पो (जन्म १५२६ ई०), लामा

उक्त समय में ही चौरासी संख्या पूरी हो जाने का एक और प्रमाण मिलता है। बारहवीं शताब्दी के अन्त में मित्रयोगी या जगन्मित्रानन्द एक बड़े सिद्ध हो गये हैं। इनकी २० के करीब पुस्तकें भोटिया-भाषा में अनूदित हुई हैं, जिसमें "पदरत्नमाला" तथा "योगीस्वचित्त-ग्रंथकोपदेश" हिन्दी कविताएँ मालूम होती हैं। इन्हीं के ग्रन्थों में "चन्द्रराज-लेख" भी है। इनके दुभाषियों में थे ग्नुब्-निवासी छुल्-ख्रिम्स् और ख्रो-फु-निवासी ब्यम्स्-पई-पल्। ख्रो-फू-ब्यम्स्-पई-पल् की प्रार्थना पर यह ११९७ ई० में नेपाल से तिब्बत गये[1] और वहाँ अठारह मास रहे। यह ख्रो-फु-लोचवा (=दुभाषिया) वही है, जो विक्रमशिला-विहार के महम्मद-बिन्-बख्तियार द्वारा नष्ट किये जाने पर वहाँ के पीठ-स्थविर शाक्यश्रीभद्र को ११९९ में भोट ले गया। यहाँ हमारा मतलब मित्रयोगी से है। तिब्बत में तो यह प्रसिद्ध ही थे। इनके "चन्द्रराज-लेख" से मालूम होता है कि, वह किसी राजा के लिये लिखा गया है; और, यह भी अनुमान हो रहा था कि, वह बारहवीं शताब्दी के अन्त में उत्तर प्रदेश या बिहार का कोई राजा रहा होगा। अब अनुमान की जरूरत ही नहीं है। इसी समय के बोधगया के एक शिलालेख में[2] इनका और गहडवार राजा जयचन्द्र (११७१-९४ ई०) का जिक्र इन शब्दों में आया है—

"अस्ति त्रिलोकी सुकृतप्रसूतः संत्रातुमामन्त्रितसर्वभूतः।
सम्बुद्धसिद्धान्वयधुर्य्यभूतः श्रीमित्रनामा परमावधूतः ॥४॥

हिंस्राः हिंसामशेषाः क्रुधमधिकरु षस्त्रस्नवस्त्रासमाशु
व्याधूयोदस्तहस्तप्रणयपरतया विश्वविश्वासभूमेः।
चेतः संप्रीयमाणं मधुरतरदृशा श्लेषपीयूषपाते-
स्तिर्यञ्चःसूचयन्ति च्युतमलपटलं यस्य मैत्रीषु चित्तम् ॥५॥
उदितसकल भूमीमण्डलैश्वर्य-सिद्धिः
स्वयमपिकिमपीच्छन्नच्छधैर्यस्य शिष्यः।

तारनाथ (जन्म १५७४ ई०) तथा वैसे ही दूसरे कितने ही लेखकों की कृतियाँ कुछ तो भोट की पुरानी सामग्री पर अवलम्बित हैं और कुछ सुनी-सुनाई बातों पर। इसलिये इनका उपयोग करते वक्त बहुत सावधानी की आवश्यकता है।

१. जर्नल एसियाटिक सोसाइटी (बंगाल) १८८९, जिल्द ५८, पृष्ठ १

२. इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, कलकत्ता; मार्च १९२९, पृष्ठ १४-३०।

अभवदभयभाजः श्रद्धया बन्धुरात्मा
नृपशतकृतसेवः श्रीजयच्चन्द्रदेवः ।। (१०)

श्रीमन्महाबोधिपदस्य शास्त्रग्रामादिकं मग्नमशेषमेव ।
काशीशदीक्षागुरुरुद्दधार यः शासनं शासनकर्णधारः ।। (१२)

सत्राणि तिसृणां चासामङ्गणेषु निरङ्गणः ।
सोऽयं श्रीमज्जगन्मित्रः शाश्वतीकृत्य कृत्स्नवित् ।। (१४)

....वेदनयनेन्दु-निष्ठया संख्ययाङ्कपरिपाटिलक्षिते ।
विक्रमाङ्कनरनाथवत्सरे ज्येष्ठमासि युगपद् व्यदीधपत् ।।" (१५)

इसमें मित्र और जगन्मित्र, दोनों ही नाम आये हैं । काशीश्वर जयच्चन्द्रदेव का उन्हें दीक्षा-गुरु कहा है और साथ ही बुद्धधर्म (=शासन) का कर्णधार भी । सिद्धों के सारे गुण इनमें थे; तो भी इनका नाम चौरासी सिद्धों में न आना बतलाता है कि, इनके पहले ही चौरासी संख्या पूरी हो चुकी थी ।[१]

---

१. (१) बौद्धधर्म में अन्त तक का विचार-विकास । (२) बौद्धधर्म के भारत से लोप का कारण । (३) भारत में, आमतौर से, विहार में विशेष तौर से तथा गया जिले में बहुत ही अधिकता से जो बौद्ध-मूर्तियाँ मिलती हैं, उनका परिचय तथा बौद्धमूर्ति-विद्या । (४) नाथपंथ, कबीर, नानक आदि संतमतसंबंधी विचार के स्रोत का मूल । (५) कौलधर्म, वाममार्ग, भैरवीचक्र आदि के विकास का इतिहास । (६) भारत में हठयोग, स्वरोदय, त्राटक (Hypnotism), भूतावेश (Spiritualism) का क्रम-विकास (७) १२वीं शताब्दी में भारतीयों की राजनीतिक पराजय का कारण । (८) पालवंश का इतिहास (विशेष तौर से) गहडवार आदि कितने ही राजवंशों का इतिहास (आंशिक तौर से) । (९) हिन्दी-भाषा के आदि कवि और उनकी कविता ।

—यह और कितने ही और भी विषय हैं, जिनके लिये वज्रयान के इतिहास का अध्ययन बहुत ही महत्वपूर्ण है ।

(१०)

हिन्दी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविताएँ

सिद्धयुग (८००—१२०० ई०)

सिद्ध लोगों ने उस समय लोकभाषा में कविता शुरू की, जिस समय शताब्दियों से भारत के सभी धर्मवाले किसी-न-किसी मुर्दा भाषा द्वारा अपने धर्म का प्रचार कर रहे थे, और इसी कारण उनके धर्म के जाननेवाले बहुत थोड़े हुआ करते थे। सिद्धों के ऐसा करने के कारण थे वह धर्म, आचार, दर्शन आदि सभी विषयों में एक क्रान्तिकारी विचार रखते थे। वह सभी अच्छी-बुरी रूढ़ियों को उखाड़ फेंकना चाहते थे; यद्यपि जहाँ तक मिथ्या-विश्वास का सम्बन्ध था, उसमें वह कई गुनी वृद्धि करनेवाले थे। अपने वज्रयान की जनता पर विजय पाने के लिये उन्होंने भाषा की कविता का सहारा लिया। आदिसिद्ध सरहपाद से ही हम देखते हैं कि, सिद्ध बनने के लिये भाषा का कवि होना, मानों एक आवश्यक बात थी। सिद्धों ने भाषा में कविता करके यद्यपि अपने विचारों को जनता के समझने लायक बना दिया; तथापि डर था कि, विरोधी उनके आचार-विरोधी कर्म-कलाप का खुले आम विरोध कर कहीं जनता में घृणा का भाव न पैदा कर दें; इसीलिये वह एक तो विशेष-योग्यता-प्राप्त व्यक्तियों को ही उन्हें सुनने का अवसर देते थे, दूसरे भाषा भी ऐसी रखते थे जिसका अर्थ वामाचार और योगाचार, दोनों में लग जाये। इस भाषा को पुराने लोगों ने "सन्ध्याभाषा" कहा है; और, आजकल उसे "निर्गुण," "रहस्यवाद," या "छायावाद" कह सकते हैं। गुप्त रक्खे जाने के ही कारण हमें "प्राकृत-पैङ्गल" जैसे ग्रन्थों में इन काव्यों का कोई उद्धरण नहीं मिलता।

अन्यत्र हम लिख चुके हैं कि, चौरासी सिद्धों का काल ८००-११७५ ई० है; किन्तु सिद्ध उसके बाद भी होते रहे हैं; इसलिये सिद्धकाल उससे बाद तक भी रहा है; तो भी भाषा के खयाल से हम उसे महाराज जयचन्द्र के गुरु मित्रयोगी (१२००) के साथ समाप्त करते हैं। रामानन्द, कबीर (जन्म १३९९ ई०, मृ०

१४४८), नानक (जन्म १४६८ ई०), दादू (जन्म १५४४ ई०) आदि से राधास्वामी दयाल तक सभी सन्त इन्हीं चौरासी सिद्धों की टकसाल के सिक्के थे। रामानन्द की कविताएँ दुर्लभ हैं। उन्होंने तथा उनके शिष्य कबीर ने, चौदहवीं शताब्दी के अन्त और पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में, अपनी कविताएँ कीं। यदि बारहवीं शताब्दी के अन्त से चौदहवीं शताब्दी के अन्त का कविता-प्रवाह जोड़ा जा सके, तो सिद्ध और सन्त-कविता-प्रवाह के एक होने में आपत्ति नहीं हो सकती। यह जोड़नेवाली शृङ्खला नाथपन्थ की कविताएँ हैं। हम कबीर सम्बन्धी कहावतों में गोरखनाथ और कबीर का विवाद अक्सर सुनते हैं। महाराज देवपाल (८०९-८४९ ई०) के समकालीन सिद्ध गोरखनाथ पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कबीर से विवाद करने नहीं आ सकते। वस्तुतः वहाँ हमें गोरखनाथ की जगह उनके नाथपन्थ को लेना चाहिये। मुसलमानों के प्रहार और अपनी भीतरी निर्बलताओं के कारण बौद्धधर्म विलीन होने लगा। उससे शिक्षा ग्रहण कर आत्मरक्षार्थ नाथपन्थ धीरे-धीरे अनीश्वरवादी से ईश्वरवादी हो गया। कबीर के समय वही एक ऐसा पन्थ था, जिसकी वाणियों और सत्संगों का प्रचार सर्वसाधारण में अधिक था। जिस प्रकार बड़ोदा, इन्दौर, कोल्हापुर तथा कुछ पहले झाँसी और तंजोर तक फैले छोटे-छोटे मराठा-राज्य एक भूतपूर्व विशाल मराठा-साम्राज्य का साक्ष्य देते हैं, उसी प्रकार आज भी काबुल, पंजाब, उत्तर-प्रदेश, बिहार, बङ्गाल और महाराष्ट्र तक फैली नाथपन्थ की गद्दियाँ नाथपन्थ के विशाल विस्तार को बतलाती हैं। यह विस्तार वस्तुतः उन्हें अपने चौरासी सिद्धों से, पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिला था। नाथपन्थ के परिवर्तन के साथ शेष बौद्ध, ब्राह्मण-धर्म में लौटे।

"नाथपन्थ" चौरासी सिद्धों से ही निकला है। इसके लिये यहाँ कुछ लिखना अप्रासंगिक न होगा—विशेषतः जब कि, बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक की हिन्दी-कविताओं के लिये हमें अधिकतर नाथ-घराने की ओर ही नजर दौड़ानी होगी। "गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह"[१] में "चतुरशीतिसिद्ध" शब्द के साथ निम्न सिद्धों

---

१. "गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह", सरस्वतीभवन-टेक्स्ट-सीरीज, बनारस—
"नागार्जुनो जडभरतो हरिश्चन्द्रस्तृतीयकः
सत्यनाथो भीमनाथो गोरक्षश्चर्पटस्तथा ।।
अवद्यश्चैव वैराग्यः कन्थाधारी जलन्धरः ।
मार्गप्रवर्त्तका ह्येते तद्वच्च मलयार्जुनः ।।" (पृष्ठ १९)।

का नाम मार्ग-प्रवर्तक के तौर पर लिखा गया है—नागार्जुन (१६), गोरक्ष (९), चर्पट (५९), कन्थाधारी (६९), जालन्धर (४६), आदिनाथ (=जालन्धरपा, सि० ४६), चर्या (कण्हपा) (१७)[१]। इससे चौरासी सिद्धों और नाथपन्थ के सम्बन्ध में सन्देह की कोई गुंजायश नहीं रह जाती। विचारों में यद्यपि अब नाथपन्थ अनीश्वरवाद छोड़कर ईश्वरवादी हो गया है; तथापि अब भी उसकी वाणियों में छान-बीन करने पर निर्वाण, शून्यवाद और वज्रयान का बीज मिलेगा। नाथपन्थी महाराष्ट्रीय ज्ञानेश्वर ने अपनी परम्परा इस प्रकार दी है—

आदिनाथ,
मत्स्येन्द्रनाथ,
गोरखनाथ,
गहनीनाथ,
निवृत्तिनाथ,
ज्ञानेश्वर।

इनमें आदिनाथ जालन्धरपा ही हैं, जैसा कि, जालन्धरपाद के ग्रन्थ "विमुक्त-मञ्जरी"[२] के भोटिया-अनुवाद से मालूम होता है। इस परम्परा में बीच के पुरुषों को छोड़ दिया गया है; क्योंकि गोरखनाथ (९वीं शताब्दी) और ज्ञानेश्वर (१४वीं शताब्दी) के बीच में सिर्फ दो ही पीढ़ियाँ नहीं हो सकतीं। मैंने अन्यत्र सरह के वंश-वृक्ष में चर्पटी से शान्तिगुप्त तक का भाग, १६ वीं शताब्दी के

"एवं श्रीगुरुरादिनाथः। मत्स्येन्द्रनाथः। तत्पुत्र उदयनाथः। दण्डनाथः, सत्यनाथः, सन्तोषनाथः, कूर्मनाथः, भवनाजिः। तस्य श्रीगोरक्षनाथः........॥" (पृष्ठ ४०)।

"चत्वारो युगनाथास्तु लोकानामभिगुप्तये।
मित्रीशोड्डीश षष्टीशचर्याख्याः कुम्भाख्याः।........" (पृष्ठ ४३)।
"चतुरशीतिसिद्धानां पूर्वादीनां दिशां न्यसेत्।....।
नवनाथस्थितिं चैव सिद्धागमेन कारयेत्।
गोरक्षनाथो वसेत् पूर्वे....जलन्धरो वसेन्नित्य मुत्तरापथमाश्रितः।....
नागार्जुनो महानाथो....।" (पृष्ठ ४४)।

१. कण्हपा को भोटिया में स्प्योद्-पा- (च ....पा-पा=चर्यापा) भी कहते । (स-स्क्य-ब्कं-बुम्, ज ३४९ क)।

२. देखिये Cordier का *Catalogue du fonds Tibetain, troisième partie*, पृष्ठ ११२, *Vol. LXXIII* 49.

भोटिया-ग्रन्थ "रत्नाकर जोपमकथा"[१] से दिया है (इस ग्रन्थ के आरम्भ का एक पृष्ठ तथा अन्त के भी कितने ही पृष्ठ गायब हैं)! वज्रयान के सम्बन्ध में भोटिया भाषा में जो सामग्री उपलभ्य है, वह बहुत ही प्रचुर परिमाण में है; और, उसका अधिकांश शताब्दियों के हेर-फेर से बचा रहने से बहुत प्रामाणिक है। इसीलिये गोरखनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ के काल-निर्णय में उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। भोटिया-ग्रन्थों की बातों की पुष्टि, कभी-कभी बड़े विचित्र रूप से होती देखी जाती है। उक्त "रत्नाकरजोपमकथा" ग्रन्थ में लिखा है—

"मीननाथ और मत्स्येन्द्रनाथ, ये दोनों भारत की पूर्व दिशावाले काम-रूप (देश) के मछुवे थे····(वहाँ) लौहित्य-नदी है, जिसे आजकल भोट में 'चङ्-पो' कहते हैं।····(मत्स्येन्द्र) मछली के पेट में १२ वर्ष रहे। फिर आचार्य चर्पटी के पास गये।····दोनों ही सिद्ध हो गये।····बाप (हुआ) सिद्ध मीनपा और बेटा सिद्ध मछिन्द्रपा।"

'तन्त्रालोक' की टीका में इसकी पुष्टि हमें इस श्लोक से मिलती है—

"भैरव्या भैरवात् प्राप्तं योगं व्याप्य ततः प्रिये।
तत्सकाशात्तु सिद्धेन मीनाख्येन वरानने।
कामरूपे महापीठे मच्छेन्द्रेण महात्मना।"[२]

'नाथपन्थ' के चौरासी सिद्धों का उत्तराधिकारी सिद्ध हो जाने पर फिर कबीर से सम्बन्ध जोड़ने में दिक्कत नहीं रहती। कबीर स्वयं चौरासी सिद्धों को भूले न थे, तभी तो उन्होंने कहा है—

"धरती अरु असमान बि, दोई तूँबड़ा अबध।
षट दर्शन संसे पड़्या, अरु चौरासी सिध।।"[३]

यहाँ चौरासी सिद्धों से विरोध प्रकट करने से कबीर उनकी टकसाल के न थे—ऐसा समझने की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः रामानन्द, कबीर ने सिद्धों के ही निर्गुण, योग और विचित्र ढंग को अपना कर नाथवंश के राज्य पर धावा

१. रिन्-पो-छेइ-ऽब्युङ् खुङ्स्-ल्त-वु-ग्तम्।

२. (त्रिवेण्ड्रम्-संस्कृत-सीरीज, पृष्ठ २४, २५, *Indian Historical Quarterly, March* 1930 में उद्धृत)

३. कबीरग्रन्थावली, नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ ५४

किया[1] और शताब्दियों के संघर्ष के बाद वह विजयी हुए। यदि आप भक्तमाल के भक्तों के व्यवसाय, कुल, रहन-सहन को चौरासी सिद्धों से मिलावें, तो यह विचार-सादृश्य भली भाँति प्रकट हो जायगा।

सिद्धों की कविता की भाषा आठवीं से १२वीं शताब्दी की भाषा है; इसीलिये उसका आपस में भी भेद होना स्वाभाविक है। फिर नवीं शताब्दी के कण्हपा की २०वीं शताब्दी की भाषा से कितना फर्क होगा, इसके लिये तो कहना ही क्या! आखिरी सिद्ध के १०० वर्ष बाद, सन् १३०० ई० में, राणा हम्मीर सिंह चित्तौड़ की गद्दी पर बैठे। हिन्दुओं की कुछ परम्परागत कमजोरियों को छोड़कर वह एक आदर्श क्षत्रिय वीर थे। उनके सम्बन्ध की कुछ कविताएँ "प्राकृत-पैङ्गल" में उद्धृत हैं (इसका कवि सम्भवतः "जज्जल" था, जो कि, हम्मीर का सेनापति भी था)। इस चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की भाषा को आज से मिलाने से उससे भी पुरानी सिद्धों की भाषा के पूर्व का अनुमान किया जा सकता है—

> "पअ[2] भरु दर भरु धरणि तरणि रह धुल्लिअ झंपिअ।
> कमठ पिट्ठ टरपरिअ[3] मेरु मंदर सिर-कंपिअ॥
> कोह चलिअ हम्मीर वीर गअ-जूह[4] संजुत्ते।
> किअउ कट्ठ आकंद[5] मुच्छि म्लेच्छह[6] के पुत्ते॥९२॥
> "पिंधउ[7] दिढ़ सण्णाह[8] बाह-उप्पर पक्खर[9] दइ।
> बन्धु समदि[10] रण धसउ सामि हम्मीर वअण[11] लइ।
> उड्डल णह-पह[12] भमउ[13] खग्ग[14] रिउ[15] सीसहि डारउ।
> पक्खर[16] पक्खर ठेल्लि पेल्लि पब्बअ[17] उप्फालउ[18]॥

---

१. चंदन की कुटकी भली, नाँ बबूर अमराँऊँ।
बैश्नौं की छपरी भली, नाँ साषत का बड़गाँव॥"

(कबीर ग्रं०, पृ० ५२)। यहाँ "साषत" या शाक्त से मतलब जिस सम्प्रदाय से था, उसमें नाथपन्थ उस समय प्रमुख था।

२. पद। ३. डगमगाये। ४. गजयूथ। ५. आक्रंदन। ६. म्लेच्छों के। ७. पेन्ह्यो, पहना। ८. कवच। ९. कवच। १०. समझकर। ११. वचन। १२. नभपथ। १३. भ्रम्यो, घूमा। १४. खड्ग। १५. रिपु। १६. पकड़। १७. पर्वत। १८. उपारा, उखाड़ा।

हम्मीर कज्जु जज्जल भणइ कोहाणल[१] मुह मह जलउ
सुलतान सीस करवाल दइ, तेज्जि कलेवर दिग्र[२]
चलेउ ।।१०७) ।।[३]

इसके पहले की एक कविता लीजिये, जो सम्भवतः काशिराज जयचन्द या हरिश्चन्द्र के लिये लिखी गई मालूम होतीं है[४]—

"जे किज्जिअ-धाला[५] जिराण
णिवाला[६] भोट्टन्ता[७] पिट्ठंत[८] चले ।
भंजाबिग्र[९] चीणा दप्पहि[१०] हीणा
लोहाबल हाकंद[११] पले ।
ग्रोड्डा[१२] उड्डाबिग्र[१३] कित्ती[१४] पाबिग्र[१५]
मोलिग्र[१६] मालब[१७] राग्र बले ।
तेलंगा भग्गिग्र पुणबि ण[१८] लग्गिग्र,
कासीराग्रा[१९] जखण[२०] चले ।।" (पृ० १९८)

तेरहवीं शताब्दी के मध्य में लिखे गये एक भोटियाग्रन्थ में[२१] उद्धृत कुछ हिन्दी-शब्दों को देखिये — इन्द (इन्द्र), जम (यम), जक्स (यक्ष), बाउ (वायु), रक्ख (रक्ष), चन्द (चन्द्र), सुज्ज (सूर्य), माद (माता), बप्प (बाप) ।

इन उदाहरणों से आपकी समझ में आ जायगा कि, हिन्दी की आदिम कविता की भाषा का आजकल की भाषा से काफी भेद होना स्वाभाविक है ।

जिन कवियों की कविताओं को मैं यहाँ हिन्दी की प्राचीनतम कविता कह कर उद्धृत करने जा रहा हूँ, उन्हें बंगाल के दिग्गज ऐतिहासिक बँगला की कविता कहते हैं । इसके बारे में इसी पुस्तक में मुद्रित दूसरे लेख (९) में आ गया है

---

१. क्रोधानल ।

२. दिव, स्वर्ग ।

३. "प्राकृत-पैङ्गल", बंगाल रा० एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित (पृष्ठ १८०) ।

४. "प्राकृत-पैङ्गल", पृष्ठ ३१८ । ५. वर्गबद्ध । ६. जीता । ७. नेपाल को । ८. तिब्बत । ९. भग्न किया । १०. दर्प में । ११. आक्रन्दन, रोना-पीटना । १२. उड़ीसावासी । १३. उड़ा दिया, उजाड़ दिया । १४. कीर्त्ति । १५. पाया । १६. परास्त किया । १७. मालव राज की सेना को । १८. पुनरपि न, फिर नहीं । १९. काशिराज । २०. जिस समय ।

२१. स-स्क्य-ब्कं-बुम्, प, पृष्ठ २८४ ख; फग्स्-पा (१२३३-१२७९ ई०) विरचित ।

और यहाँ भी जो कवियों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है, वह काफी उत्तर है। सर्व-पुरातन सिद्ध सरहपाद नालन्दा से सम्बन्ध रखते थे; इसलिये उनकी भाषा का मगही होना स्वाभाविक ठहरा। अन्य सिद्धों ने भी इसी भाषा को कविता की भाषा बनाया। चौरासी सिद्ध नालन्दा और विक्रमशिला से सम्बन्ध रखते थे। जब तक नालन्दा, विक्रमशिला को बंगाल[१] में नहीं ले जाया जाता, तब तक सिद्धों की भाषा भी बँगला नहीं हो सकती। रही भाषा की समानता की बात; वह तो मगही और मैथिली से और अधिक है। वस्तुतः अतीत काल के भीतर हम जितना ही अधिक घुसते जायँगे समानता उतनी ही अधिक बढ़ती जायेगी; क्योंकि, मगही, ओड़िया, बँगला, आसामी, मैथिली—सभी मागधी की सन्तानें हैं।

१—**सरहपा (सिद्ध ६)**—इनके दूसरे नाम राहुलभद्र और सरोजवज्र भी हैं। पूर्व दिशा में राज्ञी (?) नामक नगर में एक ब्राह्मण-वंश में इनका जन्म हुआ था। भिक्षु होकर यह एक अच्छे पण्डित हुए। नालन्दा में कितने ही वर्षों तक इन्होंने वास किया। पीछे इनका ध्यान मन्त्र-तन्त्र की ओर आकर्षित हुआ और आप एक वाण [शर=सर] बनानेवाले की कन्या को महामुद्रा[२] बनाकर किसी अरण्य में वास करने लगे। वहाँ यह भी शर (वाण) बनाया करते थे; इसीलये इनका नाम सरह पड़ गया। श्रीपर्वत[३] में भी यह बहुधा रहा करते थे। सम्भव है, इनकी मन्त्रों की ओर प्रथम प्रवृत्ति वहीं हुई हो। शबरपाद (५) इनके प्रधान शिष्य थे। कोई तान्त्रिक नागार्जुन भी इनके शिष्य थे। भोटिया तन्-जूर में इनके ३२ ग्रन्थों का अनुवाद मिलता है, जो सभी वज्रयान पर हैं। इनमें एक "बुद्ध-क पाल-तन्त्र" की पञ्जिका "ज्ञानवती" भी है। इनके निम्न काव्य-ग्रन्थ मगही से भोटिया में अनुवादित हुए हैं—

१ क, ख दोहा (त०[४] ४७।७)।

---

१. *"Thus the time of the earliest Doha* (दोहा) *in Bengali goes back to the middle of the seventh century, when Saraha flourished and Bengal may be justly proud of the antiquity of her literature* Dr. B. Bhattacharya, (J. B. O. R. S. LXXXLI, I, p. 247).

२. वज्रयानीय योग की सहचरी योगिनी अथवा हेप्नाटिज़्म का माध्यम।

३. नहरल्ल-वडु (नागार्जुनी कोंडा, जिला गुंटूर)।

४. त-से मतलब तन्जूर के तन्त्र-खण्ड से है। विशेष के लिए देखिये Cordier का *Catalogue du fonds Tibetain*; द्वितीय और तृतीय खण्ड।

२ क-ख दोहा-टिप्पण (त० ४७।८)।
३ कायकोष-अमृतवज्रगीति (त० ४७।९)।
४ चित्तकोष-अजवज्रगीति (त० १७।११)।
५ डाकिनी-वज्र-गुह्यगीति (त० ४८।१०६)।
६ दोहा-कोष-उपदेश-गीति (त० ४७।५)।
७ दोहाकोषगीति (त० ४६।९)।
८ दोहाकोषगीति। तत्त्वोपदेशशिखर—, (त० ४७।१७)।
९ दोहा-कोष-गीतिका। भावनादृष्टि-चर्याफल—, (त० ४८।५)।
१० दोहाकोष। वसन्ततिलक—, (त० ४८।११)।
११ दोहाकोष-चर्यागीत। (त० ४७।४)।
१२ दोहाकोष-महामुद्रोपदेश। (त० ४७।१३)।
१३ द्वादशोपदेश-गाथा (त० ४७।१५)
१४ महामुद्रोपदेशवज्रगुह्यगीति। (त० ४८।१००)।
१५ वाक्-कोषरुचिरस्वरवज्रगीति। (त० ४७।१०)।
१६ सरहगीतिका (त० ४८।१४, १५)।

इनकी कुछ कविताओं का नमूना लीजिए—

[1]"जह मन पवन न सञ्चरइ, रवि शशि नाह पवेश।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश॥"
"पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ
देहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ"
"अमणागमण ण तेन विखण्डिअ।
तोवि णिलज्ज भणइ हँउ पण्डिअ"
"जो भवु सो निवा [? ण्वाण] खलु,
भेवु न मण्णहु पण्ण।"
"एकसभावे विरहिअ, णिम्मलमइ पड़िवण्ण॥"
"घोरे न्धारें चन्दमणि, जिमि उज्जोअ करेइ।
परममहासुह एखुकणे, दुरिअ अशेष हरेइ॥"

---

१. "बौद्धगान-ओ-दोहा"—बंगीयसाहित्य-परिषद्, कलकत्ता, "सरोज वज्रेर दोहाकोष।"

"जीवन्तह जो नउ जरइ, सो अजरामर होइ।
गुरु उपएसें विमलमइ, सो पर धण्णा कोइ॥"

इनके कुछ गीति-पद्य—

राग देशाख (३२)

"नाद न विन्दु न रवि न शशि-मण्डल॥
चिअराम सहावे मूकल॥ध्रु०॥
उजु रे उजु छाड़ि मा लेहु रे बङ्क।
निअहि बोहिमा जाहु रे लाङ्क॥ध्रु०॥
हाथेरे कान्काण मा लोउ दापण।
अपणे अपा बुझतु निअ-मण॥ध्रु०॥
पार उआरे सोइ गजिइ।
दुज्जण साङ्गे अवसरि जाइ॥ध्रु०॥
वाम दाहिण जो खाल विखला।
सरह भणइ बपा उजुवाट भाइला॥ध्रु०॥"[1]

राग भैरवी (३८)

'काअ णावड़ि खण्टि मण केडुआल।
सद्गुरु वअणे धर पतवाल॥ध्रु०॥
चोअ थिर करि धहुरे नाही।
अन उपाये पार ण जाई॥ध्रु०॥
नौवाही नौका टागुअ गुणे।
मेलि मेल सहजें जाउ ण आणें॥ध्रु०॥
वाट अभअ खाण्टवि बलआ।
भव उलोलें षअबि बोलिआ॥ध्रु०॥

---

१. "बौद्धगान-उ-दोहा" "चर्याचर्यविनिश्चय" ("चर्या-गीति" नाम ठीक जँचता है)। पाठ बहुत अशुद्ध हैं। यहाँ कहीं मात्रा के ह्रस्व-दीर्घ करने से, कहीं संयुक्त वर्णों के घटाने-बढ़ाने से तथा कहीं-कहीं एकाध अक्षर छोड़ देने से छन्दो-भंग दूर हो जायगा। जैसे पहली पंक्ति में "रवि न शशि" के स्थान पर रवि-शशि; "चिअ-राअ" के स्थान पर "चीअ-राअ"; "कान्काण" के स्थान पर कङ्कण; "आपा" के स्थान पर अप्पा।

कुल लइ खरं सोन्ते उजाम्र ।
सरह[१] भणइ गणें पमाएँ ।।ध्रु०।। ।।३८।।

२—शबरपा (सिद्ध ५)—यह सरहपाद के शिष्य थे। गौडेश्वर महाराज धर्मपाल (७६९–८०९ ई०) के कायस्थ (लेखक) लूइपा इन्हीं के शिष्य थे। नागार्जुन को भी इनका गुरु कहा गया है; किन्तु यह शून्यवाद के आचार्य नागार्जुन नहीं हो सकते। यह अकसर श्रीपर्वत में भी रहा करते थे। जान पड़ता है, शबरों या कोल-भीलों की भाँति रहन-सहन रखने के कारण इन्हें शबरपाद कहा जाने लगा। तन्-जर में इनके अनुवादित ग्रन्थों की संख्या २६ है; (जो सभी छोटे-छोटे हैं); पीछे, दसवीं शताब्दी में, भी एक शबरपा हुए थे जो मैत्रीपा या अवधूतीपा के गुरु थे। उनकी भी पुस्तकें इन्हीं में शामिल हैं। इनकी हिन्दी-कविताएँ ये हैं—

"चित्तगुह्यगम्भीरार्थ-गीति" (त० ४८।१०८)।
महामुद्रावज्रगीति (त० ४७।२९)।
शून्यतादृष्टि (त० ४८।३६)।
षडङ्गयोग[२] (त० ४।२२)।
सहजशंवरस्वाधिष्ठान[२] (त० १३।५)।
सहजोपदेश स्वाधिष्ठान[२] (त० १३।४)।

चर्या-गीतों में इनके दो गीत मिलते हैं।

(राग बलाडि २८)

"ऊँच ऊँचा पावत तंहिँ बसइ सबरी बाली ।
मोरङ्गि पीच्छ परहिण सबरी गिवत गुञ्जरी माली ।।ध्रु०।।

---

१. सरहपाद संस्कृत के भी कवि थे।
"या सा संसारचक्रं विरचयति मनःसन्नियोगात्महेतोः।
सा धीर्यस्य प्रसादाद्दिशति निजभुवं स्वामिनो निष्प्रपञ्च (म्)।
तच्च प्रत्यात्मवेद्यं समुदयति सुखं कल्पनाजालमुक्तम्।
कुर्यात् तस्याङ्घ्रियुग्मं शिरसि सविनयं सद्गुरोः सर्वकाल (म्)।।"
("चर्याचर्यविनिश्चय," पृष्ठ ३)

२. ये ग्रन्थ संस्कृत में थे या हिन्दी में, इसमें सन्देह है।

उमत सबरो पागल शबरो मा कर गुली गुहाडा,
तोहौरि णिग्र घरिणी णामे सहज सुन्दारी ।।ध्रु०।।
णाणा तरुवर मोलिल रे गग्रणत लागेली डाली ।
एकेली सबरी ए वण हिण्डइ कर्णकुण्डलवज्रधारी ।।ध्रु०।।
तिग्र धाउ खाट पडिला सबरो महासुखे सेजि छाइली
सबरो भुजङ्ग णइरामणि दारी पेह्म राति पोहाइली ।।ध्रु०।।
हिग्र ताँबोला महासूहे कापूर खाइ ।
सून निरामणि कण्ठे लइग्रा महासूहे राति पोहाइ ।।ध्रु०।।
गुरुवाक पुञ्जग्रा बिन्ध णिय मणे वाणँ ।
एके शर-सन्धानें बिन्धह-बिन्धह परम णिवाणें ।।ध्रु०।।
उमत सबरो गरुग्रा रोषे ।
गिरिवर-सिहर-संधि पइसन्ते सबरो लोड़िव कइसे ।।२८।।"

राग रामक्री (५०)

"गग्रणत गग्रणत तइला वाड्ही हेञ्चे कुराडी ।
कण्ठे नैरामणि बालि जागन्ते उपाड़ी ।।ध्रु०।।
छाड़ छाड़ माग्रा मोहा विषमे दुन्दोली ।
महासुहे विलसन्ति शबरो लइग्रा सुणमे हेली ।।ध्रु०।।
हेरि ये मेरि तइला बाडी खसमे समतुला ।
षुकड़ए सेरे कपासु फुटिला ।।ध्रु०।।
तइला वाड़िर पासेंर जोह्ला बाडी ताएला ।
फिटेलि ग्रन्धारि रे ग्रकाश फुलिआ ।।ध्रु०।।
कुङ्गुरि ना पाकेला रे शबराशबरि मातेला ।
ग्रणुदिण शबरो किम्पि न चेवइ महासुहें भेला ।।ध्रु०।।
चारिवासे भाइलारें दिग्राँ चञ्चाली ।
तँहि तोलि शबरो हकएला कान्दश सगुण शिग्राली ।।ध्रु०।।
मारिल भव-मत्तारे दह-दिहे दिध लिवली ।
हें रसे सबरो निरेवण भइला फिटिलि षबराली" ।।ध्रु०।।

३—कर्णरापी या ग्रार्यदेव (सिद्ध १८)—यह शून्यवाद के ग्राचार्य नागार्जुन के शिष्य ग्रार्यदेव न थे । इनके गुरु वज्रयानी सिद्ध नागार्जुन थे, जो कि, सरहपाद के शिष्य थे । भिक्षु बनकर नालन्दा-विहार गये । तन्-जूर के दर्शन-

विभाग में आर्यदेव के ९ ग्रन्थों और तन्त्र-विभाग में २६ ग्रन्थों का अनुवाद है, जिनमें दर्शन के नौ ग्रन्थ तो पुराने माध्यमिक आर्यदेव के हैं; किन्तु तन्त्र के प्रायः सभी ग्रन्थ इन्हीं के हैं। इनमें हिन्दी में सिर्फ "निर्विकल्प प्रकरण" (ता० ४७।२०) ही मालूम होता है। इनकी एक कविता का नमूना लीजिये—

राग पटमञ्जरी (३१)

"जहि मण इन्दिअ (प) वण हो णठा।
ण जाणमि अपा कँहि गइ पइठा ।।ध्रु०।।
अकट करुणा डमरुलि बाजअ।
आजदेव णिरासे राजइ ।।ध्रु०।।
चान्दरे चान्दकान्ति जिम पतिभासअ।
चिअ विकरणे तहि टलि पइसइ ।।ध्रु०।।
छाड़िअ भय घिण लोआचार।
चाहन्ते चाहन्ते सुण विआर ।।
आजदेवें सअल विहरिउ।
भय घिण दुर णिवारिउ ।।ध्रु०।।

४—**लूइपाद (सिद्धि १७)**—पहले राजा धर्मपाल (७६९-८०९ ई०) के लेखक (=कायस्थ) थे। एक समय जब महाराज धर्मपाल अपने राज्य के प्रदेश वारेन्द्र में थे, तब सिद्ध शबरपाद भी विचरते हुए उधर जा निकले। एक दिन शबरपाद राजा के महल में भिक्षा के लिये गये। उसी समय लूइपा से उनकी भेंट हुई। वह बहुत ही प्रभावित हुए और विरक्त हो शबरपाद के शिष्य बन गये। संख्या में चौरासी सिद्धों में इनका नाम प्रथम होना ही बतलाता है कि, यह कितना प्रभाव रखते थे। इनके प्रधान शिष्यों में सिद्ध दारिकपा और सिद्ध डेंगीपा थे, जो दोनों ही पूर्वाश्रम में क्रमशः उड़ीसा के राजा और मन्त्री थे[1]। इन्होंने पुरानी मगही हिन्दी[2] में बहुत सी कविताएँ की थीं। तन्-जूर में इनके सात अनुवादित ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न पाँच हिन्दी में थे—

---

१. स-स्क्य-ब्कं-बुम्, ज, पृष्ठ २४२ख—२४५ख।

२. डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य इनकी कविता के विषय में कहते हैं— "*These songs written by a Bengali in the soil of Bengal, may*

अभि समयविभङ्ग (त० १३।१८)।
तत्त्वस्वभावदोहाकोष (त० ४८।२)।
बुद्धोदय (त० ४७।४१; ७३।६२)।
भगवदभिसमय (त० १२।८)।
लूइपाद-गीतिका (त० ४८।२७)।

कबिता का नमूना

राग पटमंजरी (१)

"**काश्रा तरुवर पञ्च वि डाल**
चञ्चल चीए पइठो काल
दिट करिग्र महासुह परिमाण
लुइ भणइ गुरु पूच्छिग्र जाण ।।ध्रु०।।
सग्रल स (मा) हिग्र काहि करिग्रइ
सुख दुखेतें निचित मरिग्राइ ।।ध्रु०।।
एड़िएउ छान्दक बान्ध करणक पाटेर आस
सुनु पाख भिति लाहु रे पास ।।ध्रु०।।
भणइ लुइ आम्हे साणे दिठा
धमण चमण वेणि पाण्डि वइण ।।ध्रु०।।"

राग पटमंजरी (२९)

भाव न होइ अभाव ण जाइ,
आइस संबोहें को पतिआइ ।।ध्रु०।।
लूइ भणइ बट दुलक्ख विणाणा,
तिग्र धाए विलसइ उह लागे ण ।।ध्रु०।।
जाहेर बान-चिह्न, रुव ण जाणी,
सो कइसे आगम बेएँ वखाणी ।।ध्रु०।।

---

appropriately be called Bengali" भोटिया-ग्रन्थों में बँगल या भंगल या भगल मिलता है, जिस नाम से कि भोटिया लोग विक्रम-शिला वाले प्रदेश को पुकारते थे और जिसका चिह्न भागलपुर के नाम में अब भी मौजूद है।

काहेरे किषभणि मइ दिवि पिरिच्छा,
उदक चान्द जिमि साच न मिच्छा ।।ध्रु०।।
लुइ भणइ भाइव कीम्,
जालइ अच्छमताहेर उह् ण दिस् ।।ध्रु०।।"

५—भूसुकु (सिद्ध ४१)— नालन्दा के पास के प्रदेश में, एक क्षत्रिय-वंश में, पैदा हुए थे। भिक्षु बनकर नालन्दा में रहने लगे। उस समय नालन्दा के राजा (गौड़ेश्वर) देवपाल (ई० ८०९–८४९) थे। कहते हैं, भूसुकु का नाम शान्तिदेव भी था। इनकी विचित्र रहन सहन को देखकर राजा देवपाल ने एक बार 'भूसुकु' कह दिया और तभी से इनका नाम भूसुकु पड़ गया! शान्तिदेव के दर्शन-सम्बन्धी छः ग्रन्थ तन्-जूर में मिलते हैं और तंत्र पर तीन। भूसुकु के नाम से दो ग्रन्थ हैं, जिनमें एक "चक्रसंवरतन्त्र" की टीका है। मागधी हिन्दी में लिखी इनकी 'सहजगीति" (त० ४८।१) भोटिया-भाषा में मिलती है।

कविता का नमूना

राग कामोद (२७)

"अधराति भर कमल विकसउ,
बतिस जोइणी तसु अङ्ग उह् णसिउ ।।ध्रु०।।
चालिउअ षषहर मागे अवधूइ,
रअणहु षहजे कहेइ ।।ध्रु०।।
चालिअ षषहर गउ णिवाणें,
कमलिनि कमल बहइ पणालें ।।ध्रु०।।
विरमानन्द बिलक्षण सुध ।।
जो एथु बूझइ सो एथु बुध ।।ध्रु०।।
भूसुकु भणइ मइ बूझिअ मेलें,
सहजानन्द महासुह लोलें ।।ध्रु०।।

राग मल्लारी (४९)

"बाज णाव पाड़ी पँउआ खालें वाहिउ,
अदअबङ्गाले[१] क्लेश लुड़िउ ।।ध्रु०।।

---

१. डाक्टर भट्टाचार्य ने लिखा है—*The Pag–Sam–Jon–Zan it is said that Santideva was a native of Saurashtra, but I am inclined*

आजि भूसु बङ्गाली[१] भइली,
णिअ घरिणीं चण्डाली लेली ।।ध्रु०।।
डहि जो पञ्चधाट णइ दिबि संज्ञा णठा,
ण जानमि चिअ मोर कहिँ गइ पइठा ।।ध्रु०।।
सोण तरुअ मोर किम्पि ण थाकिउ,
निअ परिवारे महासुहे थाकिउ ।।ध्रु०।।
चउकोड़ि भण्डार मोर लइआ सेस,
जीवन्ते मइलेँ नाहि विशेष ।।ध्रु०।।"

६—**वीणापा (सिद्ध १२)**—गौड़ देश[१] में क्षत्रियवंश में इनका जन्म हुआ था। इनके गुरु का नाम भद्रपा (सि० २४) था। वीणा बजाकर यह अपने पदों को गाया करते थे; इसीलिये इनका नाम वीणापा पड़ गया। तन्-जूर में इनके तीन ग्रंथ मिलते हैं—१ गुह्याभिषेक-प्रक्रिया (त० २१।५०)। (२) महाभिषेक-त्रिक्रम (त०२१।५१)। (३) वज्रडाकिनीनिष्पन्नक्रम (त० ४८।५३)

इसमें तीसरा ग्रंथ उसी बेठन में है, जिसमें हिन्दी कविताओं के दूसरे अनुवाद हैं; इसलिये मालूम पड़ता है, यह भी हिन्दी में रहा है। "चर्यागीति"[२] में इनका एक गीत इस प्रकार है—

---

to think that he belonged to Bengal. It is evident from his song." "आज भुसु बङ्गाली" (*ibid.*) गीत में बंगाली शब्द खास तान्त्रिक परिभाषा के अर्थ में व्यवहृत हुआ है; जैसा कि, डाक्टर भट्टाचार्य के पिता प्रातःस्मरणीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अपने इसी ग्रन्थ की भूमिका (पृष्ठ १२) में लिखा है—"सहज-मते तीनटि पथ आछे, अवधूती, चाण्डाली, डोम्बी वा बँगाली अवधूती ते द्वैतज्ञान थाके, चाण्डाली ते द्वैतज्ञान आछे....बलिलेउ हय, किन्तु डोम्बीते केवल अद्वैत....एइ बार तुमि सत्य सत्यइ बंगाली हइले अर्थात् पूर्ण अद्वैत हइले।" और, यदि शब्द पर दौड़ना है, तब तो भूसुकु आज बंगाली हुए, मानो पहले न थे। फिर "भइली" शब्द बँगला में कहाँ व्यवहृत होता है? किन्तु वह काशी से मगह तक आज भी बहुत प्रचलित है।

१. "पालवंशीय राजा गौड़ेश्वर कहे जाते थे। उनकी राजधानी पटना जिले का बिहारशरीफ स्थान थी। नालन्दा के पास होने के कारण भोटिया ग्रन्थों में अक्सर उन्हें नालन्दा का राजा भी कहा गया है।

२. "बौद्धगान ओ दोहा", पृष्ठ ३०

राग पटमञ्जरी (१७)

"सुज लाउ ससि लागेलि तान्ती,
अणहा दाण्डी वाकि किअत अवधूती ॥ध्रु०॥
बाजइ अलो सहि हेरुअवीणा,
सुन तान्ति धनि विलसइ रुणा ॥ध्रु०॥
आलि कालि वेणि सारि सुणेआ,
गअवर समरस सान्धि गुणिआ ॥ध्रु०॥
जवे करहा करहक लेपि चिउ,
बतिश तान्ति धनि सएल विआपिउ ॥ध्रु०॥
नाचन्ति वाजिल गान्ति देवी,
बुद्ध नाटक विसमा होइ ॥ध्रु०॥"

७—**विरूपा** (सिद्ध ३)—महाराज देवपाल (८०९-४९ ई०) के देश "त्रिउर" (?) में इनका जन्म हुआ था। भिक्षु बनकर नालन्दा विहार में पढ़ने लगे और वहाँ के अच्छे पण्डितों में हो गये। इन्होंने देवीकोट और श्रीपर्वत आदि सिद्ध स्थानों की यात्रा की। श्रीपर्वत में इन्हें सिद्ध नागबोधि मिले। यह उनके शिष्य हो गये। पीछे नालन्दा में आकर जब इन्होंने देखा कि, विहार में मद्य, स्त्री आदि, सहजचर्या के लिये अत्यावश्यक वस्तुओं का व्यवहार नहीं किया जा सकता, तब वहाँ से गङ्गा के घाट पर चले गये। वहाँ से फिर उड़ीसा गये। इनके शिष्यों में डोम्बिपा (सि० ४) और कण्हपा थे। यमारितन्त्र के यह ऋषि थे। तन्-जूर में इनके तन्त्र-सम्बन्धी अठारह ग्रंथ मिलते हैं; जिनमें निम्न मगही हिन्दी में थे—अमृत-सिद्धि (त० ४७।२७)। दोहाकोष (त० ४७।२४)। दोहाकोषगीति-कर्मचण्डा-लिका (त० ४८।४)। मार्गफलान्विताववादक (त० ४७।२५)। विरूपगीतिका (त० ४८।२९)। विरूपवज्रगीतिका (त० ४८।१६)। विरूपपदचतुरशीति (त० ४७।२३) सुनिष्प्रपञ्चतत्त्वोपदेश (त० ४३।१००)।

कविता का नमूना

राग गबड़ा (३)

"एक से शुण्डिनि दुह घरे सान्धअ,
चीअण वाकलअ वारुणी बान्धअ ॥ध्रु०॥
सहजे थिर करी वारुणी सान्धे,
जें अजरामर होइ दिट कान्ध ॥ध्रु०॥

वशमि दुआरत चिह्न देखइआ,
आइल गराहक अपणे बहिआ ।।ध्रु०।।
चउशठी घड़िये देट पसारा,
पइठेल गराहक नाहि निसारा ।।ध्रु०।।
एक स डुली सरुइ नाल,
भणन्ति विरुआ थिर करि चाल"।। ध्रु०।।

८—दारिकपा (सि० ७७)—यह "ओड़िसा"[१] के राजा थे। जब सिद्ध लूइपा उड़ीसा गये, तब यह और इनके ब्राह्मण मन्त्री, जिनका नाम पीछे डेंगीपा (डेंकीपा) पड़ा, राज्य छोड़कर उनके शिष्य बन गये। गुरु ने आज्ञा दी कि, सिद्धि-प्राप्ति के लिये तुम कांचीपुरी में जाकर गणिका-दारिका (=वेश्या की कन्या) की सेवा करो। कई वर्षों तक यह उसकी सेवा करते रहे; इसी से सिद्ध होने पर इनका नाम दारिकपा पड़ गया? सहज-योगिनी चिन्ता इनकी शिष्या थीं; और, प्रसिद्ध सिद्ध वज्रघण्टापाद (५२) या घण्टापा इनके प्रधान शिष्य थे। तन्-जूर में इनके ग्यारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें से निम्न प्राचीन ओड़िया या मगही हिन्दी के मालूम होते हैं—(१) ओड्डियान-विनिर्गत-महागुह्यतत्त्वोपदेश (त० ४६।६)। (२) तथतादृष्टि (त० ४८।४८)। (३) सप्तमसिद्धान्त (त० ४६।४६)।

कविता का नमूना

राग बराड़ी (३४)

"सुनकरुणरि अभिन वारें काअ-वाक्-चिअ,
विलसइ दारिक गअणत पारिमकुलें ।।ध्रु०।।
अलक्ष-लख-चित्ता महासुहे,
विलसइ दारिक०।।ध्रु०।।

---

१. स-स्क्य-ब्कं-बुम्, ज, पृष्ठ २४४ ख से २४५ ख०। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने लिखा है—"*Luipa... belonged to an earlier age and as such any close connection between the two is hardly admissible. Lui was reputed to be the first Siddhacharya, and that may be the reason why Darikapa reverentially mentions his name.*" लेकिन तिब्बत के सभी ग्रन्थ एक मत से दारिकपा को लइपा का शिष्य कहते हैं। चौरासी सिद्धों की सूची में संख्याक्रम काल-क्रम से नहीं है, यह अलग दिये वंश-वृक्ष और नाम-सूची से स्पष्ट हो जायगा।

किन्तो मन्ते किन्तो तन्ते किन्तो रे झाण बखाने,
अपइठानमहासुहलीणे दुलख परमनिवाणेँ ।।ध्रु०।।
दुःखेँ सुखेँ एकु करिआ भुञ्जइ इन्दीजानी,
स्वपरापर न चेवइ दारिक सअलानुत्तरमाणी ।।ध्रु०।।
राआ राआ राआरे अवर राअ मोहेरा बाधा,
लुइ-पाअ-पए दारिक द्वादशभुअणेँ लधा" ।।ध्रु०।।

९—डोम्भिपा (सिद्ध ४)—मगध देश में क्षत्रिय-वंश में पैदा हुए। वीणापा और विरूपा, दोनों ही इनके गुरु थे। लामा तारानाथ ने लिखा है कि, यह विरूपा के दस वर्ष बाद तथा वज्रघंटापा के दस वर्ष पूर्व सिद्ध हुए। यह हेवज्र तन्त्र के अनुयायी थे। सिद्ध कण्हपा (१७) इनके भी शिष्य थे। तन्-जूर में २१ ग्रन्थ डोम्भिपाद के नाम से मिलते हैं; किन्तु पीछे भी एक डोम्भिपा हुए हैं; इसलिये कौन ग्रन्थ किसका है, यह कहना कठिन है। इनके निम्न ग्रन्थ मगही हिन्दी में थे—अक्षर द्विकोपदेश (त० ४८।६४)। डोम्बिगीतिका (त०४८।२८)। नाड़ीविंदुद्वारे योगचर्या (त० ४८।६३)।

कविता का नमूना

राग देशाख (१०)

"नगर बारिहिरेँ डोम्बि तोहोरि कुड़िया,
छइछोइ याइ सो बाह्म नाड़िआ ।।ध्रु०।।
आलो डोम्बि तोए सम करिबे म साङ्ग,
निघिण काह्न कापालि जोइ लाग ।।ध्रु०।।
एकसो पदमा चौषट्ठी पाखुड़ी,
तहिँ चड़ि नाचअ डोम्बी बापुड़ी ।।ध्रु०।।
हालो डोम्बि तो पुछमि सदमावे,
अइससि जासि डोम्बि काहरि नावँ ।।ध्रु०।।
तान्ति विकणअ डोम्बी अवर ना चङ्गता,
तोहोर अन्तरे छाड़िनड़ एट्टा ।।ध्रु०।।
तु लो डोम्बी हाउँ कपाली,
तोहोर अन्तरे मोए घलिलि होड़ेरि माली ।।ध्रु०।।
सरबर भाञ्जीअ डोम्बी खाअ मोलाण,
मारमि डोम्बी लेमि पराण" ।।ध्रु०।।

राग धनसी (१४)

"गंगा जउना माझे रे बहइ नाई,
तहिँ बुड़िली मातङ्गि पोइआ लीले पार करेइ ॥ध्रु०॥
वाहतु डोम्बी वाहलो डोम्बी वाटत भइल उछारा,
सद्गुरु पाअ-पए जाइब पुण जिणउरा ॥ध्रु०॥
पाञ्च केडुआल पड़न्ते माङ्गे पिटत काच्छी बान्धी,
गअणदुखोलें सिञ्चहु पाणी न पइसइ सान्धि ॥ध्रु०॥
चन्द सूज्ज दुइ चका सिठिसंहार पुलिन्दा,
वाम दहिण दुइ माग न रेवइ बाहतु छन्दा ॥ध्रु०॥
कवडी न लेइ बोडी न लेइ सुच्छडे पार करेइ,
जो रथे चड़िला वाहवाण जाइ कुलें कुल बुड़इ" ॥ध्रु०॥

भिक्षावृत्ति[१] में इनका यह दोहा मिलता है—

"भुञ्जइ मअण सहावर कमइ सो सइअल।
मोअ ओ धर्म करण्डिया, मारउ काम सहाउ।
अच्छउ अक्ख जे पुनइ, सो संसार-विमुक्क।
ब्रह्म महेसर णारायणा, सक्ख असुद्ध सहाव॥"

१०— कम्बलपाद (सिद्ध ३०)—ओडविश (उड़ीसा) में, राजवंश में इनका जन्म हुआ। भिक्षु होकर त्रिपिटक के पण्डित बने। पीछे सिद्ध वज्र घंटाप (५२) के सत्संग में पड़ उनके शिष्य हो गये। इनके गुरु सिद्धाचार्य वज्र घंटापाद या घंटापाद उड़ीसा में कई वर्ष रहे और उनके ही कारण उड़ीसा में वज्रयान का बहुत प्रचार हुआ। सिद्ध राजा इन्द्रभूति इनके शिष्य थे। कम्बलपाद बौद्ध दर्शन के भी पण्डित थे। प्रज्ञापारमिता-दर्शन पर इनके चार ग्रन्थ, भोटिया में, मिलते हैं। इनके तन्त्र-ग्रन्थों की संख्या ग्यारह है, जिनमें निम्न प्राचीन उड़िया या मगही में थे—असम्बन्ध-दृष्टि (त० ४८।३८)। असम्बन्ध-सर्गदृष्टि (त० ४८।३९)। कम्बलगीतिका (त० ४८।३०)

---

१. तन्-जूर (त० २१।१६)। ल्हासा के मुरु-विहार की हस्त-लिखित प्रति का पाठ।

कविता का नमूना

राग देवक्री (८)

"सोने भरिती करुणा नावी,
रूपा थोइ महिके ठावी ॥ध्रु०॥
वाहतु कामलि गअण उवेसें,
गैली जाम बहु उइ काइसें ॥ध्रु०॥
खुन्टि उपाड़ी मेलिलि काच्छि,
वाहतु कामलि सद्गुरु पुच्छि ॥ध्रु०॥
माङ्गत चन्हिले चउदिस चाहअ,
केड़ुआल नहि कें कि बाहब के पारअ ॥ध्रु०॥"
वामदाहिण चापो मिलि मिलि मागा,
वाटत मिलिल महासुह सङ्गा ॥ध्रु०॥"

११—जालन्धरपाद (सिद्ध ४६)—नगर-भोग (?) देश में, ब्राह्मण-कुल में, इनका जन्म हुआ था। पीछे एक अच्छे पण्डित भिक्षु बने। किन्तु घंटापाद के शिष्य, सिद्ध कूर्मपाद की संगति में आकर यह उनके शिष्य हो गये। मत्स्येन्द्र-नाथ, कण्हपा और तंतिपा इनके शिष्यों में थे। भोटिया-ग्रन्थों में इन्हें आदि-नाथ भी कहा गया है। नाथपन्थ की परम्परा में भी आदिनाथ से इन्हीं से मतलब है। इस प्रकार चौरासी सिद्धों में जालन्धरपाद की परम्परा अब भी भारत में कायम है। गोरक्षनाथ इनके शिष्य मत्स्येन्द्र के शिष्य थे। तन्-जूर में इनके सात ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न प्राचीन मगही के हैं—विमुक्त-मंजरी-गीत (त० ७३।४९)। हूँकार-चित्त-बिंदु-भावनाक्रम (त० ४८।७२)।

कविता का नमूना

राग निवेद, ताल माठ (७६)[१]

"अखय निरंजन अर्द्धय अनु
पद्म गगन कमरंजे साधना,
शून्यता विरासित राय श्री चिय,
देव पान-बिन्दु समय जो दिता ॥ध्रु०॥

---

१. मैंने यह पाठ नेपाल के बौद्धों में आज भी प्रचलित चर्यागीति (चचो) पुस्तक से लिया है। भाषा बिल्कुल ही बिगड़ी हुई है।

नमामि निरालम्ब निरक्षर,
स्वभाव हेतु स्फुरन संप्रापिता,
सरद-चन्द्रसमय तेज प्रकासित
जरज-चन्द्र समय व्यापिता ॥ध्रु०॥
खडग योगाम्बर सादिरे चक्रवति
मेरुमंडल भमलिता,
निर्म्मल हृदयारे चक्रवति ध्याविते
अहितिसिक्षंजत्र मय साधना ॥ध्रु०॥
आनंद परमानंद बिरमा
चतुरानंद जे संभवा
परमा विरमा माँझे रे न छाविरे
महासुख सुगत संप्रद प्रापिता ॥ध्रु०॥
हे वज्रकार चक्र श्रीचक्रसंवर,
अनन्त कोटि सिद्ध पारंगता,
श्री हतवदियाने पूर्ण गिरि,
जालन्धरि प्रभु महा सुख-जातहुँ ॥ध्रु०॥

१२—कुक्कुरिपा (सिद्ध ३४)—कपिल (वस्तु) वाले देश में, एक ब्राह्मण कुल में, इनका जन्म हुआ था। मीनपा (८) के गुरु चर्पटीपा इनके भी गुरु थे। इनकी शिष्या मणिभद्रा चौरासी सिद्धों में से एक (६५) है। पद्मवज्र भी इनके ही शिष्य थे। तन्-जूर में इनके १६ ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्नलिखित हिन्दी के मालूम होते हैं—तत्त्व-सुख-भावनानुसारियोगभावनोपदेश (त० ४८।६५)। स्रवपरिच्छेदन (त० ४८।६६)।

कविता का नमूना

राग गवड़ा (२)

"दुलि दुहि पिटा धरण न जाइ,
रुखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ ॥
आङ्गन घरपण सुन भो विआती,
कानेट चौरि निल अधराती ॥ध्रु०॥
सुसुरा निद गेल बहुडी जागअ,
कानेट चोरे निल का गइ मागअ ॥ध्रु०॥

दिवसइ बहुड़ी काड़इ डरे भाअ,
राति भइले कामरु जाअ ॥ध्रु०॥
अइसन चर्या कुक्करी-पाएँ गाइड़,
कोड़ि मज्झेँ एकुड़ि अहिँ सनाइड़ ॥ध्रु०॥

राग पटमञ्जरी (२०)

"हाँउ निवासी खमण भतारे,
मोहोर विगोआ कहण न जाई ॥ध्रु०॥
फेटलिउ गो माए अन्त उड़ि चाहि,
जा एथु बाहाम सो एथु नाहि ॥ध्रु॥
पहिल विआण मोर वासन पूड़,
नाड़ि विआरन्ते सेव वापूड़ा ॥ध्रु०॥
जाण जौबण मोर भइलेसि पूरा,
मूल नखलि बाप संघारा ॥ध्रु०॥
भणथि कुक्कुरीपाए भव थिरा,
जो एथु बुझएँ सौ एथु वीरा ॥ध्रु०॥"
"हले सहि विअ सिअ कमल पबाहिउ वज्जें।
अललल हो महासुहेण आरोहिउ नृत्ये।
रविकिरणेण पफुल्लिअ कमलु महासुहेण।
(अल) आरोहिउ नृत्यें ॥"[1]

१३—गुण्डरीपाद (सिद्ध ५५)—डिसुनगर देश में कर्मकारों के कुल में पैदा हुए थे। पीछे सिद्ध लीलापा (२) के शिष्य हो गये। इनके शिष्य धर्मपाद के शिष्य सिद्ध हालिपाद (५०) थे। तन्-जूर में इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। चर्यागीतों में इनकी यह गीति मिलती है—

राग अरु (४)

"तिअड्डा चापी जोइनि दे अङ्कवाली,
कमलकुलिशघाण्ट करहुँ विआली ॥ध्रु०॥

---

१. साधनमाला, (गायकवाड़-ओरियंटल सीरीज, बड़ोदा) पृष्ठ ४६६, ४६७।

जोइनि तँइ विनु खनहिँ न जीवमि,
तो मुह चुम्बी कमल-रस पीवमि ॥ध्रु०॥
खेँपहु जोइनि लेप न जाय,
मणिकुले वहिआ ओड़िआणे समाअ ॥ध्रु०॥
सासु घरेँ घालि कोञ्चा ताल,
चान्द-सुजवेणि पखा फाल ॥ध्रु०॥
भणइ गुडरी अह्मे कुन्दुरे वीरा,
नरअ नारी मझेँ उभिल चीरा ॥ध्रु०॥"

१४—**मीनपा** (सिद्ध ८)—कामरूप (आसाम) देश में एक मछवे के कुल में इनका जन्म हुआ था। इन्हीं के पुत्र मत्स्येन्द्र थे, जिनके शिष्य गोरखनाथ हुए। पहले लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) नदी में मछली मारते और ध्यानमार्ग पर चलते थे। पीछे चर्पटीपाद (५९) के शिष्य हो गये। तन्-जूर में इनका एक ग्रन्थ "बाह्यान्तरबोधिचित्तबन्धोपदेश") (त० ४८।५०) मिलता है, जो कि, पुरानी आसामी या मगही में था। चर्यागीति (पृष्ठ ३८) की टीका में परदर्शन कहकर इनका एक पद उद्धृत किया गया है—

"कहन्ति गुरु परमार्थेर वाट,
कर्मकुरङ्ग समाधिक पाट ।
कमल विकसिल कहिह ण जमरा,
कमलमधु पिविबि धोके न भमरा ॥"

१५—**कण्हपा** (सिद्ध १७)—कर्णाटक देश में[1] ब्राह्मणकुल में इनका जन्म हुआ था; इसीलिये इनको कर्णपा भी कहते हैं। शरीर का रंग काला होने से कृष्णपा या कण्हपा कहते हैं। महाराज देवपाल (८०९–८४९ ई०) के समय में यह एक पण्डित भिक्षु थे और कितने ही दिनों तक सोमपुरी-विहार (पहाड़पुर, जि० राजशाही) में रहते थे। पीछे यह सिद्ध जालन्धर-पाद के शिष्य हो गये।

---

१. स-स्क्य-ब्कं-बुम्, ज, २९५ क—"युल्-ग्यं-गर् कर्ण-र स्क्येस्पस्-नस्, कर्ण-ब्शेस् क्यङ ब्य। ..."र्ञान्-रिङ्-पस् (लम्बे कानवाले होने से) क्यङ् कर्ण-प-सेर्। ख-दोग् नग्-पस् कृष्ण-प शेस्-ब्य व।" डाक्टर भट्टाचार्य ने लिखा है—"*Written in his omn vernacular which was probably Uria, and showed great affinity towards the old Bengali language.*"

चौरासी सिद्धों में कवित्व और विद्या, दोनों की दृष्टि से यह सबसे बड़े सिद्धों में से हैं। इनके अपने सात से अधिक शिष्य, चौरासी सिद्धों में, गिने गये हैं, जिनमें कनखला (६७) और मेखला (३६); दो योगिनियाँ भी हैं। धर्मपा (३६) कन्तलिपा (६९), महीपा (३७), उधलिपा (७१), भदेपा (३२), शिष्य और जवरिपा (६४) या अजपालिपा प्रशिष्य थे। उस समय सिद्धों का गढ़ बिहार-प्रदेश था। इन्होंने अपनी भाषा-कविताएँ तत्कालीन मगही में की हैं। तन्-जूर में दर्शन पर छः और तन्त्र पर इनके ७४ ग्रन्थ मिलते हैं। पीछे भी एक कृष्णपाद हुए थे; इसलिये इस सूची में कुछ उनके ग्रन्थों का भी होना सम्भव है। दर्शन-ग्रन्थों में इन्होंने शान्तिदेव के "बोधिचर्यावतार" पर "बोधिचर्यावतार-दुरवबोध-पदनिर्णय" नामक टीका लिखी है। इनके निम्न कविता-ग्रन्थ मगही में थे, जिनके भोटिया-अनुवाद तन्-जूर में मिलते हैं—

१ कान्हपाद-गीतिका (त० ४८।१७)।
२ महाढुण्ढन-मूल (त० ८५।३०)।
३ वसन्ततिलक (त० १२।३०)।
४ असम्बन्ध-दृष्टि (त० ४८।४७)।
५ वज्रगीति (त० ४७।३३)।
६ दोहाकोष[1] (त० ४७।४४)।

"बौद्धगान ओ दोहा" में इनका दोहाकोष संस्कृतटीका-सहित छपा है, जिसमें बत्तीस दोहे हैं। इनके दोहों का नमूना देखिए—

"आगम-बेअ-पुराणे, पण्डित्त मान वहंति।
पक्क सिरिफल अलिअ जिम, वाहेरित भ्रमयन्ति ॥२॥"
"अह ण गमइ उह ण जाइ,
वेणि-रहिअ तसु निच्चल पाइ।
भणइ कह्न मन कहबि न फुट्टइ,
निच्चल पवन धरिणि घर वत्तइ" ॥१३॥
"एक्क ण किज्जइ मन्त ण तन्त,
णिअ घरणि लइ केलि करन्त।

---

१. तन्-जूर (त० २०।१०); स-स्क्यं ब्कं-बुम्, प ३६८ ख; फ १२८ क।

णिअधर घरिणी जाव ण मज्जइ,
ताव कि पंचवर्ण विहरिज्जइ ॥२८॥"
"जिमि लोण विलिज्जई पाणिएहि,
तिम घरणी लइ चित्त ।
सम-रस जइ तक्खणे,
जइ पुण ते सम णित्त ॥३२॥"

इनकी वज्रगीतिका का नमूना देखिये—

"कोल्लअ[1] रे ठिअ बोल्ल, मुम्मुणि रे कक्कोल ॥
घन किपीटह बज्जइ, करुणे किअइ णरोला ।
तहि पल खज्जइ, गाढ़ें मअ णा पिज्जइ ।
हले क्लिञ्जर पणिअइ, दुन्दुर वज्जिअइ ।
चउसम कत्थुरि सिल्हा, कप्पुर लाइअइ ।
मालइ धाण-सालि अइ, तहिं भलु खाइअइ ।
पेंखण खेट करन्त, शुद्धाशुद्ध ण मणिअइ ।
निरंशु अंग चडावि अइ, तहिं जस राव पणिअइ ।"
मलअजे कुन्दुरु वापइ, डिण्डिम तहिञ वञ्जि अइ ॥

कण्हपा के कुछ गीत देखिये—

राग पट मञ्जरी (११)

"नाड़ि शक्ति दिट धरिअ खट्टे,
अनहा डमरु वाजए वीरनादे ॥
काह्नु कापाली योगी पइठ अचारे",
देह नअरी विहरए एकारें ॥ध्रु०॥

---

१. आजकल नेपाल में व्यवहृत चर्यागीत (च-चो) का पाठ इस प्रकार है—
"कोलायि रे थिय बोला, मुमुनिरे कंकोला ।
घनकिया थीं होयि वज्रायि, करुणेकियायि न लोरा ॥ध्रु०॥
मलयजकुंदुरु वजायिले डिडिम तहि ना वाजयि ।
तहि भरु खाज गाध्या मय ना पीवयियि ॥
हले कालिजर पंनययि दुंदुरु वजरययि ।
चवु सम कस्तुरि सिल्हा, कर्पुर लावनययि ॥

आलि कालि घण्टा नेउर चरणे,
रवि-शशी-कुण्डल किउ आभरणे ।।ध्रु०।।
राग-देश-मोह लाइअ छार,
परम मोख लवए मुत्तिहार ।।ध्रु०।।
मारिअ शासु नणन्द घरे शाली,
माअ मारिआ काह्ल भइअ कबाली ।।ध्रु०।।

राग पटमञ्जरी (३६)

"सुण वाह तथता पहारी,
मोहभण्डार लुइ सअला अहारी ।।ध्रु०।।
घुमइ ण चेवइ सपरविभागा,
सहज निदालु काह्लिला लाङ्गा ।।ध्रु०।।
चेअण ण वेअन भर निद गेला,
सअल सुफल करि सुहे सुतेला ।।ध्रु०।।
स्वपणे मइ देखिल तिभुवण सुण,
घोरिअ अवणा गमण विहल ।।ध्रु०।।
शाथि करिब जालन्धरि पात्र,
पाखि ण राहअ मोरि पाण्डिआ चादे ।।ध्रु०।।"

१६—**तन्तिपा** (सिद्ध १३)—मालव देश के अवन्तिनगर (उज्जैन) में कोरी (तन्तुचाय, तँतवा) के घर इनका जन्म हुआ था। घर में रहते ही इनका मन सिद्धचर्या की ओर लगा। जालन्धरपाद का दर्शन कर उनके शिष्य हो गये। पीछे कण्हपा से भी उपदेश लिया। तन्-जूर में इनका एक ग्रन्थ "चतुर्योगभावना" (त० ४८।५४) मिलता है, जो पुरानी मालवी या मगही में लिखा गया था। इनकी कोई कविता मूल भाषा में नहीं मिलती; किन्तु यदि "चर्यागीति" के "ढेण्ढनपाद" को तन्तिपाद मान लिया जाय; क्योंकि इस नाम का कोई सिद्धाचार्य नहीं है, तो यह गीत उनका हो सकता है।

गल या जइ धनसोलिजरे, तहि भरु खाज न यायी।
प्रेषु ह क्षेत्र करते सोधा सुद्ध न मूनयि।
निलसुह अंग चवावयि, तरि जस रा पनयायी" ।।१६।।

राग पटमञ्जरी (३३)

"टालत मोर घर नाहि पड़वेषी ।
हाड़ीत भात नाँहि निति आवेशी ।।ध्रु०।।
वेङ्गसंसार बड्हिल जाअ,
दुहिल दुधु कि वेण्टे यामाय ।।
बलद विआएल गविआ बाँझे ।
पिटा दुहिए ए तिना साँझे ।
जो सो बुधी सो धनि बुधी ।
जो षो चोर सोइ साधी ।।
निते निते षिआला षिहे षम जुझअ,
ढेण्ढण पाएर गीत बिरले बूझ अ ।।"

१७—मही (महिल) पा (सिद्ध ३७)—मगध-देश में शूद्रकुल में, इनका जन्म हुआ था। गृहस्थ होते हुए भी इन्हें सत्संग की बड़ी चाह थी। पीछे कण्हपा के शिष्य हो गये। तन्-जूर में इनका एक ग्रन्थ "वायुतत्त्वदोहा-गीतिका" (त० ८४।१०) मिलता है, जो पुरानी मगही में था। "चर्यागीति" में महीधरपाद का एक गीत मिलता है, (यह महीपा और महीधरपाद एक ही मालूम होते हैं)।

राग भैरवी (१६)

"तिनि एँ पाटें लागेलि रे अणह कसण घण गाजइ,
ता सुनि मार भयङ्कर रे सअ मण्डल सएल भाजइ ।।ध्रु०।।
मातेल चीअ-गअन्दा धावइ ।
निरन्तर गअणन्त तुसें घोलइ ।।ध्रु०।।
पाप पुण्य वेणि तिड़िअ सिकल मोड़िअ खम्भाठाणा,
गअण टाकलि लागिरे चित्ता पइठ णिवाना ।।ध्रु०।।
महारस पाने मातेल रे तिहुअन सएल उएखी,
पञ्च विषय रे नायकरे विपख को बी न देखी ।।ध्रु०।।
खररविकिरणसन्तापेरे गअणाङ्गण गइ पइठा,
भणन्ति महित्ता मइ एथु बुड़न्ते किम्पि न दिठा ।।ध्रु०।।"

१८—भादेपा (सिद्ध ३२)—श्रावस्ती[१] में चित्रकार (ल्ह-ब्रिस् = देवलेखक)

---

१. सहेट-महेट (जि० गोंडा, युक्तप्रान्त)।

कुल में इनका जन्म हुआ था। पीछे सिद्ध कण्हपा के शिष्य हुए। तन्-जूर में इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता; किन्तु "चर्यागीति" में इनकी यह गीति मिलती है।

राग मल्लारी (३५)

"एतकाल हाँउ अच्छिलें स्वमोहें।
एवें मइ बुझिल सद्गुरुबोहें ॥ध्रु०॥
एवें चिअराअ मकुं ण ठा।
गण समुदे टलिआ पइठा ॥ध्रु०॥
पेखमि दहदिह सर्व्वइ शून।
चिअ विहुन्ने पाप न पुण्ण ॥ध्रु०॥
वाजुले दिल मोहकखु भणिआ,
मइ अहारिल गअणत पणियाँ ॥ध्रु०॥
भादे भणइ अभागे लइआ।
चिअराअ मइ अहार कएला" ॥ध्रु०॥

१९—कङ्कणपाद (सिद्ध ८९)—विष्णुनगर (? बिहार) राजवंश में इनका जन्म हुआ था। कंबलपा के परिवार के सिद्ध थे। तन्-जूर में इनका एक ग्रन्थ "चर्यादोहाकोषगीतिका" (त० ४८।७) मिलता है। "चर्यागीति" में इनकी यह गीति मिलती है।

राग मल्लारी (४४)

"सुने सुन मिलिआ जबें,
सअलधाम उइआ तबे ॥ध्रु०॥
आच्छु हुं चउखण संबोही,
माझ निरोह अणुअर बोही ॥ध्रु०॥
विंदु-णाद णहिं ए पइठा,
अण चाहन्ते आण विणठा ॥ध्रु०॥
जथाँ आइलेंसि तथा जान,
मासं, थाकी सअल विहाण ॥ध्रु०॥
भणई कङ्कण कलएल सादें,
सर्ब्ब विच्छरिल तथतानादें ॥ध्रु०॥

२०—**जयानन्त (जयनन्दी) पाद (सिद्ध ५८)**—भंगल (भागलपुर) देश के राजा के मन्त्री थे। जन्म ब्राह्मण-वंश में हुआ था। तन्-जूर में जयानन्त के "तर्कमुद्गर-कारिका" (ला० २४।६) और "मध्यमकावतारटीका" (ल० २५), दो ग्रन्थ मिलते हैं; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि, यह कौन जयानन्त थे। इनके-गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में भी नहीं मालूम हुआ है। "चर्यागीति" में इनकी यह गीति मिलती है—

राग शवरी (४६)

"पेखु सुअरणे अदश जइसा,
अन्तराले मोह तइसा ।।ध्रु०।।
मोह-विमुक्का जइ माणा,
तबें तूटइ अवणा गमणा ।।ध्रु०।।
नौ दाटइ नौ तिमइ न च्छिजइ,
पेख मोअ मोहे बलि बलि बाझइ ।।ध्रु०।।
छाअ माआ काअ समाणा,
बेणि पाखें सोइ विणा ।।ध्रु०।।
चिअ तथतास्वभावे षोहिअ,
भणइ जअनन्दि फुडअण ण होइ ।।ध्रु०।।"

२१—**तिलोपा (सिद्ध २२)**—भगुनगर (? विहार) में इनका जन्म हुआ था। "स-स्क्य-ब्कं-बुम्" (ज, २४५क) में इनको राजवंशिक कहा गया है। भिक्षु-नाम प्रज्ञाभद्र था; किन्तु सिद्धचर्या में यह तिल कूटा करते थे; इसी लिये नाम तिलोपा पड़ गया। गुह्यपा के शिष्य और कण्हपा के प्रविष्य विजयपाद (या अन्तरपाद) इनके गुरु थे। विक्रमशिला के महापण्डित और सिद्धाचार्य नारोपा इनके प्रमुख शिष्य थे। तन्-जूर में इनके ग्यारह ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न मगही-हिन्दी में थे—१ अन्तर्बाह्य विषय-निवृत्तिभावनाक्रम (त० ४८।८८)। २ करुणाभावनाधिष्ठान (त० ४८।५९) ३ दोहाकोष (त० ४७।२२)। ४ महा-मुद्रोपदेश (त० ४७।२६)। "चर्यागीति" (पृष्ठ ६२) की टीका में इनका निम्न-लिखित दोहा उद्धृत हुआ है, जो सम्भवतः इनके दोहाकोष का है—

"ससंवेअन तन्तफल, तिलोपाए भणन्ति।
जो मण गोअर गोइया, सो परमथे न होन्ति ।।"

२२—**नाड (नारो) पा (सिद्ध २०)**—इनके पिता कश्मीरी ब्राह्मण थे और किसी काम से मगध में प्रवास करते थे। वहीं नाडपाद का जन्म हुआ। भिक्षु होकर नालन्दा में पढ़ने लगे। असाधारण मेधावी होने से, सभी विद्याओं में पराङ्गत हो, महाविद्वान् हो गये। पीछे विक्रमशिला-विहार में पूर्वद्वार के महा-पण्डित बनाये गये। इतना होने पर भी यह पण्डिताई से सन्तुष्ट न थे। अन्त में सिद्ध तिलोपा के विष्णुनगर में आने की खबर पाकर वहाँ गये और उनसे दीक्षा ली। शान्तिपाद (सि० १२), दीपङ्कर श्रीज्ञान आदि के यह गुरु थे। भोट का मर-वा[१] लोचवा भी इन्हीं का शिष्य था। नारोपा का देहान्त १०३९ ई० में हुआ था। तन्-जूर में इनके तेईस ग्रन्थ मिलते हैं, जिनमें निम्न मगही हिन्दी में थे—१ नाडपण्डितगीतिका (त० ४८।२६)।२ वज्रगीति (त० ४७।३०, ३१)। नाडपाद के नाम की कोई मूल गीति नहीं मिलती, तो भी "चर्यागीति" में ताडकपाद की एक गीति मिलती है। यह ताडकपाद नाड़कपाद ही मालूम होते हैं। नाम का सादृश्य भी है और ताडक नाम का कोई सिद्धाचार्य भी नहीं देखा जाता। गीति का नमूना देखिये।

राग कामोद (३७)

"अपणे नाँहि सो काहेरि शङ्का,
ता महामुदेरी टूटि गेलि कंथा ।।ध्रु०।।
अनुभव सहज मा भोलरे जोई,
चोकोट्टि विमुका जइसो तइसो होइ ।।ध्रु०।।
जइसने अछिले स तइछन अच्छ।
सहज पिथक जोइ भान्ति माहो वास ।।ध्रु०।।
वाण्डकुरु सन्तारे जाणी।
वाक्पथातीत काँहि बखाणी ।।ध्रु०।।
भणइ ताड़क एथु नाहिँ अवकाश।
जो बुझइ ता गलें गलपास ।।ध्रु०।।

२३—**शान्तिपा (रत्नाकर शान्ति) (सिद्ध १२)**—मगध के एक शहर में, ब्राह्मणकुल में, इनका जन्म हुआ था। पीछे उडन्तपुरी (बिहार-शरीफ) के विहार

---

१. तिब्बत के सर्वोत्तम कवि और सिद्ध जे-चुन् मि-ला रे-पा (दीक्षा १०७६ ई०; सिद्धिप्राप्ति १०९२ ई०; मृत्यु ११२२); के यह गुरु थे, जिनको आज भी तिब्बत का बच्चा-बच्चा जानता और पूजता है।

में सर्वास्तिवाद-सम्प्रदाय में प्रव्रजित हुए। श्रावक (हीनयान) त्रिपिटक तथा अन्यान्य ग्रन्थों को समाप्त कर विक्रम-शिला में महापण्डित जितारि के पास चले गये। वहीं सिद्ध नाडपाद के भी सत्संग में आये। विद्या समाप्त कर कुछ दिन सोमपुरी-विहार के स्थविर (महन्त) रहे। फिर मालवा चले गये और उधर ही सात वर्षों तक योगाभ्यास में रहे। जिस वक्त यह लौटकर भंगल देश में, विक्रम-शिला पहुँचे, उस समय सिंहल के राजदूत ने अपने राजा का आग्रह-पूर्वक निमन्त्रण इनके सामने रखा। स्वीकृति देकर यह सिंहल की ओर चल पड़े। रामेश्वर के पास इन्हें एक साथी मिला, जो पीछे सिद्ध होकर कुठालिपा (सि० ४४) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सिंहल में जाकर इन्होंने ६ वर्ष धर्म-प्रचार किया। लौटकर घूमते-घामते जब विक्रम-शिला पहुँचे, तब महाराज महीपाल (९७४–१०२६) की प्रार्थना स्वीकार कर पूर्वद्वार के पण्डित बने। सिद्धों में ऐसा जबरदस्त पण्डित कोई नहीं हुआ। इन्हें "कलिकाल-सर्वज्ञ" भी कहा गया है। १०० वर्ष से अधिक की आयु में इन्होंने शरीर छोड़ा। तन्-जूर में दर्शन-विषय पर इनके नौ से अधिक ग्रन्थ हैं। इन्होंने छन्दःशास्त्र पर "छन्दोरत्नाकर" ग्रन्थ लिखा है। तन्त्र पर इनके २३ ग्रन्थ मिलते हैं। जिनमें सुख-दुखद्वय-परित्यागदृष्टि (४८।३७) मगही में था। "चर्यागीति" में इनके निम्न दो गीत मिलते हैं।

राग रामक्री (१५)

"सअ, सम्बेअण सरुअ विआरें,
ते अलक्खलक्खण न जाइ।
जे जे उजूवाटे गेला अनावाटा भइला सोई ॥ध्रु०॥
कुलें कुल मा होइरे मूढ़ा उजूवाटे संसारा,
वाल भिण एकु वाकु ण भूलह राजपथ कण्टारा ॥ध्रु०॥
माआमोहासमुदारे अन्त न बुझसि थाहा,
अगे नाव न भेला दीसअ भन्ति न पुच्छसि नाहा ॥ध्रु०॥
सुनापान्तर उह न दिसइ भान्ति न वाससि जान्ते।
एषा अटमहासिद्धि सिज्झए उजूवाट जाअन्ते ॥ध्रु०॥
बाम दाहिण दो वाटा च्छाडी,
शान्ति बुलथेउ संकेलिउ।
घाटनगुमाखड़तड़ि नो होइ,
आखि बुजिअ बाट जाइउ ॥ध्रु०॥

राग शीवरी (२६)

"तुला धणि धुणि आँसुरे आँसु,
आँसु धुणि धुणि णिरवर सेसु ।।ध्रु०।।
तउषे हेरुअ ण पाविअइ,
सान्ति भणइ किण सभावि अइ ।।ध्रु०।।
तुला धुणि धुणि सुने अहारिउ,
पुन लइआँ अपना चटारिउ ।।ध्रु०।।
बहल बट दुइ मार न दिशअ,
शान्ति भणइ वालाग न पइसअ ।।ध्रु०।।
काज न कारण जएहु जअति,
सएँ संवेअण बोलथि सान्ति ।।ध्रु०।।

अन्य सिद्धों की कुछ कविताएँ भी दी जा सकती थीं; किन्तु विस्तारभय से उन्हें यहाँ नहीं दिया जा रहा है। भोटिया-ग्रन्थ-संग्रह तन्-जूर में और भी बहुत से भाषाकाव्य ग्रन्थ अनुवादित हैं, जिनमें कुछ को छोड़कर सभी मगही हिन्दी के हैं। इनमें कुछ ग्रन्थों के अब भी दो देशों से मिलने की आशा है। एक तो नेपाल से, जहाँ से कि, महामहोपाध्याय स्व० पं० हरप्रसाद शास्त्री को बौद्ध-गान और दोहे मिले थे; और, दूसरे भोट (तिब्बत) से। सिद्धों की कितनी ही कविताए भोट के सस्क्य-मठ में अनुवादित हुई थीं। यह मठ अब तक सुरक्षित है और आज भी इसके पुस्तकागार में सकड़ों तालपत्र की पुस्तकें राजकीय मुहर के अन्दर बन्द हैं। हो सकता है कि, किसी समय इस कोष के खुलने पर कुछ ग्रन्थ मिल सकें। भोट में और भी जहाँ-तहाँ कभी-कभी कोई-कोई पुराने भारतीय ग्रन्थ मिल जाते हैं। लेखक जिस समय तिब्बत में था, उस समय टशील्हुन्पों में एक दूर के लामा ने भारतीय लामा जान कर एक ताल-पोथी प्रदान की थी। पुस्तक का नाम "वज्रडाकतन्त्र" है और इसका अनुवाद भोटिया-कंजूर में वैशाली (बसाढ़, जि० मुजफ्फरपुर) के कायस्थ पण्डित गयाधर ने, ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में, किया था। कई कारणों से मालूम होता है कि, यह अनुवाद की मूल प्रति है।

यहाँ तन्-जूर में अनुवादित कुछ भाषा-काव्यों और उनके कर्ताओं की सूची दी जाती है, जिससे हिन्दी-भाषा-भाषी समझेंगे कि, सिद्धों ने हिन्दी की कितनी सेवा की है—

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूर में[1]
२४ अचिन्त	तीर्थिक चण्डालिका	त० ४८।६७
२५ अज्ञात कवि	गीतिका	त० ४८।२०,२३,२४
	डाकिनीतनुगीति	त० ४८।१११
	योगिनीप्रसरगीतिका	त० ४८।३२
	वज्रगीति	त० ४७।३२
	”	त० ८५।२०
	” सिद्धयोगि-	त० ४८।१०९
२६ अद्वयवज्र[2] (मैत्रीपा)	अबोध-बोधक	त० ४७।३९
	गुरुमैत्रीगीतिका	त० ४८।१३
	चतुर्मुद्रोपदेश	त० ४७।३७
	चित्तमात्रदृष्टि	त० ४८।४५
	दोहानिधितत्त्वोपोदेश	त० ४६।३३
	वज्रगीतिका । चतुर्—	त० ४८।१२
२७ अयो (अजो) गिपा (सिद्ध २६)[3]	चित्तसम्प्रदायव्यवस्थान	त० ४८।६१
	वायुस्थान-रोग-परीक्षण	त० ४८।८१
	विषनिर्वहण-भावनाक्रम	त० ४८।९५
२८ इन्द्रभतिपा (सि० ४२)	तत्त्वाष्टक-दृष्टि	त० ४८।४२
२९ कङ्कालमेखला (सि० ६६।६७)	सनातना-वर्तत्रयमुखागम	त० ४८।८९

---

१. यह पता Cordier के सूचीपत्र की दूसरी-तीसरी जिल्दों के तन्त्र-टीका-विभाग का है।

२. इनका नाम अवधूतीपा भी है; यह दीपंकर श्रीज्ञान (जन्म ई० ९८२-१०५४ मृ०) के गुरु थे।

३. तिब्बती ग्रन्थों में अनुवाद-ग्रन्थ की मूल भाषा के लिये सिर्फ भारतीय भाषा लिखा रहता है, संस्कृत और भाषा का फर्क नहीं दिया जाता। दोहा, गीति, दृष्टिशब्दोंवाले नाम तो भाषा-ग्रन्थों के हैं; किन्तु यहाँ उन ग्रन्थों को भी भाषा में गिना गया है, जो कि, भाषा-ग्रन्थों के वेष्टन (४८, ४७) में हैं या सिद्धों से सम्बन्ध रखते हैं।

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूर में
३० कङ्कालिपाद (सि० ७)	सहजानन्तस्वभाव	त० ४८।९०
३१ कमरिपा (सि० ४५)	सोमसूर्यबन्धनोपाय	त० ४८।७१
३२ किलपाद (सि० ७३)	दोहाचर्यागीतिकादृष्टि	त० ४८।३५
३३ कुद्दालिपाद (सि० ४४)	अचिन्त्यक्रमोपदेश	त० ४६।१३
	चित्ततत्त्वोपदेश	त० ४८।८२
	सर्वदेवतानिष्पन्नक्रममार्ग	त० ४८।७०
३४ कुरुकुलला (?)	महामुद्राभिगीति	त० ४८।९९
३५ केरलिपा	तत्त्वसिद्धि	त० ४७।३; ८५।१५
३६ कोकलिपा (सि० ८०)	आयुः परीक्षा	त० ४८।९४
३७ गयाधर (कायस्थ पण्डित)	ज्ञानोदयोपदेश	त० १३।६५
३८ गोरक्षपा (सि० ९)	वायुतत्त्वभावनोपदेश	त० ४८।५१
३९ घंटापा (सि० ५२)	आलिकालिमन्त्रज्ञान	त० ४८।७८
४० चमरिपा (सि० १४)	प्रज्ञोपायविनिश्चयसमुदय	त० ४८।५५
४१ चम्पकपा (सि० ६०)	आत्मपरिज्ञानदृष्ट्युपदेश	त० ४८।८६
४२ चर्पटीपा (सि० ५९)	चतुर्भूतभवाभिवासनक्रम	त० ४८।८५
४३ चेलुकपाद (सि० ५४)	षडङ्गयोगोपदेश	त० ४।२१
४४ चोरंगीपा (सि० १०)	वायुतत्त्वभावनोपदेश	त० ४८।५२
४५ छत्रपा (सि० २३)	शून्यताकरुणादृष्टि	त० ४८।४०
४६ जगन्मित्रानन्द (मित्रयोगी)[१]	पदरत्नमाला	त० ८४।९
	बन्धविमुक्त्युपदेश	त० ४८।१२६

---

१. गहड़वार महाराज जयचन्द्र के गुरु थे। देखिये अन्यत्र "मन्त्रयान, वज्रयान और चौरासी सिद्ध।"

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूर में
	योगिस्वचित्तग्रन्थिविमोचकोपदेश	त० ४८।१२८
४७ थगनपा (सि० १९)	दोहाकोषतत्त्वगीतिका	त० ४८।६
४८ दीपङ्कर श्रीज्ञान[१]	चर्यागिति	त० १३।४४
	धर्मगीतिका	त० ४८।३४
	धर्मधातुदर्शनगीति	त० ४७।४७
	वज्रासनवज्रगीति	त० १३।४२
४९ दृष्टिज्ञान (?)	गीतिका	त० ४८।१९
	वज्रगीतिका	त० ४८।१८
५० दोखंधिपा (सि० २५)	चतुरक्षरोपदेश	त० ८२।१७
	महायानावतार	त० ४८।६०
५१ धर्मपा (सि० ३६)	कालिभावनामार्ग	त० ४८।७९
	सुगतदृष्टिगीतिका	त० ४८।९
	हुंकारचित्तबिन्दु-भावनाक्रम	त० ४८।७४
५२ धहुलि (=दउड़ि) पा [सि० ४०]	शोकदृष्टि	त० ४८।४४
५३ धेतन	चित्तरत्नदृष्टि ।	त० ४८।४१
५४ धोकरिपा (सि० ४९)	प्रकृति-सिद्धि	त० ४८।७५
५५ नलिनपाद (सि० ४०)	धातुवाद	त० ४८।६८
५६ नागबोधि (सि० ७६)	आदियोगभावना	त० ४८।९१
५७ नागार्जुन (सि० १६)	नागार्जुनगीतिका	त० ४८।३३
	स्वसिध्युपदेश	त० ४८।५६
५८ निर्गुणपा (सि० ५७)	शरीरनाडिका-बिन्दुसमता	त० ४८।४
५९ निष्कलंकवज्र	बन्धविमुक्तिशास्त्र[२]	त० ४८।१२३

---

१. वैशाली (बसाढ़, जि० मुजफ्फरपुर) के रहने वाले तथा अवधूतिपा के शिष्य थे। दीपङ्कर के काल में यह भी भोट गये और वहाँ बहुत से ग्रन्थों का भोटिया-भाषा में अनुवाद कर कई वर्षों बाद तीन सौ तोला सोने की बिदाई के साथ भारत लौटे थे!

२. भारतीय ग्रन्थों का भोटिया-अनुवाद पण्डित और लोचवा (= भोटिया

कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूर में
६० नीलकण्ठ	अद्वयनाडिका भावनाक्रम	त० ४८।९६
६१ पङ्कज (सि० ५१)	अनुत्तरसर्वशुद्धिक्रम	त० ४८।७७
	स्थानमार्गफलमहामुद्राभावना	त० ४८।६९
६२ पनहपा (सि० ७९)	चर्यादृष्टअनुत्पन्नतत्त्वभावना	त० ४८।९६
६३ परमस्वामी (नृसिंह)[1]	दोहाचित्तगुह्य	त० ४८।७३
	महामुद्रारत्नाभिगीत्युपदेश	त० ४८।१०५
	वज्रडाकिनीगीति	त० ४८।१०
	सकलसिद्धवज्रगीति	त० ४८।११३
६४ पुतलीपा (सि० ७८)	बोधिचित्तवायुच-रणभावनोपाय	त० ४८।९२
६५ महासुखतावज्र (शान्तिगुप्त)	महासुखतागीतिका[2]	० ४८।
	योगगीता	त० ८६।८९
६६ मेकोपा (सि० ४३)	चित्तचैतन्यशमनोपाय	त० ४८।६९
६७ मेदिनीपा (सि० ५०)	सहजाम्नाय	त० ४८।७६
६८ राहुलभद्र (सि० ४७)	अचिन्त्यपरिभावना	त० ४८।७३
६९ ललित (वज्र)	महामुद्रारत्नगीति	त० ४८।११२
७० लीलावज्र (सि० २)	विकल्पपरिहारगीति	त० ४८।३
७१ लुचिकपा (सि० ५६)	चण्डालिकाबिन्दुप्रस्फुरण	त० ४८।८३
७२ वज्रपाणि[3]	वज्रपद	त० ४६।४१

दुभाषिया) मिलकर किया करते थे। इस ग्रन्थ के अनुवाद में पण्डित जगन्मित्रानन्द थे।

१. यह भारतीय सिद्ध पण्डित थे। १०९१ ई० में भोट, ११०० ई० में चीन, १११२ ई० में अन्तिम बार भोट में गये। भोटिया में इन्हें फादम्-पा (=सत्पिता) भी कहते हैं। इनका देहान्त १११७ ई० में हुआ।

२. इसका अनुवाद गुजरात के पण्डित पूर्णवज्र और लामा तारानाथ ने मिलकर किया। ग्रन्थकर्ता शान्तिगुप्त हुमायूँ और अकबर के समकालीन थे। इनका जन्म दक्षिण-देश के जलमण्डल (?) देश में हुआ था।—"रत्नाकर-जोपमकथा"।

३. दीपङ्कर श्रीज्ञान के पीछे (१०६५ ई० में) यह तिब्बत गये और वहाँ बहुत से ग्रन्थों का अनुवाद किया।

	कविनाम	ग्रन्थनाम	तन्-जूर में
७३	वैरोचनवज्र	वीरवैरोचनगीतिका	त० ४८।२५
७४	शाक्यश्रीभद्र[1]	चित्तरत्न-विशोधन-मार्गफल	त० ४८।१२५
		वज्रपदगर्भसंग्रह	त० ५।३
		विशुद्धदर्शनचर्योपदेश	त० ४८।१२४
७५	शृगालपाद (सि० २७ ?)	रत्नमाला	त० ४८।५८
७६	सर्वभक्ष (सि० ७५)	करुणाचर्याकपालदृष्टि	त० ४८।४६
७७	संवरभद्र	वज्रगीताववाद	त० ४४।२१
७८	सहजयोगिनीचिन्ता	व्यक्तभावानुगततत्त्वसिद्धि	त० ४६।७
७९	सागर (सि० ७४)	आलिकालिमहायोगभावना	त० ४८।८०
८०	समुद्र (सि० ८३)	सूक्ष्मयोग	त० ४८।९७
८१	सुखवज्र	मूलप्रकृतिस्थभावना	त० ४७।३६

---

१. शाक्यश्रीभद्र (जन्म ११२६ ई०) विक्रमशिला के अन्तिम प्रधान स्थविर थे। महम्मद-बिन्-बख्तियार द्वारा विक्रमशिला के नष्ट किये जाने पर यह जगत्तला चले गये और वहीं तीन वर्ष रहे। वहाँ से विचरते नेपाल गये। वहीं से ख्रो लोचवा (१२०३ ई० में) इन्हें तिब्बत ले गया। स-स्क्य-बिहार का लामा इनका भिक्षु-शिष्य बना। बहुत से ग्रन्थों का अनुवाद एवं धर्म-प्रचार कर सन् १२१२ ई० में यह अपनी जन्मभूमि कश्मीर लौट गये। वहीं १२२४ ई० में इनका देहान्त हुआ।

(११)

बौद्ध नैयायिक

(१) मैथिल नैयायिक

न्याय-शास्त्र और वाद-विवाद से बहुत सम्बन्ध है। यदि बौद्ध, ब्राह्मण तथा दूसरे सम्प्रदायों का पूर्वकाल में आपस का वह विचार-संघर्ष और शास्त्रार्थ न होता रहता, तो भारतीय न्यायशास्त्र में इतनी उन्नति न हुई होती। वाद या विचारों के शाब्दिक संघर्ष की प्रथा के आरम्भ होते ही वादी-प्रतिवादी के भाषण आदि के नियम बनने लगते हैं। भारत में ऐसे शास्त्रों का उल्लेख हम सर्वप्रथम ब्राह्मण-ग्रन्थों के उपनिषद्-भाग में पाते हैं।

वेद का संहिता भाग मंत्र और ऋचाओं के रूप में होने से, वहाँ भिन्न-भिन्न ऋषियों के विवादों का वैसा उल्लेख नहीं हो सकता, तो भी वशिष्ठ और विश्वामित्र का आरम्भिक विवाद ही इसका कारण हो सकता है, जो कि वशिष्ठ के वंशज, विश्वामित्र और उनकी संतान के बनाए ऋग्वेद के भाग को पढ़ना निषिद्ध समझते थे और वही बात विश्वामित्र के वंशज वशिष्ठ से सम्बन्ध रखने वाले मंत्र भाग के साथ करते थे। ये बतलाते हैं कि, मंत्रकाल और उसकी क्रीड़ा-भूमि सप्त-सिन्धु (पंजाब) में भी किसी प्रकार के वाद हुआ करते होंगे। उन वादों में भी कुछ नियम बर्ते जाते होंगे और उन्हीं नियमों को भारतीय न्याय या तर्कशास्त्र का बीज कह सकते हैं।

तब कितनी ही शताब्दियों तक आर्य लोगों में यज्ञ और कर्मकाण्डों की प्रधानता रही, युक्ति और तर्क की श्रुति के सामने उतनी चलती न थी। उस समय भी कुछ लोग स्वतन्त्र विचार रखते थे और उनका कर्मकाण्डियों के साथ विचार-संघर्ष होता था, इसी विचार-संघर्ष का मुख्य फल हम उपनिषद् के रूप में पाते हैं। उपनिषद्-काल में तो नियमानुसार परिषदें थीं, जहाँ बड़े-बड़े विद्वान् विवाद करते थे। इन परिषदों के स्थापक राजा होते थे, और बाद में विजय पानेवाले को उनकी ओर से उपहार भी मिलता था। विदेहों (तिर्हुत) की परिषद्

में इसी प्रकार याज्ञवल्क्य को हम विजयी होते हुए पाते हैं और जनक उन्हें हजार गौवें प्रदान करते हैं।

सप्तसिन्धु से इस वादप्रथा को तिर्हुत तक पहुँचने में उसे पंचाल (अन्तर्वेद और रुहेलखंड) और फिर काशी देश (वाराणसी, जौनपुर, मिर्जापुर, आजमगढ़ के जिले) से होकर आना पड़ा था। इस प्रकार प्राचीन ढंग की तर्क-प्रणाली सबसे पीछे तिर्हुत में पहुँचती है। (यद्यपि आजकल मिथिला को तिर्हुत का पर्यायवाची शब्द मानते हैं, जैसे कि काशी का वाराणसी को, किन्तु प्राचीन समय में 'मिथिला' एक नगरी थी, जो विदेह देश की राजधानी थी। उसी तरह काशी देश का नाम था, नगर का नहीं; नगर तो वाराणसी था।

यद्यपि तिर्हुत में वादप्रथा वैदिक युग के अन्त में (६०० ईसा पूर्व के आस-पास) पहुँची, किन्तु आगे कुछ परिस्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हुईं कि भारतीय न्यायशास्त्र के निर्माण में तिर्हुत ने प्रधान भाग लिया। वस्तुतः, बौद्ध न्यायशास्त्र के जन्म एवं विकास की भूमि यदि मगध है, तो ब्राह्मण-न्याय के बारे में वही श्रेय तिर्हुत को प्राप्त है।

अक्षपाद, वात्स्यायन और उद्योतकर की जन्म-भूमि और कार्यभूमि तिर्हुत थी, यद्यपि इसका कोई इतना पुष्ट-प्रमाण नहीं मिलता। वेद तथा उसकी मान्यताओं पर प्रचण्ड प्रहार करने में मगध प्रधान केन्द्र था; साथ ही जब उप-निषद् के तत्वज्ञान की अन्तिम निर्माण भूमि विदेह के होने पर भी ख्याल करते हैं; तो यह बात स्पष्ट सी जान पड़ने लगती है कि ब्राह्मण न्याय-शास्त्र की जन्म-भूमि गंगा के उत्तर तरफ तिर्हुत ही होना चाहिये।

"वादन्याय" की टीका में आचार्य शान्तरक्षित (७४०-८४० ई०) ने अविद्ध कर्ण, प्रीति चन्द दो नैयायिकों के नाम उद्धृत किए हैं। जिनमें प्रथम ने वात्स्यायनभाष्य पर टीका लिखी थी। ये दोनों ही ग्रंथकार वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) से पहले के हैं किन्तु उद्योतकर भारद्वाज से पहले के नहीं जान पड़ते। इनकी जन्म-भूमि के बारे में भी हम निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकते, किन्तु प्रतिद्वंद्विता-केन्द्र नालंदा होने से बहुत कुछ सम्भावना उनके तिर्हुत के ही होने की होती है।

त्रिलोचन और वाचस्पति मिश्र के बाद तो ब्राह्मण-न्यायशास्त्र पर तिर्हुत का एकछत्र राज्य हो जाता है। वह उदयन और बर्द्धमान जैसे प्राचीन न्याय के आचार्यों को पैदा करता है, और गङ्गेश उपाध्याय के रूप में तो उस नव्य-

न्याय की सृष्टि करता है, जो आगे चलकर इतना विद्वत्प्रिय हो जाता है कि प्राचीन न्यायशास्त्र की पठन-पाठन-प्रणाली को ही एक तरह से उठा देता है। यद्यपि नव्य-न्याय के विकास में नवद्वीप (बंगाल) का भी हाथ है, तो भी हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) के बाद से मिथिला (देश के अर्थ में) न्याय-शास्त्र (प्राचीन और नव्य दोनों ही) का केन्द्र बन जाती है, और हर एक काल में भारत के श्रेष्ठ नैयायिक बनने का सौभाग्य किसी मैथिल ही को मिलता है।

(२) बौद्ध नैयायिक

ब्राह्मण न्याय-शास्त्र के बारे में इतने संक्षिप्त कथन के बाद हम अब अपने मुख्य विषय "बौद्ध-नैयायिक" पर आते हैं। बौद्धधर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध का जन्म ईसा पूर्व ५६३ सन् में, और निर्वाण ४८३ में हुआ था। बुद्ध के उपदेशों के संग्रह को 'त्रिपिटक' कहा जाता है। यह पाली भाषा में अब भी मिलते हैं। यह विशाल साहित्य अप्रत्यक्षरूपेण ईसा पूर्व पाँचवीं छठी (कुछ स्थानों पर तीसरी तक) शताब्दी के उत्तर भारत के परिचय में अनमोल सहायता प्रदान करता है।

इनके देखने से मालूम होता है, कि उस समय 'तक्की' (तार्किक) "बीमंसी" (मीमांसक) लोगों का बड़ा ज़ोर था। विचार-स्वातंत्र्य उस काल की एक बड़ी विशेषता थी। हर एक पुरुष अपने विचारों को खुले तौर से प्रचार कर सकता था। न उसमें राज्य की ओर से कोई बाधा थी और न समाज कोई रुकावट डालता था। परलोक मानने वाले ईश्वर-अनीश्वरवादी ही नहीं, जड़वादी (उच्छेदवादी, देह के अन्त के साथ जीवन का अन्त मानने वाले) तक भी अपने मत का प्रचार करते, राजा-प्रजा में खूब सम्मानित होते थे। यही नहीं पायासी[१] जैसे कोसल के सामन्त राजा को तो अपने जड़वाद को छोड़ने में लोक-लज्जा का भय खाते भी पाते हैं। बुद्ध के समकालीन ६ आचार्यों में मक्खली गोसाल इसी मत के माननेवाले थे। शास्त्रार्थ की प्रथा तो उस समय इतनी जबर्दस्त थी कि पुरुषों की तो बात ही क्या, स्त्रियाँ तक जम्बूद्वीप में अपनी प्रतिभा की विजय-ध्वजा फहराती-सी जम्बू-वृक्ष की शाखा लिये शास्त्रार्थ करने के वास्ते देश में

---

१. दीघनिकाय, पायासिसुत्त।

विचरण किया करती थीं। "त्रिपिटक" में कितने ही ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें बुद्ध से वाद करने की घटनाओं का उल्लेख है।

कितने ही सिंहनाद सूत्र तो इन्हीं वादों से सम्बन्ध रखते हैं। वहीं पहले-पहल हमें निग्रह-स्थान की झलक मिलती है और यद्यपि पीछे बौद्ध नैयायिक (दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि) पंचावयव वाक्य को न मान प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण तीन ही अवयवों को मानते हैं, किन्तु सूत्रपिटक (त्रिपिटक का एक भाग) में हम कम से कम उपनय का साफ प्रयोग देखते हैं। इस प्रकार ईसा-पूर्व छठी शताब्दी में चतुरवयव और निग्रह स्थान से हम बौद्ध न्याय का आरम्भ होते देखते हैं। ईसापूर्व तीसरी शताब्दी का ग्रन्थ 'कथावत्थु' (अभिधर्मपिटक) उसी प्राचीन शैली का एक वाद ग्रन्थ है। उसके वाद "मिलिन्द-प्रश्न" में भी न्याय के कुछ पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख आता है और नीति के नाम से न्याय का भी नाम आता है। 'मिलिन्दप्रश्न' का मूल रूप चाहे सागल (स्यालकोट) के यवन राजा मिनान्दर के समय (ई० पू० दूसरी शताब्दी) में आरम्भ हुआ हो, किन्तु जिस रूप में वह हमें मिलता है, उससे वह ईस्वी पहिली दूसरी शताब्दी में परिवर्द्धित हुआ मालूम होता है। ईस्वी चौथी शताब्दी में चीन-भाषा में उसका अनुवाद होने से वह उससे पीछे नहीं लाया जा सकता।

ईसा की पहली शताब्दी में हम कनिष्क के समकालीन साकेतक (अयोध्या-जन्मा) आर्य सुवर्णाक्षीपुत्र भदन्त अश्वघोष के रूप में एक अद्भुत प्रतिभाशाली बौद्ध विद्वान् को पाते हैं। अश्वघोष के बुद्धचरित और कुछ टीकाओं में तथा कुछ छोटे-छोटे अन्य ग्रन्थ तिब्बती और चीनी भाषा में अनुवादित हुए मिलते हैं। किन्तु उनके सारे ग्रन्थों को अनुवाद होने की बात तो अलग, हमें उनके बहुत से ग्रन्थों का नाम भी नहीं मालूम है। मध्य एशिया की बालुका भूमि से ईस्वी दूसरी शताब्दी का लिखा अश्वघोष का 'सारिपुत्र प्रकरण' नाटक मिला है। 'सौन्दरा-नन्द' काव्य का चीनी या तिब्बती भाषा में अनुवाद नहीं हुआ था, किन्तु सौभाग्य से वह हमें संस्कृत में मिल गया। वादन्याय की टीका में आचार्य शांतरक्षित ने अश्वघोष की एक दूसरी कृति 'राष्ट्रपाल नाटक' का जिक्र किया था। अश्वघोष महान् कवि ही न थे, बल्कि बौद्ध-दर्शन की अपूर्वता ने उन्हें ब्राह्मणधर्म से बौद्ध-धर्म को ओर खींचा था। उनके ग्रन्थों में यद्यपि न्याय पर कोई नहीं मिला है, किन्तु उनमें अन्य सांख्य आदि दर्शनों का नाम ही नहीं, बल्कि विवाद रोपा गया है और उससे अनुमान होता है, कि अश्वघोष ने कोई खंडनात्मक दर्शन-ग्रंथ जरूर लिखा होगा। ईसा की दूसरी शताब्दी के अक्षपाद के न्याय सूत्रों में हम

आत्मा, शब्द प्रमाण, सामान्य, अवयवी आदि पर बौद्धों की ओर से किये आक्षेपों का उत्तर दिया जाते देखते हैं, उससे भी उसके पहले किसी ऐसे बौद्ध आचार्य का होना जरूरी मालूम होता है।

नागार्जुन

बौद्ध न्याय पर सबसे पुराने जो ग्रन्थ मिलते हैं, नागार्जुन के ही हैं। नागार्जुन का जन्म बरार (विदर्भ) में हुआ था, किन्तु वह अधिकतर आन्ध्र देश के धान्यकटक और श्रीपर्वत स्थानों में रहते थे। वह बौद्धों के माध्यमिक दर्शन (शून्यता या सापेक्षतावाद) के आचार्य थे। उनके तीन छोटे-छोटे न्याय निबन्ध अब चीनी भाषा ही में मिलते हैं, जिनमें से एक विग्रहव्यावर्त्तनी तिब्बत से मुझे मिला। वात्स्यायन-भाष्य में कितनी ही जगहों पर हम स्पष्ट बौद्धों के आक्षेपों के खंडन पाते हैं। वात्स्यायन के पूर्व किन बौद्धों ने ये आक्षेप किये होंगे? नागार्जुन के उक्त ग्रन्थ के देखने से स्पष्ट मालूम होता है, कि प्रमाण स्थापना प्रकरण में वात्स्यायन ने जिस ग्रन्थ का खंडन किया है, वह नागार्जुन ही हैं। सिर्फ न्याय या प्रमाण शास्त्र पर विस्तृत ग्रन्थ लिखनेवाले आचार्य दिङ्नाग हैं इसी लिये उन्हें मध्यकालीन भारतीय तर्कशास्त्र का पिता कहा जाता है। जैसे, गंगेशोपाध्याय की तत्त्वचिन्तामणि न्यायशास्त्र में एक नये युग का आरंभ करती है, जो कि अब तक चला जा रहा है, उसी प्रकार दिङ्नाग का "प्रमाणसमुच्चय" एक नया युग आरंभ करता है, जो कि गंगेश के काल (१२०० ई०) तक रहता है।

वसुबन्धु

नागार्जुन के बाद की डेढ़ शताब्दियों में भी बौद्ध नैयायिक हुये होंगे, किन्तु उनकी कृतियों का हमें कोई पता नहीं। अन्त में हम वसुबन्धु (४०० ई०) को "वादविधि" या "वादविधान" लिखते पाते हैं। यह ग्रंथ अब तक न संस्कृत ही में मिला है, और न इसका चीनी या तिब्बती भाषाओं में ही अनुवाद हुआ था। किन्तु इस ग्रंथ का नाम धर्मकीर्ति (६०० ई०) के 'वादन्याय' ग्रन्थ में मिलता है। "वादन्यायः परहितरतैरेष सद्भिः प्रणीतः" पर व्याख्या करते शान्तरक्षित (७४०-८४० ई०) ने लिखा है—"अयं वादन्यायमार्गः सकललोकानिबन्धनबन्धुना **वादविधानादौ** आर्यवसुबन्धुना महाराजपथीकृतः। क्षुण्णश्च तदनुमहत्यां **न्यायपरीक्षायां** कुमतिमतमत्त मातङ्ग-शिरःपीठपाटनपटुभिराचार्यदिङ्नागपादैः।" इस

वाक्य से मालूम होता है, कि वसुबन्धु ने न्यायशास्त्र पर वादविदान नामक ग्रंथ लिखा था। न्यायवार्तिककार[1] उद्योतकर भारद्वाज ने भी कितनी ही जगहों पर इस ग्रन्थ का नामोल्लेख किया है, और कितनी ही जगहों पर बिना नाम दिये भी खण्डन किया है, किन्तु वहाँ व्याख्या करते वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) ने नाम दिया है—

"यद्यपि वादविधौ साध्याभिधानं प्रतिज्ञेति प्रतिज्ञालक्षणमुक्तं, तदप्युभयथा दोषान्न युक्तम्।"

"यद्यपि वादविधानटीकायां साधयतीति शब्दस्य स्वयंपरेण च तुल्यत्वात् स्वयमिति विशेषणम्।"

(न्या० वा० पृ० ११७)

पिछले उदाहरण में 'वादविधान' नाम समानार्थक होने से वह 'वाद विधि' के लिये ही प्रयुक्त हुआ मालूम होता है। बाद विधान की जिस टीका का यहाँ जिक्र आया है, उसके रचयिता शायद दिङ्नाग थे। क्योंकि दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे। और हो सकता है, जिसे शान्तरक्षित ने, ऊपर के जिस उद्धरण में "तदनु महत्यां न्याय परीक्षायां" लिखा है, वह न्याय परीक्षा वसुबन्धु के वादविधान की टीका हो अथवा उसी का कोई पोषक ग्रन्थ हो।

न्यायवार्तिक के निम्न उद्धरणों में यद्यपि वाद विधि का नाम नहीं आया है, किन्तु वे वसुबन्धु के इसी प्रसिद्ध ग्रन्थ के मालूम होते हैं।

"अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षमिति।"

(पृ० ४०)

इस पर टीका करते हुए वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—

'तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थ्य वासुबन्धवं तत्प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितुमुपन्यस्यति। अपरे पुनरिति।"

"एतेन साध्यत्वेनेप्सितः पक्ष इति प्रत्युक्तम्।"

(न्याय वा० ११६)

इस पर वाचस्पति कहते हैं।

"अत्रापि च वसुबन्धुलक्षणे विरुद्धार्थ निराकृतग्रहणं न कर्त्तव्यम्।"

(ता० टी० पृ० २७३)

---

१. चौखम्भा संस्कृतसीरीज, बनारस १९१६ ई०।

एक जगह उद्योतकर ने वसुबन्धु के वादलक्षण को इस प्रकार उद्धृत किया है—

"अपरे तु स्वपरपक्षयोः सिद्धयसिद्धयर्थं वचनं वाद इति वादलक्षणं वर्णयन्ति।"

(न्या० वा० १५०)

यहाँ पर टीका[1] करते वाचस्पति ने पूर्वपक्षी का नाम वसुबन्धु दिया है—

"तदेवं स्वाभिमतवादलक्षणं व्याख्याय वासुबन्धवं लक्षणं दूषयितुमुपन्यस्यति अपरे त्विति।"

(ता० टी० ३१७)

इन उद्धरणों से यह भी मालूम होता है कि वसुबन्धु ने अपने ग्रन्थ में प्रत्यक्ष आदि के लक्षण भी लिखे थे और वह धर्मकीर्ति के वादन्याय की भाँति सिर्फ निग्रह स्थान ही पर नहीं था।

वसुबन्धु के एक ग्रन्थ तर्कशास्त्र को चीनी भाषा में परमार्थ (५५० ई०) ने अनुवाद किया था। तर्कशास्त्र ग्रन्थ का नाम न होकर, विषय मालूम होता है।

वसुबन्धु के समय के बारे में बहुत मतभेद हैं, कितने ही पण्डित उन्हें तीसरी शताब्दी में ले जाना चाहते हैं और जापान के विद्वान् डा० तकाकुसू ५०० ई० में लाना चाहते हैं। डा० तकाकुसू ने वसुबन्धु का समय निर्धारण करने में बहुत परिश्रम किया है, किन्तु उनके समय के मानने में बहुत-सी कठिनाइयाँ दीख पड़ती हैं। (१) वसुबन्धु के ज्येष्ठ सहोदर असंग के ग्रन्थों का धर्म-रक्षा ने चीनी भाषा में अनुवाद किया था। धर्मरक्षा ४०० ई० में चीन में थे। (२) वसुबन्धु के शिष्य दिङ्नाग का नाम कालिदास ने "मेघदूत" के प्रसिद्ध श्लोक 'दिङ्नागानां पथि परिहरन्' में किया है। वहाँ 'दिङ्नागानां' से बौद्ध विद्वान् दिङ्नाग से ही अभिप्राय है, इसकी पुष्टि मल्लिनाथ की टीका ही नहीं करती; बल्कि प्राचीन टीकाकार दक्षिणावर्त्तनाथ भी करते हैं। कुमारगुप्त (४१५-५५ ई०) और स्कन्दगुप्त (४५५-६७ ई०) के समकालीन कालिदास से पूर्व दिङ्-नाग का होना मानने पर वसुबन्धु का समय ४०० ई० के पास हो सकता है।

(३) चीनी भाषा में अनुवादित परमार्थ-कृत वसुबन्धु की जीवनी में बसु-बन्धु को अयोध्या के राजा का गुरु कहा है। उधर वसुबन्धु के नाम से उद्धृत

---

१. न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका, "चौखम्भा संस्कृत सीरीज", बाराणसी (१९२५ ई०)।

एक श्लोक "सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयः चन्द्रप्रकाशो युवा" को मिलाने पर जान पड़ता है कि वसुबन्धु चन्द्रगुप्त द्वितीय (३८०-४१२) के समकालीन थे।

(४) ३१९ ई० से ४९५ ई० तक का गुप्तकाल उत्तरी भारत में बहुत ही महत्त्वपूर्ण समय है। इस समय की पत्थर की मूर्तियाँ भारतीय मूर्ति-काल के अत्यन्त सुन्दर नमूने समझी जाती हैं। अजन्ता और वाग् के कितने ही इस काल के चित्र उस समय की चित्रकला को उन्नति के शिखर पर पहुँचा प्रदर्शित करते हैं। समुद्रगुप्त (३४०-३७५ ई०) के प्रयाग वाले अशोक स्तम्भ पर खुदे श्लोक संगीत और काव्य के कौशल की सूचना ही नहीं देते हैं, बल्कि कविकुल-गुरु कालिदास की कविताएँ बतलाती हैं कि वह संस्कृत-कविता का मध्याह्न काल था। समुद्रगुप्त (३४०-७५ ई०), चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३८०-४१५ ई०), कुमारगुप्त (४१५-५५ ई०) और स्कन्दगुप्त (४५५-६७ ई०) जैसे पराक्रम शासकों को लगातार चार पीढ़ियों तक पैदा करते रहना भी उस काल की खासी महत्ता ही को प्रदर्शित नहीं करता, बल्कि यह भी बतलाता है, कि उस काल में राष्ट्रीय प्रगति सर्वतोमुखीन थी। ऐसे समय में दर्शन क्षेत्र में भी कितनी ही नई विभूतियाँ जरूर हुई होंगी और वसुबन्धु और दिङ्नाग को हम इन्हीं विभूतियों में समझते हैं। इस तरह से भी वसुबन्धु का समय ४०० ई० ठीक जँचता है।

दिङ्नाग

दिङ्नाग (४२५ ई०) वसुबन्धु के शिष्य थे, यह तिब्बत की परम्परा से मालूम होता है। और तिब्बत में इस सम्बन्ध की यह परम्परायें आठवीं शताब्दी में भारत से गई थीं, इसलिये इन्हें भारतीय परम्परा ही कहना चाहिए। यद्यपि चीन की परम्परा में दिङ्नाग को वसुबन्धु का शिष्य होना नहीं लिखा है, तो भी वहाँ इसके विरुद्ध भी कुछ नहीं पाया जाता। दिङ्नाग का काल वसुबन्धु और कालिदास के बीच में हो सकता है, और इस प्रकार उन्हें ४२५ ई० के आस-पास माना जा सकता है। दिङ्नाग का मुख्य ग्रन्थ प्रमाण समुच्चय है, जो सिर्फ तिब्बती भाषा ही में मिलता है। उसी भाषा में प्रमाण समुच्चय पर महावैयाकरणकाशिकाविवरणपञ्चिका (न्यास) के कर्ता जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०) की टीका भी अनूदित मिलती है। दिङ्नाग भारत के अद्भुत प्रतिभाशाली नैयायिकों में थे, इसमें तो सन्देह ही नहीं।

चीनी परम्परा से मालूम होता है, कि शङ्कर स्वामी दिङ्नाग के शिष्य

थे। इसकी पुष्टि मनोरथ नन्दी की प्रमाणवार्त्तिक वृत्ति की टिप्पणी से होती है। तिब्बती परम्परा हमें बतलाती है कि दिङ्नाग के एक शिष्य ईश्वरसेन थे, जो धर्मकीर्ति के गुरु थे किन्तु यहाँ तिब्बती परम्परा में कुछ भूल मालूम होती है, जैसा कि हम आगे बतलायेंगे। शङ्कर स्वामी का न्याय पर एक ग्रन्थ 'न्यायप्रवेश' मिलता है, तिब्बती परम्परा ने ईश्वरसेन को धर्मकीर्ति (६०० ई०) का न्याय में गुरु माना है, और इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं मालूम होता किन्तु वहीं ईश्वरसेन को दिङ्नाग का शिष्य कहा गया है। आगे हम बतलायेंगे कि धर्मकीर्ति ६२५ ई० के आस-पास थे। ऐसी हालत में धर्मकीर्ति और दिङ्-नाग के बीच के दो सौ वर्षों में सिर्फ एक व्यक्ति नहीं हो सकता। अक्सर पर-म्परा में अप्रधान व्यक्ति छोड़ दिये जाते हैं। मालूम होता है यहाँ भी दिङ्नाग और ईश्वरसेन के बीच की परम्परा छूट गयी है। ईश्वरसेन का कोई ग्रन्थ किसी भाषा में नहीं मिलता, किन्तु उनकी कुछ बातों का खण्डन धर्मकीर्ति ने प्रमाण वार्तिक के प्रथम परिच्छेद में किया है। दुर्वेक मिश्र (११०० ई०) ने भी अपने हेतु विन्दु की धर्माकरदत्तीय टीका पर व्याख्या करते हुए ईश्वरसेन के मत को उद्धृत किया है, इससे मालूम होता है कि ईश्वरसेन ने कोई ग्रन्थ लिखा था।

तिब्बती परम्परा बतलाती है कि धर्मकीर्ति ने जब ईश्वरसेन के पास दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय को पढ़ा तब कितने ही स्थल उनके गुरु को भी स्पष्ट न लगते थे। इसके बाद धर्मकीर्ति ने स्वयं दूसरी बार उसे अपने आप पढ़ा। जब उन्होंने अपने अर्थ को अपने गुरु को सुनाया तो उन्होंने शाबाशी दी, और प्रमाणसमुच्चय के अर्थ समझने में धर्मकीर्ति को उन्होंने दिङ्नाग के बराबर बतलाया। फिर धर्मकीर्ति ने तीसरी बार पढ़ा और उन्हें उसमें त्रुटियाँ मालूम हुईं। इसीलिये धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के 'प्रमाणसमुच्चय' पर टीका लिखने की अपेक्षा वार्त्तिक (प्रमाणवार्त्तिक) लिखा जिसमें खंडन करने में स्वतन्त्रता रहे।

धर्मकीर्ति

धर्मकीर्ति का काल (६०० ई०)—चीनी पर्यटक इचिङ ने धर्मकीर्ति का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है। इसलिये धर्मकीर्ति ६७९ ई० से पहले हुए। किन्तु, युन्-च्वेङ् ने धर्मकीर्ति का नाम नहीं लिया है, इसलिए ऐतिहासिकों का अनुमान है कि ६३५ ई० में जब युन्-च्वेङ नालंदा पहुँचे, धर्मकीर्ति की आयु कम रही होगी, इसलिये धर्मकीर्ति का काल ३३५-५० ई० माना है। लेकिन

युन्-च्वेङ् के मत से धर्मकीर्ति को पीछे लाना ठीक नहीं जँचता। हमारी समझ में धर्मकीर्ति युन्-च्वेङ से पहले ही नालंदा में थे, क्योंकि—(१) धर्मकीर्ति नालंदा के प्रधान आचार्य धर्मपाल के शिष्य थे। युन्-च्वेङ् के समय (६३३ ई०) धर्मपाल के शिष्य शीलभद्र नालंदा के प्रधान आचार्य थे जिनकी आयु उस समय १०६ वर्ष की थी। ऐसी अवस्था में धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति ६३५ ई० में बच्चे नहीं हो सकते थे। धर्मकीर्ति सुदूर-दक्षिण तिरुमलय (द्रविड़ देश) के प्रतिभाशाली ब्राह्मण थे। ब्राह्मण शास्त्रों को उन्होंने खूब पढ़ा था, और पीछे बौद्ध सिद्धान्तों को अपनी स्वतन्त्र बुद्धि के अधिक अनुकूल पा वह बौद्ध हुए थे।

इस प्रकार नालंदा के प्रधान आचार्य के शिष्य होते समय वह बच्चे नहीं हो सकते थे। नालंदा के विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने के लिये द्वारपण्डितों की कितनी कठिन परीक्षा से विद्यार्थियों को गुजरना पड़ता था, यह हमें मालूम है; इससे भी धर्मकीर्ति काफी पढ़े-लिखे होने पर ही प्रवेश के अधिकारी हो सकते थे। शीलभद्र के प्रधान आचार्य होने से पूर्व ही धर्मकीर्ति विद्या समाप्त कर चुके थे, अन्यथा छोटे होने पर उन्हें शीलभद्र के पास भी पढ़ना पड़ता। और वैसा कोई उल्लेख नहीं है। इन सब बातों पर विचार करने से धर्मकीर्ति की आयु कितनी भी कम मानते युन्-च्वेङ् के समय हम उसे ३०, ३५ वर्ष से कम नहीं मान सकते। फिर धर्मकीर्ति की प्रतिभा बौद्ध दार्शनिकों में अद्वितीय मानी जाती है, बल्कि उनके प्रतिद्वंद्वी ब्राह्मण नैयायिक भी उनकी प्रतिभा की दाद देते हैं। ऐसा अद्भुत् प्रतिभाशाली पुरुष २५ वर्ष की उम्र में भी नालंदा में बिना ख्याति पाये नहीं रह सकता। युन्-च्वेङ् की चुप्पी का कारण हो सकता है (१) युन्-च्वेङ् के नालंदा निवास के समय से पूर्व ही धर्मकीर्ति का देहान्त हो चुका था और न्याय पर अधिक अनुराग न होने के कारण धर्मकीर्ति की कृतियों और व्यक्तित्व के प्रति उतना सम्मान भाव न होने से उन्हीं ने उनका जिक्र नहीं किया। युन्-च्वेङ् न्याय के पण्डित न थे; यह तो इसी से मालूम होता है कि उन्होंने दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय जैसे प्रौढ़ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का चीनी अनुवाद न कर असंग, वसुबंधु और शंकरस्वामी के तीन छोटे-छोटे न्याय निबन्धों का ही अनुवाद कर संतोष कर लिया।

(२) यह कहा जा सकता है कि युन्-च्वेङ् की जीवनी के सम्पादक उनके शिष्यों ने जान-बूझकर धर्मकीर्ति का जिक्र नहीं आने दिया है। युन्-च्वेङ् विद्वान् थे, इसमें सन्देह नहीं; किन्तु कितनी ही जगहों पर जीवनी-लेखकों ने बहुत अतिशयोक्ति की है। उदाहरणार्थ, यदि उड़ीसा में कोई अबौद्ध पण्डित बौद्धों को

शास्त्रार्थ करने के लिये ललकारता है, और उसका सन्देश नालन्दा आता है, तो नालन्दा युन्-च्वेङ् को अपना प्रतिनिधि चुनकर भेजता है। आजकल के पण्डितों के शास्त्रार्थ की भाँति सातवीं सदी में भी शास्त्रार्थ संस्कृत में हुआ करते थे। और आजकल की भाँति उस समय भी वादी-प्रतिवादी खूब कठिन दार्शनिक संस्कृत का प्रयोग करते थे। संस्कृत भाषा का व्याकरण ऐसे भी जटिल है और फिर उक्त प्रकार की संस्कृत में शास्त्रार्थ करना आसान काम न था। युन्-च्वेङ् प्रौढ़ अवस्था में भारत आये थे। पढ़ते-पढ़ते दार्शनिक संस्कृत का समझना इनके लिये आसान हो सकता था किन्तु इतनी दक्षता प्राप्त करना संभव न था। इस जगह पर जरूर अत्युक्ति से काम लिया गया है। ऐसी हालत में यदि धर्मकीर्ति युन्-च्वेङ् के समय मौजूद थे तो उन्हें चित्र पर चित्रित करना हानिकारक समझा गया। और इसलिये उन्हें जान-बूझकर वहाँ आने नहीं दिया गया। हमारी समझ में तो धर्मकीर्ति युन्-च्वेङ् के नालन्दा पहुँचने से पूर्व ही गुजर चुके थे।

धर्मकीर्ति की शिष्य-परम्परा तिब्बती ग्रन्थों में इस प्रकार मिलती है—

धर्मकीर्ति की शिष्य-परम्परा

१ धर्मकीर्ति (६०० ई०), २ देवेन्द्रमति (६५० ई०), ३ शाक्यमति (६७५ ई०), ४ प्रज्ञाकरगुप्त (७०० ई०), ५ धर्मोत्तर (७२५ ई०), ६ यमारि (७५० ई०), ७ विनीतदेव (७७५ ई०), ८ शंकरानन्द (८०० ई०), ९ बंकु पण्डित (११५० ई०), १० शाक्य श्रीभद्र (११२७-१२२५ ई०)। शाक्य श्रीभद्र विक्रम-शिला बिहार (भागलपुर) के अन्तिम प्रधान आचार्य थे। विक्रम-शिला के तुर्कों द्वारा जलाये जाने पर १२०३ ई० में वह विभूतिचन्द्र (जगत्तला बंगाल) दानशील, संघश्री (नेपाल) आदि बौद्ध पंडितों के साथ तिब्बत गये। शाक्य श्रीभद्र के भोट-वासी शिष्य स-स्क्य-पण्-छेन् आनन्दध्वज अपने ग्रन्थ में अपने गुरु की परम्परा देते हैं, जिसमें बंकु पण्डित को शंकरानन्द का शिष्य बतलाया गया है। यहाँ भी जान पड़ता है, बीच के कितने ही अप्रधान व्यक्तियों को छोड़ दिया गया है। शाक्य श्रीभद्र का काल (जन्म ११२७ ई०, मृत्यु १२२५ ई०) ही में निश्चित है।

इनके अतिरिक्त जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०), धर्माकरदत्त (७०० ई०), कल्याण-रक्षित (७०० ई०), रविगुप्त (७२५ ई०), अर्चट (८२५ ई०), शान्तरक्षित (७४०-८४० ई०), कमलशील (८५० ई०), जिनमित्र (८५० ई०), जयानन्त

(९५० ई०), कर्णकगोमी, मनोरथनन्दी, जितारि (१००० ई०), रत्नकीर्त्ति (१००० ई०) आदि कितने ही और विद्वानों ने न्याय पर अपने ग्रन्थ लिखे हैं। जिनेन्द्रबुद्धि वही हैं, जिन्होंने काशिकाविवरणपंजिका या न्यास को लिखा है। शान्तरक्षित के तत्वसंग्रह (संस्कृतमूल) के प्रकाशित हो जाने से वह और उनके शिष्य कमलशील (तत्व संग्रह-पंजिकाकार) विद्वानों के सामने आ चुके हैं।

---

(१२)

मागधी हिन्दी का विकास

भाषा भाव का शरीर है। जिस समय एक ही देश में अनेक भाषाओं का राज्य स्थापित नहीं था, लोग अपनी उसी एक भाषा में अपने हृदय के साधारण या कोमल भावों (काव्य) को प्रकट किया करते थे। चार सहस्र वर्ष पूर्व के हमारे कितने ही पूर्वजों के भाव हमें उन्हीं की भाषा में, वेद के रूप में मिलते हैं। "छान्दस्" या वेद की भाषा उनकी भाषा थी।

नदी के प्रवाह की तरह भाषा का प्रवाह गतिशील है। जितनी ही भाषा बदलती गयी, उतनी ही हमारे परवर्ती पूर्वजों को, अपने पूर्वजों की भाषा और कृतियों में अधिक लोकोत्तर श्रद्धा बढ़ती गयी (और आज भी वह अपने विराट् आकार में हमारे संस्कृत-प्रेम के रूप में मौजूद है)। समय बीतने के साथ वह इस फिक्र में पड़े कि, कैसे हम उसको सुरक्षित और सजीव रखें। इसके लिये उन्होंने (वेद) मन्त्रों को जहाँ संहिता, पद, जटा, घन आदि नाना क्रम से, उच्चारण और कण्ठस्थ करके, सुरक्षित किया; वहाँ उस भाषा की भीतरी बनावट के लिये अपनी-अपनी शाखा के "प्रातिशाख्य" (व्याकरण) बनाये। जब बोल-चाल की भाषा में बहुत अन्तर हो चुका था, तब ईसा पूर्व छठी शताब्दी में, गौतम बुद्ध उत्पन्न हुए। कोई "भाषा" पर विशेष दया करके नहीं—बल्कि वही प्रचलित और उपयुक्त होने से उन्होंने लोक-भाषा में लोगों को धर्मोपदश किया। हाँ, जब मगध, कोसल, कुरु, अवन्ती, गन्धार के शिष्य, बुद्ध के दिये उपदेशों (सूक्तों = सुत्तों) का अपनी-अपनी भाषा (= निरुक्ति) में पाठ करने लगे, तो कुछ शिष्यों को सूक्तों की भाषा का फेर-बदल खटकने लगा और उन्होंने चाहा कि, उसे हजार वर्ष की पुरानी भाषा में करके सुरक्षित कर दिया जाय। बुद्ध ने उसे मना ही नहीं किया; बल्कि ऐसा करने को हल्के दण्ड से दण्डनीय एक अपराध करार दिया। जिस प्रकार नित्य बदलता सिक्का और तोलमान आदमी को खटकता तथा व्यवहार में परेशानी का कारण होता है, वैसे ही बुद्ध के निर्वाण की तीन-चार शताब्दियों बाद, यह आये दिन की अदल-बदल धर्मधरों

को अरुचिकर मालूम होने लगी। तब उनमें से कुछ ने तो लकीर का फकीर बन, पुरानी भाषा को (जिसे वह समझते थे कि, वह उसी रूप में बुद्ध के मुख से निकली थी) ही अपनाये रखा और आगे से अपनी शक्ति भर फेर-बदल न होने देने के लिये बाँध बाँधा। दूसरों ने उसे मृत—किन्तु अधिक स्थायी संस्कृत में—कर दिया। तथापि इस भाषा में पहली भाषा की कितनी ही बातें रख छोड़ीं। तीसरे, कुछ लोग और कितनी ही शताब्दियों तक धक्के खाकर, कुछ और फेर-बदल हो जाने पर परवर्ती किसी भाषा में उसे सुरक्षित करने पर मजबूर हुए। पहले वाले धर्मधर सिंहल के स्थविरवादी हैं, जो मागधी की सबसे बड़ी विशेषताएँ—"स" की जगह "श", "न" की जगह "ण" और "र" की जगह "ल" को सहस्राब्दियों पहले छोड़ चुके हैं, तो भी कहते हैं, "हमारे धर्म-ग्रन्थ मूल मागधी भाषा में हैं।" हाँ, यदि उच्चारण की विशेषता को कोई नगण्य समझे, तो उनका कथन बहुत कुछ सच निकलेगा। सर्वास्तिवाद, महासांघिक आदि ने अपने धर्म-ग्रन्थ संस्कृत में कर दिये तथा महीशासक आदि कुछ निकायों ने प्राकृत में।

शताब्दियों से ब्राह्मण, कोसी की भाँति, मर्यादा तोड़ भागनेवाली संस्कृत-भाषा को, व्याकरण के नियमों से बाँध-बाँधकर स्थायी करते रहे; परन्तु उन्हें पूरी सफलता न मिली। अन्त में जनपदों की सीमाएँ तोड़कर साम्राज्य स्थापित करने वाले युग के प्रतापी शासक नन्दों के काल में पाणिनि[१] वह बाँध बाँधने में सफल हुए, जिसे तोड़ने की शक्ति संस्कृत में नहीं रही। तो भी इस बाँध से संस्कृत के प्रचार में अधिक फल तब तक नहीं हुआ, जब तक कि, ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के मध्य में शुंगों के गुरु गोनर्दीय[२] पतञ्जलि अपनी कलम, ज्ञान और जबान को शुंगों[३] के प्रभुत्व के साथ मिलाकर इसकी वकालत

---

१. मंजुश्री मूलकल्प ने पाणिनि को नन्द के समय में माना है।
देखिये ५३ पटल, पृष्ठ ६१२—
"नन्दोऽपि नृपतिः श्रीमान् पूर्वकर्मापराधतः।
विरागयामास मन्त्रीणां नगरे पाटलाह्वये॥
.... ..आयुस्तस्य च वै राज्ञः षट् षष्टीवर्षांतथाः।
........तस्याप्यन्यतमः सख्यः पाणिनिर्नाम मानवः॥"

२. मालवा में, विदिशा और उज्जैन के बीच, भोपाल के पास में गोनर्द कोई स्थान था।

३. सबसे पुराने संस्कृत शिलालेख शुंगों के समय में मिलते हैं।

में न खड़े हो गये। शुंगों के बाद गति कभी कुछ मन्द और कभी कुछ तेज़ होती रही; किन्तु गुप्तों के समय से पाणिनि की संस्कृत को वह स्थान प्राप्त हो गया, जो उसे कभी न मिला था (वह स्थान, ईसा की बारहवीं शताब्दी तक वैसे ही रहकर, आज भी हमारे सामने कुछ कम विशाल रूप में नहीं दिखायी पड़ता है)।

यद्यपि शुंग काल में संस्कृत के प्रबल पक्षपाती उठे। और उन्होंने तथा उनके परवर्ती लोगों ने संस्कृत के पक्ष में ऐसा वायुमण्डल तैयार कर दिया कि, कीर्त्ति, मान तथा शिक्षित जनता तक पहुँचने की इच्छा रखने वाले विद्वान् साहित्य में संस्कृत को ही व्यवहृत करने पर मजबूर हो गये; तथापि बोलचाल की भाषाओं[१] ने चुपचाप अपने अधिकार को अपहृत नहीं होने दिया। किन्तु जहाँ संस्कृत ने एक स्थायी—अचल—रूप पा लिया था, वहाँ यह बेचारी प्राकृत जब तक लड़-भिड़कर अपने लिये कुछ स्थान बनाती थीं, तब तक वह स्वयं मृत्यु का ग्रास हो, मृतभाषा बन, अपने सबसे प्रबल शस्त्र—बोल-चाल की भाषा होने को—खो बैठतीं। उन्हें इस जद्दो-जिहद का पुरस्कार यही मिलता था कि, कभी-कभी, लोग उनमें भी कुछ लिख दिया करते थे।

पाणिनि के समय में संस्कृत स्वाभाविक रूप से बोल-चाल की भाषा न थी, तो भी उस समय की बोल-चाल की भाषा, उससे इतनी समीप थी कि, कुछ दर्जन नियमों के साथ उसे पाणिनीय संस्कृत में बदला जा सकता था। पाणिनि के "भाषा" शब्द से मतलब है इसी उच्चारणादि के परिवर्तन से बनी कृत्रिम या "संस्कृत" भाषा से। उदीची (पंजाब), प्राची (उत्तरप्रदेश, बिहार) तथा व्यास-नदी के उत्तर-दक्षिण किनारों तक के रूप और स्वर तक के भेदों को दिखलाने से लोग सिर्फ यही नहीं कह उठते हैं—"महतीयं सूक्ष्मैक्षिकाचार्यस्य" (काशिका ४।२।७४); बल्कि साथ ही यह भी कहते हैं कि, पाणिनि के समय वह (पाणिनीय) संस्कृत बोली जाती थी; और, इसी लिये वह उनके काल को, नन्दों के समय में न रखकर, बहुत पूर्व खींचना चाहते हैं। पाणिनि ने, अपने व्याकरण के लिये, दो स्रोतों से मसाला जमा किया। (क) मन्त्र, ब्राह्मण आदि छान्दस् वाङमय, (ख) कल्प, शिशुक्रन्द, यमसभ, अग्नि काश्यप आदि के वृत्तों को लेकर बने ग्रन्थ आदि से। इनमें भी शिशुक्रन्दीय आदि ग्रन्थ संस्कृत में थे या

१. गुणाढ्य की बृहत्कथा, हाल की गाथासप्तशती आदि इसके उदाहरण हैं।

प्राकृत में, इसमें सन्देह ही समझना चाहिये। दूसरा स्रोत था, उदीची और प्राची की उस समय की बोल-चाल की "भाषा" का। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि, उन्होंने अपने समय तक के इस विषय में हुए प्रयत्नों (अपिशलि, शाकटायन आदि के व्याकरणों) से भी फायदा उठाया।

पाणिनीय संस्कृत का प्रादुर्भाव यद्यपि ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में हुआ; तथापि पतंजलि के समय अर्थात् ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के मध्य तक उसका बहुत कम प्रचार रहा। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से ईसा की तीसरी शताब्दी तक वह क्रमशः अपने क्षेत्र और प्रभाव को बढ़ाती गयी; और, चौथी शताब्दी से उसका एकछत्र राज्य स्थापित हुआ। प्राकृत और अपभ्रंश के समय तक— जब तक कि, संस्कृत और भाषा के क्रिया पद और प्रत्यय भी बहुत थोड़े ही फर्क से संस्कृत किये जा सकते थे, संस्कृत भाषा में, बहुत ही प्राञ्जल, सर्व-भाव सम्पन्न, प्रसादयुक्त ग्रन्थ लिखे जाते थे। जब "देशीय" (आधुनिक भाषाओं का प्राचीनतम रूप) का प्रादुर्भाव हुआ और संस्कृत से अधिक फर्क पड़ गया, तब जीवित स्रोत से वञ्चित हो, संस्कृत-ग्रन्थ, भाषा की दृष्टि से, बिलकुल ही कृत्रिम तथा शब्द-दारिद्रय से पूर्ण बनने लगे।

यह तो हुआ देश-काल के भेद से न प्रभावित होनेवाली कृत्रिम या "संस्कृत" भाषा के बारे में। अब जीवित भाषाओं के स्रोत को लें। शताब्दियों के परिवर्तन की छाप रखते हुए भी वेद, ब्राह्मण आदि वैदिक साहित्य की भाषा को पाणिनि ने "छान्दस्" कहा है। वह अपने समय में एक जीवित भाषा थी। उस समय उसका क्षेत्र अधिकतर गङ्गा और सिन्धु की उपत्यकाओं तक संकुचित तथा बोलनेवालों की संख्या कम होने के कारण देश-भेद से भी भाषा भेद कम हुआ था। पाणिनि के समय में, और छोड़, सिर्फ प्राची (उत्तरप्रदेश, बिहार) ही, पांचाली, कोसली और मागधी के तीन क्षेत्रों में विभक्त मालूम होती है। विन्ध्य-हिमालय को सब की सामान्य सीमा मानकर, उनमें से, पाञ्चाली, घग्घर (शरावती=सरस्वती) से रामगङ्गा तक, कोसली रामगङ्गा से मही (गण्डक) तक एवं मागधी गण्डक से कोसी तथा कर्मनाशा से कलिंग तक फैली हुई थी। इनमें पांचाली तथा उदीची (पंजाब) की भाषाओं में अधिक समानता थी; इसलिये शक्तिशाली राज्यों का केन्द्र उदीची (सिन्धु-तट) से उठकर प्राची में पञ्चाल तथा कोसल में चला आया; तो भी पाञ्चाली ने स्थानीय भाषाओं में विशेष भेद न होने के कारण कोई विशेष स्थान न प्राप्त किया। उस समय तक तक्षशिला का विद्या-केन्द्र बना रहना भी इसी

का साधक और द्योतक है। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में जब मगध का विशाल साम्राज्य स्थापित हुआ और लक्ष्मी के साथ सरस्वती ने भी मगध में पधारकर उसे शक्ति और सभ्यता का केन्द्र बना दिया, तब अवस्था बिलकुल बदल गयी। इसमें मगध में उत्पन्न बौद्ध, जैन जैसे महान् दार्शनिक सम्प्रदाय (जो कि, सिन्धु की ओर तक फैलते जा रहे थे) और भी सहायक हुए। फलतः मगध, सभ्यता का केन्द्र बनने के साथ, अपनी भाषा को सारे भारत में सम्मानित कराने में सफल हुआ। उपयुक्त प्रकार से सम्राटों की भाषा होने से मागधी ने सारे भारत में यहाँ तक सम्मान पाया कि, पीछे नाटककारों को, राजपुत्रों तथा दूसरे कितने ही उच्च पात्रों की भाषा मागधी रखने का निर्देश करना पड़ा। मागधी का प्राचीनतम उपलब्ध रूप उड़ीसा, बिहार और उत्तरप्रदेश में मिलनेवाले सम्राट् अशोक के शिलालेख हैं। पाली (दक्षिणी बौद्ध-त्रिपिटक की भाषा) ने यदि "श" का बायकाट तथा "र" के स्थान पर भरसक "ल" नहीं आने देने की कसम न खायी होती, तो शायद उसे ही मागधी का प्राचीनतम रूप होने का सौभाग्य प्राप्त होता; किन्तु सिंहल के पुराने गुजराती (सौरसेनी-महाराष्ट्री भाषी) शताब्दियों तक मागधी के उच्चारण को कैसे बनाये रखते? तो भी हम पाली के पुरातन सुत्तों में "ल", "श" की भरमार कर उसे मागधी के पास तक पहुँचा सकते हैं। उसके बाद दूसरी मागधी नाटकों की मागधी है। हाँ, जैन मूल-ग्रन्थों की भाषा भी मागधी है। किन्तु शुंगों के समय से ही जैन-धर्म का केन्द्र पूर्व से पश्चिम की ओर हटने लगा; और उज्जैन आदि की सैर करते ईसा की चौथी-पाँचवीं शताब्दियों में गुजरात पहुँच गया था, जहाँ पाँचवीं शताब्दी में (पाली-त्रिपिटक के लेख-बद्ध होने से पाँच सौ वर्ष बाद) जैन-ग्रन्थ लेखबद्ध हुए। जैन मागधी में सौरसेनी, महाराष्ट्री की पुट पड़ जाने से वह आधी ही मागधी रह गयी थी; इसीलिये अर्द्धमागधी भी उसे कहा गया। लेकिन अशोक के बाद (ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से) ईसा की पहली शताब्दी तक की मागधी भाषा का रूप, रामगढ़ पहाड़ की गुहाएं (सरगुजा-राज्य) और बोध-गया आदि के कुछ थोड़े से और अधिकांश आधे दर्जन शब्दोंवाले लेखों को छोड़कर और नहीं मिलता। ईसा की दूसरी शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी तक की मागधी हमें नाटकों में मिलती है। पाँचवीं से अपभ्रंश मागधी का जमाना शुरू होता है। लेकिन महाराष्ट्री-अपभ्रंश की[1] भाँति मागधी-अपभ्रंश में कोई

---

१. अपभ्रंश प्राकृत और प्राचीन "देशीय" भाषा के बीच की भाषा के

ग्रन्थ नहीं मिलता। संस्कृत का बोलबाला होने से शिलालेखों-ताम्रलेखों से तो आशा ही नहीं। अपभ्रंश का समय पाँचवीं से सातवीं सदी तक था। आठवीं शताब्दी में 'देशीय' या हिन्दी का समय शुरू होता है। यहाँ स्मरण रहे कि, प्राकृत, अपभ्रंश, देशीय, सभी का एक-एक सन्धि-काल है, जिसमें पूर्व और पर की भाषाओं का सम्मिश्रण रहा है। प्राचीन देशीय-मागधी या "मगही" आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक रही। उसके बाद सोलहवीं शताब्दी तक मध्यकालीन मगही और तबसे आधुनिक मगही हुई। इस प्रकार मागधी के निम्न रूप होते हैं—

१ अशोक से पूर्व की मागधी ई० पू० ६००–३०० अनुपलभ्य
२ अशोक की मागधी ई० पू० ३००–२०० सुलभ
३ अशोक से पीछे की मागधी ई० पू० २००–२०० ई० दुर्लभ
४ प्राकृत मागधी ई० २००–५०० ई० सुलभ
५ अपभ्रंश मागधी ई० ५००–७०० ई० अनुपलभ्य
६ मगही प्राचीन ई० ८००–१२०० ई० सुलभ
७ मगही मध्यकालीन ई० १२००–१६०० ई० दुर्लभ
८ मगही आधुनिक ई० १६०० से, जीवित

पहले बतलाया जा चुका है कि, चौथी शताब्दी में ही मगही का अपना क्षेत्र गण्डक से कोसी तथा कर्मनाशा से कलिंग तक था। समय पाकर फिर भाषा में परिवर्तन होता गया। मागधी भाषा-भाषी आस-पास के प्रदेशों में जाकर बस गये। इस प्रकार आधुनिक उड़िया, बँगला, आसामी, मैथिली और मगही प्राचीन मागधी के ही कालान्तर में विकृत रूप हैं। बनारसी भाषा को भोजपुरी और कोशली या अवधी की सीमान्त भाषा समझना चाहिये; तथापि प्राकृत और अपभ्रंश के समय इनका भेद बहुत कम था। प्राचीन मगही काल में वह बढ़ने लगा। अपभ्रंश तक की मगही को पूरी तरह से, तथा प्राचीन मगही को किसी अंश में, उक्त सभी भाषा-भाषी अपना कहने के अधिकारी होते हैं; तो भी मागधी न कह, उसे आसामी, बंगाली[1] या उड़िया का नाम देना, उतना ही

लिये यहाँ प्रयोग किया गया है। पतञ्जलि ने तो आजकल "प्राकृत" कही जानेवाली भाषाओं से भी पूर्व की भाषा के लिये अपभ्रंश का प्रयोग किया है।

१. प्रादेशिक पक्षपात का उदाहरण कितने ही बंगाली इतिहास-अन्वेषकों

अक्षम्य होगा, जितना चासर, शेक्सपियर, मिल्टन तथा उनकी भाषा को अमेरिकन या आस्ट्रेलियन कहना।

ऊपर जिस मागधी को हमने "मगही प्राचीन" कहकर उसका काल आठवीं से बारहवीं शताब्दी बतलाया है, उसी में हिन्दी की सबसे प्राचीन कविता है। लेकिन, चूँकि उसे बंगाली विद्वानों ने बँगला साबित किया है और अभी तक हिन्दी वाले उस पर चुप थे; इसलिए उसके हिन्दी होने के बारे में कुछ कहना आवश्यक है। पहले तो यह सवाल होता है कि, हिन्दीवालों ने इस मागधी को बँगला बनाये जाते वक्त क्यों नहीं आपत्ति की? यदि इसमें उपेक्षा मात्र ही होती, तो और बात थी; लेकिन यहाँ हिन्दीवालों की यह उपेक्षा एक बड़े कारण पर निर्भर है। वह कारण हमें विद्यापति की बात से भी मालूम होता है। बात यह है कि, हिन्दी भाषा से लोग सिर्फ गद्य की भाषा खड़ीबोली और पद्य की भाषा व्रजभाषा लेते हैं। तुलसी की भाषा का अवधी (कोसली होना भी कितनों को पहले नया ही मालूम होगा। खड़ीबोली उत्तर पांचाल (या बदायूँ, मुरादाबाद और बिजनौर के जिलों) की बोल-चाल की भाषा का साहित्यिक रूप है। बदायूँ आदि के लोग, मालूम होता है, दिल्ली में मुसलमानी शासन स्थापित होने के आरम्भिक समय में ही किसी प्रकार पहुँच गये। धर्म-परिवर्तन तथा अपने बुद्धि-विद्या-बल से वह वहाँ अधिक प्रभावशाली बन गये। उनके सम्बन्ध से बहुत से और भी बदायूँनी, बिजनोरी दिल्ली पहुँचे। उनका और उनकी दास-दासियों का दिल्ली में एक अच्छा खासा उपनिवेश बस गया। इस उपनिवेश के सभी

के लेखों में भी मिलता है। सौ वर्ष पहले प्रिन्सेप् ने सिंहलवासियों को बंगाल से आया कहा। उसके लिये आधार यही था कि, सिंहल उपनिवेश-स्थापक विजय की दादी वंगराज की लड़की थी और उनका पिता "लाल" देश का शासक था। "लाल" "राढ़" (पच्छिमी बंगाल) का अपभ्रंश रूप मान लिया गया। "महावंस" और "दीपवंस" में स्पष्ट लिखा है कि विजय अपनी राजधानी से नाव पर चढ़कर पहले भरुकच्छ (भड़ौच) फिर सुप्पारक (सोपारा, जि० ठाणा) गया; वहाँ से चलकर ताम्रपर्णीद्वीप। राढ़ से सीलोन (जाने का यह रास्ता (भूल जाने पर, तो ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी के लिये और भी) कठिन है। तो भी वह बातें अब भी बहुत से बंगाली ऐतिहासिकों के ग्रन्थों में लिखी मिलेंगी। मैथिल-कोकिल विद्यापति बहुत दिनों तक बंग-भाषा के ही आदि कवि रहे हैं; और, यही बात हम बिहार के दो बड़े धर्म-प्रचारकों (शान्तरक्षित और दीपंकर श्रीज्ञान—जिन्होंने आठवीं और ग्यारहवीं शताब्दियों में, तिब्बत में, धर्म-प्रचार किया था) के बारे में देखते हैं।

लोगों का, यूरेशियनों की भाँति, अपनी भाषा भूलकर फारसी ही बोलने लगना उस समय सम्भव नहीं था—विशेषत: जब कि, राज-काज चलाने के लिये और लोगों से काम पड़ता था। (इस उत्तर-पाञ्चाली जमायत को, एक तरह से, कम्पनी के आरम्भिक दिनों के बंगाली की रानियों से उपमा दे सकते हैं। फर्क इतना ही था कि, अंग्रेजों का वर्गभेद रंग पर था, जिसका बदलना असम्भव था; और, उत्तर पाञ्चालियों तथा उनके शासकों का फर्क धर्म पर था, जो धर्मपरिवर्तन से बहुत-कुछ हट-सा जाता था)। मातृभाषा का प्रेम भी एक बड़ी चीज़ है; इसको वही अच्छी तरह जानेंगे, जो गुजरात के करोड़पति मेमनों, बोरों, साहुकारों को, केपटाउन, कोलम्बो और नैरोबी तक में अपनी गुजराती भाषा में; एवम् कोंकणी मुसलमान साहुकारों को तामिल, मालाबार, कुर्ग के प्रदेशों में रहते हुए भी कोंकणी में अपना निजी काम चलाते देखेंगे। अवध की तरफ से बिहार में जानेवाले कायस्थ, मुसलमान जैसे अपने साथ अपनी अवधी भाषा लेते गये (उनके प्रभाव के साथ उनकी भाषा का प्रभाव इतना बढ़ा कि, आज भी बिहार की कचहरियों के शिक्षित लोगों को, आप इसी अवधी को, कुछ मगही, मैथिली तथा भोजपुरी के पुट के साथ बोलते पायेंगे)—ठीक इसी प्रकार उत्तर पाञ्चालियों की अपनी भाषा दिल्ली में अपना प्रभाव बढ़ाती रही। यह लोग आरम्भिक मुसलमान हुये लोगों (या हिन्दी मुसलमानों) में अधिक प्रभावशाली थे; इसलिये पीछे के मुसलमानों के लिये यह सभी बातों में उनके आदर्श बने। इस प्रकार भाषा के खयाल से दिल्ली के शासन सूत्रधार दो भागों में विभक्त थे; एक फारसीख्वाँ अहिन्दी मुसलमान शासक थे और दूसरे हिन्दी वजीर, अमीर तथा फकीर (धर्म-प्रचारक), जो राज-काज के लिये फारसी सीखते-पढ़ते थे; तो भी अपनी मातृभाषा के हामी थे। अन्तर्जातीय विवाहों से (जो कि आज की तरह उस समय भी मुसलमानों में अधिक होते थे) जैसे ही जैसे हिन्दी-रुधिर शासकों में अधिक प्रवेश करता जाता था और इस्लाम के प्रचार से जैसे ही जैसे हिन्दी मुसलमानों की जमायत बढ़ती जाती थी, वैसे ही वैसे उत्तर पाञ्चाली भाषा उन्नति के पथ पर अधिक अग्रसर होती गयी—प्रादेशिक से सार्वत्रिक भाषा बनती गयी। रक्त-सम्मिश्रण के साथ भाषा का सम्मिश्रण सभी जगह देखा जाता है। इसी प्रकार उत्तर पांचाली में भी फारसी-अरबी के बहुत से शब्द मिल गये। शाहजहाँ से बहुत दिनों पहले ही यह भाषा बहमनियों के साथ दक्खिन में पहुँच गयी थी; और, क्रमशः हिन्दी से जिन देशों की भाषाओं का जितना ही अधिक फर्क था, उनमें

यह उतनी ही अधिक साधारण लोगों के लिए माध्यम और मुसलमानों के लिये मातृभाषा बनी। उत्तर में अकबर के हिन्दू-मुसलमान विवाहों ने इस भाषा को अधिक भीतर तक घुसने दिया और सभी शाहजादे जन्म से ही दोभाषिये होने लगे। यद्यपि अंग्रेजों के आने तक फारसी ही कचहरियों की भाषा थी; तो भी वह वैसे ही, जैसे बारहवीं शताब्दी के गहड़वार राजाओं के शिलालेखों में आप संस्कृत को देखते हैं। बातचीत तक सभी काम बादशाही कचहरियों तक में भी हिन्दी में ही होते थे; सिर्फ कागज लिखते वक्त फारसी आ जाती थी।

उक्त हिन्दी यद्यपि उत्तर पाञ्चाल की भाषा थी और उसमें अरबी-फारसी के शब्द उधार मात्र ले लिये गये थे; तो भी चौदहवीं से अठारहवीं शताब्दी तक मुसलमानों का ही इससे घनिष्ट सम्बन्ध था। इसीलिये लोग इसमें मुसलमानियत की बू पाते थे। फलतः साहित्य की भाषा का जब प्रश्न उठा, तब हिन्दुओं ने रेखता (उर्दू-अरबी-फारसी-मिश्रित खड़ीबोली) को न ले, व्रजभाषा, अवधी आदि को अपनाया। रेखता में उनका कभी-कभी कविता करना, फारसी की ही तरह था। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी में सारे हिन्दुस्तान-प्रदेश में सिवा रेखता के कोई दूसरी सर्वत्र प्रचलित भाषा नहीं थी। यद्यपि इसमें अरबी-फारसी के शब्द अधिक थे; तो भी खत्री आदि कितने ही नागरिक कुलों में यह मातृ-भाषा थी; और, उसमें अरबी-फारसी के शब्द नाम मात्र थे (उतने संस्कृत-शब्द भी न थे)। तो भी कृष्ण के नाम से और दिल्ली के पास होने से जैसे व्रजभाषा अनायास हिन्दी की काव्य-भाषा बन गयी, उतनी आसानी से खड़ीबोली को सफलता नहीं मिली। उसे चौदहवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक जगह-जगह की खाक छाननी पड़ी, अपमान सहना पड़ा; और, इतनी तपस्या के बाद इस एक कोने की उत्तर पाञ्चाली भाषा को सारे हिन्द की हिन्दी भाषा बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

इस प्रकार सूर, बिहारी आदि की धार्मिक, शृङ्गारिक कविताओं के कारण लोग व्रजभाषा को कविता की भाषा समझते हैं; और, उपर्युक्त क्रम से सर्वत्र प्रचलित खड़ीबोली को आधुनिक व्यवहार की भाषा। सहस्राब्दियों से हिन्दुस्तान प्रदेश में जो भाषाएँ विकसित होती रही हैं, वह भी कभी अपनी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगी, इसका लोगों को कुछ खयाल भी न था। यही कारण है, जो भोजपुरी, मगही, मैथिली आदि की ओर ध्यान नहीं गया। इस प्रकार मैथिली के विद्यापति कितने ही वर्षों तक बंगाली ही बने रहे! जिस समय खड़ी-बोली ने पटरानी होकर कविता के सिंहासन पर भी पैर बढ़ाना चाहा, उस समय व्रजभाषा ने लाँग बाँध और डंडे मारकर व्रज की होली शुरू कर दी।

यह होली बहुत दिनों तक गम्भीरता के साथ होती रही; किन्तु जब कविता के दरबार में खड़ीबोली की तूती बोलने लगी, तब बेचारी व्रजभाषा को यही कहकर सन्तोष करना पड़ा—"असली पेठा तो मेरी ही दूकान पर बनता है"। लेकिन बेचारी मगही, मैथिली तथा भोजपुरी आदि भाषाएँ, सती-साध्वी कुलाङ्गनाओं की भाँति, चुपचाप ही बैठी रहीं। फिर आजकल तो जद्दो-जहद के बिना किसी को कुछ मिलता नहीं। इसीलिये इनकी ओर किसी ने ध्यान न दिया। इन मूक भाषाओं का भी अस्तित्व है; इस विषय में डा० ग्रियर्सन और दूसरे सज्जनों ने जो किया, उसके लिये यह अवश्य उनकी आभारी हैं। इधर ग्रामीण गीतों के प्रकाशन ने यह भी बतला दिया कि, यह स्वभाव सुन्दरी भी हैं।

अब सवाल यह है कि, इन भाषाओं के लिये भी कोई स्थान मिलना चाहिये या नहीं? यह न समझें कि, खड़ीबोली को अपना राजपाट बाँट कर गद्दी से दस्त-बरदार हो जाना चाहिये। खड़ीबोली के कारण आज भारत का दो तिहाई भाग एकता के घनिष्ट सूत्र में बँध गया है। इस बीसवीं शताब्दी में उस एकता को तोड़ने की बात वही करेगा, जिसका समूह-शक्ति पर विश्वास नहीं है। तो फिर इनके लिये क्या होना चाहिये? बस, वही, जो व्रजभाषा के लिये इस वक्त और भविष्य में रहेगा। व्रजभाषा को तो कोई गुजराती बनाने का साहस नहीं रखता, फिर मैथिली और मगही के बारे में ऐसा क्यों? यदि व्रजभाषा की नवीं दसवीं शताब्दियों की कविता मिलती, तो उसके सादृश्य को देखकर गुजराती भी वही कहते, जो उस समय की मगही को देखकर आज बंगाली कहते हैं। कहा जा सकता है कि, खड़ीबोली तो मागधी की उत्तराधिकारिणी नहीं है, साहित्यिक क्षेत्र में उसकी उत्तराधिकारिणी तो बँगला ही है। लेकिन यही पूछना है, अधिकार भी तो सापेक्ष शब्द है? मगही, मैथिली, उड़िया, आसामी—इन चारों को खड़ी करने पर सर्वप्रथम किसको हक मिलना चाहिये? मगही को ही न? और बात भी है। यदि बँगला कहे कि, मैं पुरानी मगही की पुत्री हूँ, सो ठीक है; लेकिन यदि बँगला पुरानी मगही का नाम मिटाकर उसे पुरानी बँगला कहने लगे, तो उसे मगही से ही लोहा नहीं लेना पड़ेगा; बल्कि उड़िया आदि को भी अपनी ज्येष्ठ भगिनी की सहायता करने पर बाध्य होना पड़गा। यद्यपि मगही में आज अखबार नहीं निकलते, लेख नहीं लिखे जाते, लेकिन तीस लाख बोलनेवाले उसके घर में ही जिन्दा हैं! यदि कहें, उसमें हमें उज्र नहीं; लेकिन मगही को हिन्दी कैसे कहेंगे? हिन्दी तो पच्छाहीं भाषा है, उसका

मगही से क्या सम्बन्ध ? उत्तर यह है कि, हिन्दी शब्द सिर्फ खड़ीबोली के ही लिये कोई व्यवहार नहीं करता। व्रजभाषा और अवधो के हिन्दी न होने का किसी ने आग्रह नहीं किया। व्रजभाषा और अवधी भी तो खड़ीबोली से, मगही की तरह, भिन्न हैं ? हम पुरानी मगही को खड़ीबोली नहीं कहते, हम उसे प्राचीन हिन्दी कहते हैं; जैसे व्रजभाषा और अवधी को।

हिन्दी क्या है, पहले इसे आपको समझना चाहिये। सूबा हिन्दुस्तान (हिमालय पहाड़ तथा पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, तेलगू, ओड़िया, बँगला भाषाओं के प्रदेशों से घिरे प्रदेश) की आठवीं शताब्दी के बाद की भाषाओं को हिन्दी कहते हैं। इसके पुराने रूप को प्राचीन मगही, मैथिली, व्रजभाषा आदि कहते हैं; और, आजकल के रूप (आधुनिक हिन्दी) को सार्वदेशिक और स्थानीय, दो भागों में विभक्त कर आधुनिक सार्वदेशिक हिन्दी को खड़ीबोली (जिसे ही फारसी-लिपि तथा अरबी-फारसी शब्दों की भरमार पर उर्दू कहते हैं) तथा आजकल भिन्न-भिन्न स्थानों में बोली जानेवाली मगही, मैथिली, भोजपुरी, बनारसी, अवधी, कन्नौजी, व्रजमण्डली आदि को आधुनिक स्थानीय हिन्दी-भाषाएँ कहते हैं।

यदि आप कहें कि, दोहाकोष आदि की भाषा को मगही कौन मानता है, वह तो ठेठ बंगला है। इसका उत्तर तो उन कवियों के निवास-देश देंगे, जिन्हें मैंने उनके नाम आदि के साथ अपने दूसरे लेख (हिन्दी के प्राचीनतम कवि और उनकी कविता) में दिया है। यहाँ सिर्फ इतना कह देना है कि, यदि (१) उन कवियों का सम्बन्ध नालन्दा और विक्रमशिला से रहा है, यदि (२) यह दोनों विद्यापीठ मगही-मैथिली-क्षेत्रों से बाहर नहीं रहे हैं, यदि (३) उन सभी कवियों की भाषा एक समान रही है; और, यदि (४) उनमें प्रयुक्त हुए शब्द मगही-मैथिली-भाषाओं में, काल-सम्बन्धी आवश्यक परिवर्तन के साथ अब भी सबसे अधिक मिलते हैं, तो उन्हें हिन्दी से बाहर नहीं ले जाया जा सकता।

---

(१३)

हिन्दी-स्थानीय भाषाओं के बृहत् संग्रह की आवश्यकता

परिवर्तन का अटल नियम जैसे संसार की सभी वस्तुओं पर अधिकार रखता है, वैसे ही भाषा पर भी। लेकिन यह परिवर्तन हमेशा कार्य-कारण सम्बन्ध लिये हुए काम करता है, जिससे अपवर्ती वस्तु (कार्य) पूर्ववर्ती वस्तु (कारण) से बहुत सादृश्य रखती है। यही कारण है कि, बाज वक्त हम वस्तुओं की परिवर्तनशीलता के विषय में सन्देहयुक्त हो जाते हैं। इस कार्य-कारण-सहित परिवर्तन का अच्छा उदाहरण हमारा अपना शरीर है। एक ही आदमी के १, २०, ४०, ५० और ६० वर्ष की अवस्थाओं के चित्र आप उठा लीजिये; सादृश्य और परिवर्तन आपको स्पष्ट मालूम होंगे। मनुष्य के भीतरी (आत्मिक) परिवर्तन को देखना हो, तो किसी चिन्तनशील पुरुष की चौदह से पचास वर्ष की उम्र तक की डायरियाँ पढ़ डालिये। मनुष्य के इस आत्मिक और बाह्य परिवर्तन की भाँति ही मनुष्य की भाषाओं में परिवर्तन होता जा रहा है। किसी जीवित भाषा के कितने ही छोटे-छोटे परिवर्तन तो कोई भी पचास वर्ष का समझदार पुरुष आसानी से बता सकता है। लेकिन सहस्राब्दियों के परिवर्तनों के सामने यह परिवर्तन नगण्य है। उस समय तो इतना परिवर्तन हो गया रहता है कि, पहचानना भी असम्भव सा हो जाता है। उदाहरणार्थ आधुनिक मगही (मागधी) को ले लीजिये। इसके आजकल के तथा अठारह सौ वर्ष पूर्व और बाईस सौ वर्ष पूर्व के रूप को ले लीजिये। कितना आमूल परिवर्तन मालूम होगा! चाहे वह परिवर्तन कितना ही अमूल हो, तो भी इस पर सादृश्य का नियम लागू रहता है। यदि हमें हर शताब्दी की भाषाओं का नमूना मिल जाय तो इनकी परस्पर समीपता हमें वैसे ही मालूम होगी, जैसे सौ मील जानेवाले यात्री के लिये पहले कदम से दूसरे कदम का फासला। दर-असल भाषा-प्रवाह को भी तो एक यात्री की ही भाँति सहस्राब्दियों का सफर करना पड़ा है। इन्हीं परिवर्तन के नियमों को भाषातत्त्व कहा जाता है।

भाषा मनुष्य के अन्दर और बाहर के भावों के प्रकाशन करने का प्रधान साधन है। इसीलिये इसमें मनुष्य की अपनी आकृति झलकती है। ऋग्वेद के शब्दों को सामयिक पेशों तथा गार्हस्थ, धार्मिक, सामरिक, खान-पान आदि विभागों में संग्रह कर डालिये; आपको मालम हो जायगा कि, ऋग्वेदीय मनुष्य समाज का क्या रूप था। यद्यपि इस प्रकार के साहित्य में समाज के सारे अङ्गों का रूप चित्रित नहीं होता, इसलिये इसमें शक नहीं कि, यह चित्र पूर्ण न होगा।

भाषा मनुष्य के समझने का साधन है, इसमें तो किसी को विवाद नहीं हो सकता। मानव-तत्त्व (*Anthropology*) भी मनुष्य के समझने का साधन है। आजकल तो इन दोनों साधनों का परस्पर अविरोधी परिणाम देखकर और भी विद्वानों का विश्वास इन पर बढ़ चला है। भारत की आर्य तथा द्रविड़-जातियों की भाषाओं में जैसी अपनी विशेषताएँ हैं, वैसे ही इनकी नासामितियों में भी। जहाँ दोनों जातियों का सम्मिश्रण हुआ है, वहाँ हम भाषा और नासामितियों का भी वैसा ही सम्मिश्रण देखते हैं। उदाहरणार्थ कन्नड और तेलगू—दो द्रविड़-जातियों को ले लीजिये। इनकी भाषाओं में आपको संस्कृत के शब्दों की बहुलता मिलेगी; और, नासामिति भी आपको उसी परिमाण में इनमें आर्य और द्रविड़ नासाओं का मिश्रण बतलायेगी। आर्य-भारत से मालावार का सीधा सम्बन्ध नहीं है, बीच में कन्नड तथा दूसरी जातियाँ आ जाती हैं, तो भी मलयालम् भाषा में आपको कन्नड और तेलगू की अपेक्षा भी अधिक संस्कृत-शब्द मिलेंगे। मालाबारियों की नासामिति में आर्य-नासाओं का बहुत अधिक प्रभाव देखकर पहले-पहल मानव-तत्त्वशास्त्रियों को भी बड़ा आश्चर्य हुआ; किन्तु आश्चर्य की कोई बात नहीं। मालाबार में तो ब्राह्मण (प्रवासी आर्य) आज तक भी नायर-स्त्रियों के साथ, बिना रोक-टोक, सम्बन्ध रखते हैं। हजारों वर्षों से नम्बूदरी ब्राह्मणों के छोटे भाई इस नासामिति को बदलने के ही लिये नियुक्त हैं।

उपर्युक्त संक्षिप्त कथन से पाठकों को मालूम हो जायगा कि, भाषाओं का परिवर्तन अपने अन्दर खास रहस्य रखता है। इसके रहस्य के उद्घाटन के लिये मनुष्य वैसे ही व्यग्र है, जैसे गौरीशंकर-शिखर, ध्रुव-प्रदेश, भूगर्भ आदि की जिज्ञासा में। इस रहस्य के खुलने से मनुष्य के इतिहास पर भी बहुत प्रकाश पड़ता है। भाषा-सम्बन्धी अन्वेषण ने ही तो यूरोप, ईरान तथा उत्तरी भारत की जातियों का एकवंशीय होना सिद्ध किया। इसी ने तो बिलोचिस्तान के बर्हुई तथा मद्रास के द्राविड़ों का एक होना बतलाया। इसी ने तिब्बती, नेवार और बर्मावालों का एक खान्दान सिद्ध किया।

इसके ऊपर यूरोप की सभ्य जातियों ने बहुत परिश्रम किया है।

इंगलैंड ने *English Dialect Society* (इंगलिश स्थानीय भाषा-सभा) कायम की थी, जिसने उपर्युक्त सामग्री संग्रह करने में बड़ी सहायता की। इसने *East Yorkshire, East Norfolk, Vale of Gloucester, Midland, West Reading of Yorkshire; West Devonshire, Derbyshire* आदि खास इंगलैंड के ही छोटे-छोटे भागों की भाषाओं के सम्बन्ध में बहुत ज्ञातव्य बातों की खोज की। स्काच और वेल्स भाषाओं पर भी वहाँ बहुत परिश्रम किया गया है। स्थानीय भाषाओं के व्याकरण और कोष तैयार किये गये हैं। उदाहरणार्थ—

1. W. Barnes, *A Grammar and Glossary of the Dorset dialect, with the history outspreading and bearing of South English.* 2. L. L. Bonaparte, *On the Dialects of Monmouthshire, Hertfordshire, Worcestershire, Gloucestershire, Berkshire*.......... 3. E. Kruisigas, *A Grammar of the Dialect of West Somerset descriptive and historical.* 4. B. A. Mackenzie *The early London Dialect.* 5. J. Wright, *The English Dialect Grammar.* 6. J. Wright, *The English Dialect Dictionary.*

अन्य विषयों की भाँति फ्रांस ने इस विषय में भी बहुत काम किया है। वहाँ स्थानीय भाषाओं के कितने ही एटलस बने हैं; बहुत से व्याकरण और कोष लिखे गये हैं; कहावतों और कहानियों का भी संग्रह किया गया है। *Ch. Brunean* ने वालों, शम्पेन्वा, लोरेन की स्थानीय भाषाओं की सीमा-निर्धारण करने पर ही (*La limite des dialects Wallon, Champenois et Lorrain on Ardennee*) पुस्तक लिखी है। १८५२–५३ में ही Escallier ने स्थानीय भाषाओं के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक *Remerque sur le patois* (स्थानीय भाषाओं पर टिप्पणी); *Letters sur le patois* लिखी थी। *Ch. de Tourtoulon* ने *Des dialectes de leur classification et de leur delimitation geographique* लिखी। १९०३–१९१२ में, १९२० चित्रों सहित कई खण्डों में *Atlas linguistique de la France* छपा, जिसका मूल्य प्रायः १५० रु० है। दो वर्ष बाद *Atlas linguissique de la corse*, एक सहस्र चित्रों के साथ, प्रकाशित हुआ। नार्मंडी भाषा का अलग ही *Atlas dialectalogique de Normandie* है। इसी प्रकार और भी कितने ही एटलस छपे हैं। Wallon, Doubs, Bearn, Ardenne, Vinzellhs, Blonay आदि की स्था-

नीय भाषाओं पर तो कितने ही अलग-अलग व्याकरण और शब्दकोष लिखे गये हैं।

जर्मनी, रूसी आदि भाषाओं के सम्बन्ध में भी यही बात है। यहाँ एक बात और भी स्मरण रखनी चाहिये। फ्रांस और इंगलैंड की वह भाषाएँ वस्तुतः स्थानीय उपभाषाओं सी हैं, यदि उनके प्रचार के प्रदेश, बोलनेवालों तथा सर्व-मान्य इंगलिश या फ्रेंच से उनके भेद पर ध्यान दिया जाय। किन्तु हिन्दी की स्थानीय भाषाओं में कुछ तो परिस्थिति के ही फेर में पड़कर स्थानीय भाषाएँ रह गयीं; अन्यथा मैथिली, व्रजभाषा तथा राजस्थानी को एक स्वतन्त्र भाषा बनने की उतनी ही योग्यता है, जितनी गुजराती और बँगला को। यद्यपि इन भाषाओं का साहित्यिक भाषा से सम्बन्ध सैकड़ों वर्षों से छूटा हुआ है; तो भी मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुसार इन भाषाओं ने भी विचार प्रकट करने में बराबर उन्नति की है। अब तक इनको अलग रहकर अपने अस्तित्व को कायम रखने तथा वृद्धि करने का मौका रहा है; किन्तु अब वह समय आ पहुँचा है, जब कि, इनकी अवस्था संकटापन्न हो गई है। अन्य बातों के अतिरिक्त दो बातें और हैं, जिनके लिये इन भाषाओं के संग्रह की बड़ी भारी आवश्यकता है। पहली बात तो यह है कि, खड़ी हिन्दी के सार्वत्रिक व्यवहार और उसी के द्वारा शिक्षा-प्रचार होने के कारण शिक्षित समाज खड़ीबोली में ही लिखने-बोलने लगा है। जो लिख-बोल नहीं सकते, वे भी उसे संस्कृति और भद्रता का चिह्न समझ, बिना सङ्कोच, उसके शब्दों और मुहाविरों को अपना रहे हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनकी अपनी स्थानीय भाषा बिगड़ती जा रही है! इसकी सत्यता के लिये आप पटना की मगही और कायस्थों की भोजपुरी को लेकर देख सकते हैं। जिस तरह यह परिवर्तन हो रहा है, उससे तो यदि यह भाषाएँ नष्ट न हो जायँ, तो कम-से-कम थोड़े ही समय में इनके इतना बिगड़ जाने का डर तो जरूर है, जिससे कि, इनका वैज्ञानिक मूल्य बहुत कम रह जाय और आनेवाली पीढ़ियाँ मानव-तत्त्व की इस महत्त्वपूर्ण कड़ी को खो देने का इलजाम हम पर लगावें। दूसरी बात यह है कि, खड़ीबोली यद्यपि मूलतः उत्तर-पाञ्चाल या बिजनोर जिले के आसपास की भाषा है, तो भी वहाँ के भाषा-भाषियों की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं किया गया है, जिसका परिणाम यह हो रहा है कि, घरू काम-काज, जीवन की साधारण अवस्थाओं के उपयोग के शब्दों की, हिन्दी में, बड़ी कमी है। कभी-कभी कोई-कोई हिम्मतवाले लेखक, ऐसे समय किसी स्थानीय भाषा के शब्द का प्रयोग कर देते हैं; किन्तु, तो भी लोग स्थानीयता का दोष लगाते हैं; और,

उस शब्द के प्रचार में रुकावट होती है। लोग यह भी खयाल करते रहते हैं कि, शायद ये शब्द हमारी ही स्थानीय भाषा में हों; यद्यपि बहुत से शब्दों को, एक ही रूप में, पटना और अम्बाला में प्रचलित पाया जाता है। यदि हम स्थानीय भाषाओं के शब्द आदि संग्रह कर सकें, तो जहाँ हम उनका एक सुरक्षित भाण्डार रख देंगे, वहाँ भिन्न-भिन्न स्थानीय भाषाओं से कितने ही सर्वसाधारण शब्दों को भी जमा कर पायेंगे, जिनको खड़ीबोली में लेने में फिर हिचकिचाहट न रहेगी; और, इस प्रकार, खड़ीबोली का एक बड़ा दोष दूर हो जायगा। इस वक्त खड़ीबोली में इन कामों के पूरा करने का एकमात्र साधन संस्कृत है, जिसके कारण ही बाज वक्त लेखकों को अनावश्यक संस्कृत भरने का दोष-भागी बनना पड़ता है। यदि हमने इन भाषाओं को बिगड़ने या नष्ट होने दिया, तो इसका परिणाम यही नहीं होगा कि, हमें अपनी भाषा की आवश्यकताओं को अस्वाभाविक रूप से पूर्ण करना पड़ेगा; बल्कि वेद, ब्राह्मण से लेकर, पाली, प्राकृत के ग्रन्थों तक में प्रयुक्त होनेवाले उन कितने ही शब्दों के, परम्परा से चले आये अर्थों को भी, हम भूल जायँगे, जिनका प्रयोग आजकल केवल इन्हीं भाषाओं में पाया जाता है।

उपर्युक्त कथन से स्थानीय भाषाओं को लेखबद्ध करके सुरक्षित कर देने की कितनी आवश्यकता है, यह स्पष्ट ही है। इस विषय में ग्रियर्सन की *Linguistic Survey of India* ने बहुत अच्छा काम किया है। शब्द-कोष, व्याकरण तथा कहानियों पर भी उसमें लिखा गया है; तो भी वहाँ भाषाओं के सम्बन्ध का स्थूल चित्र ही वाञ्छित था, उनका लक्ष्य सारी भाषा को सुरक्षित कर देने का नहीं था और न साहित्यिक हिन्दी के कोष को पूर्ण करने के ही खयाल से वह काम किया गया था। इसलिये वह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है। हमें अपनी आवश्यकता के लिये चाहिये हर एक भाषा की हजारों (१) कहानियाँ, (२) कहावतें, (३) गीत, (४) शिल्प और व्यवसाय-सम्बन्धी शब्द तथा उन्हीं पर अवलम्बित (५) विस्तृत कोष और (६) व्याकरण। कहानियों में हमें सजीव भाषा मिलेगी। अर्थहीन, किन्तु भाषा में ओज पैदा करनेवाले निपातों का व्यवहार, हमें वहीं मालूम हो सकेगा। भाषा में भाव-चित्रण की शक्ति का भी परिचय उन्हीं से मिलेगा। इसके अतिरिक्त इतिहास मानस-शास्त्र, समाज शास्त्र आदि की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण पदार्थों की प्राप्ति के बारे में तो कहना ही क्या है। कुछ हद तक इन बातों की पूर्ति गीतों से होगी; किन्तु गीत अपना दूसरा ही महत्त्व रखते हैं। भिन्न-भिन्न स्थानों में कृषि, वर्षा, नक्षत्रों, तारों आदि के

सम्बन्ध में तथा दूसरी शिक्षाओं से भरी कितनी ही गद्य-पद्यमयी कहावतें प्रचलित हैं। इन कहावतों में, बाज वक्त, मनुष्य के शताब्दियों के अनुभव का सार बन्द रहता है। यह भी समय पाकर नष्ट होती जा रही हैं। पुराने लोगों में अब भी ऐसे आदमी मिलेंगे, जिन्हें यह कहावतें सैकड़ों की संख्या में याद हैं। इनके बल पर वह वर्ष के भिन्न-भिन्न मासों में नक्षत्र देखकर रात्रि के घंटों और कृषि-वर्षा के समय का निश्चय कर लिया करते थे। किन्तु यांत्रिक साधनों की सुलभता से अब लोगों की प्रवृत्ति उधर से उदासीन होती जा रही है; इसलिये इनके सर्वथा ही विस्मृत हो जाने की सम्भावना है।

शिल्प-व्यवसाय-सम्बन्धी संग्रह की तो सबसे अधिक आवश्यकता है; क्योंकि इस विषय पर तो कुछ भी नहीं किया गया है। खड़ी हिन्दी में इस विषय के शब्दों की बड़ी कमी है। इस अपूर्णता के कारण कभी-कभी हमारे उपन्यास-लेखकों को समाज का अधूरा चित्र ही खींचने पर मजबूर होना पड़ता है! मल्लाह को ही ले लीजिये। क्या उसको अपने काम में नाव, पतवार, पाल—इस तीन ही शब्दों का व्यवहार करना पड़ता है? नाव के सिर, पूँछ, पेट, वारी, पतवार आदि की नाना किस्मों के बारे में तो कहना ही क्या; खोजने पर आपको नाव के ऊपर की ओर, नीचे की ओर, जल्दी या तिरछी चलने, चक्कर काटने तथा रस्सी पर चलने आदि के लिये भी कितने ही शब्द मिलेंगे। और, फिर, समुद्र की नावों के बारे में तो कहना ही क्या है। वह तो एक पूरा संसार है, जिसके ज्ञान और आनन्द से वञ्चित रहना या परोपजीवी होना हमारे लिये अच्छी बात नहीं है (हिन्दी-स्थानीय भाषाओं की सीमा समुद्र से नहीं मिलती, यह सही है; किन्तु यह भी याद रखना चाहिये कि, स्थानीय भाषाएँ, गुजराती, मराठी, बँगला, ओड़िया तक के साथ बाज वक्त गजब की समानता रखती हैं)। यह तो सिर्फ मल्लाही व्यवसाय की बात हुई। अब इसमें आप उन सैकड़ों व्यवसायों को जोड़ लीजिये, जिनमें से कुछ के नाम आगे दिये जायँगे। तब इस बात के महत्त्व को आप उपेक्षा की दृष्टि से न देख सकेंगे। जब हमारे पास कहानियों, कहावतों, गीतों और व्यवसाय सम्बन्धी शब्दों का एक पूरा भाण्डार जमा हो जायगा, तब उससे उस स्थानीय भाषा का एक अच्छा व्याकरण और कोष तैयार किया जा सकेगा।

अब हमें विचार करना है कि, यह काम कहाँ तक साध्य है; और, इसे किस तौर करना चाहिये। साध्य होने के विषय में तो इतना ही कहना है कि, जो कबप्रादूसरे देशों ने पचासों वर्ष पूर्व ही कर डाली, वह यहाँ आज क्यों नहीं हो

सकतीं ? और जगहों पर भी, सरकार की अपेक्षा, लोगों ने, इसके बारे में, बहुत काम किया है। साध्य और असाध्य तो हम कार्य के ढंग को देखकर अच्छी तरह बतला सकेंगे। हमारे काम के दो भाग होंगे; एक तो संग्रह का काम, अर्थात् ढूँढ़-ढूँढ़कर शब्दों को जमा करना और दूसरा, व्याकरण, कोष का निर्माण करना। यद्यपि दूसरे काम में बड़ी दक्षता की आवश्यकता है, तो भी यह संगृहीत सामग्री लेकर एक जगह बैठे-बैठे किया जा सकता है; और, इस काम के लिये ऐसे हिन्दी-भाषी योग्य विद्वान् दुर्लभ न होंगे, जो कि, बड़े उत्साहपूर्वक, जल्दी, उसे समाप्त कर देंगे। सबसे परिश्रमसाध्य और यदि उस तरह किया जाय, तो व्यय-साध्य कार्य है संग्रह का। इसके लिये हमें अपने जिले को स्थानीय भाषा-विभागों में बाँट देना होगा। आप कहेंगे, जिले को बाँटकर क्या स्थानीय भाषाओं में भी उप-विभाग करेंगे ? ऐसे तो एक गाँव से दूसरे गाँव में भी भाषा में कुछ अन्तर पड़ने लगता है ? नहीं, मेरा मतलब यहाँ हर जगह के लिये नहीं है। यदि कहीं समझा जाय कि, वहाँ भाषा में वैसा कोई खास भेद नहीं है, तो उसे छोड़ दिया जाय; किन्तु कितनी ही जगहों पर ऐसा करना जरूरी होगा। उदाहरणार्थ भोजपुरी को ले लीजिये। सम्पूर्ण आरा, छपरा और चम्पारन के जिले तथा गोरखपुर, बलिया और गाजीपुर जिलों के अधिकांश भाग एवम् आजमगढ़ के कुछ परगने असल भोजपुरी के क्षेत्र में आते हैं। वाराणसी आदि की भाषा काशिका वस्तुतः सीमान्त भाषा है; और, उसमें स्वर तो भोजपुरी क बिलकुल ही नहीं, जो कि, भाषा के लिये, व्याकरण के अन्य अङ्गों की अपेक्षा, कम महत्त्व का नहीं है। यदि छपरा (सारन) जिलावाले अपने जिले में इस काम को करना चाहें, तो उन्हें अपने जिले को तीन भागों में बाँटना होगा। पहले भाग में गोरखपुर जिला, सरयू नदी, गण्डक नदी, दाहा नदी (पीछे सीवान-तक), मीरगंज और गोपालगंज थानों से घिरा खण्ड होगा। इसमें सारा कुआाड़ी का परगना तथा कितने ही दूसरे भाग आ जायँगे। (इस तरह के उप-भाषाओं के क्षेत्र-विभाग में परगने बाज वक्त बड़ा महत्त्वपूर्ण फैसला देते हैं। स्मरण रहे, परगने प्रायः इसी रूप में मुसलमानी शासन के पहले से चले आ रहे हैं)। दूसरे हिस्से में हम मिर्जापुर, दिघवारा, परसा और सोनपुर थानों को रख सकते हैं। बाकी हिस्से को तीसरे भाग में रखा जा सकता है। यद्यपि पहले और तीसरे हिस्सों में, गउवै (गये), 'अउवै" (आये) तथा "गइलै", "अइलै" जैसे कितने ही भेद मिलेंगे, तो भी इनको छोड़ दिया जा सकता है; किन्तु बाकी चार थानों के लिये तो विशेष ध्यान देना ही पड़ेगा; क्योंकि वहाँ के सिर्फ "नः" (ह्रस्व ए नहीं)

को ही ले लीजिये; जो कि, आसपास के किसी स्थान से न मिलकर गण्डक पार के मुजफ्फरपुर जिले के अपने पड़ोसी भाग से मिलता है। ईसा से पाँच शताब्दियाँ पूर्व यह भाग वस्तुतः उस पार से मिला हुआ था; किन्तु मुसलमानों के आने से पूर्व—सम्भवतः युन्-च्वेङ् के आने से भी पूर्व—मही अपनी पुरानी धार को छोड़कर गण्डक बन चुकी थी। ऐसे उदाहरण, और जिलों में भी, मिल सकते हैं।

इस प्रकार पहला काम तो हमें जिलों का ऐसा विभाग करना है। यह अवश्य ही है कि, यह विभाग करना सब के बसका काम नहीं है। भाषा-विज्ञान के अतिरिक्त इसमें जिले के भाषा-विज्ञान की भी काफी जानकारी आवश्यक होगी। लेकिन इस दिक्कत को हम बहुत कम कर सकें यदि हम पहले एक ही भाषा के एक ऐसे जिले को ले लें, जहाँ के लिये ऐसे विशेषज्ञ मिल सकें। यदि वह जिला अपने सारे काम को खतम कर पावे, तो उसके अनुभव से दूसरी जगह वाले बहुत फायदा उठा सकते हैं। विभाग कर चुकने पर हमें संग्रह करनेवालों की एक काफी संख्या चाहिए। फिर, जिस किसी को भी तो यह काम, सिर्फ लिखा पढ़ा होने से, सौंपा नहीं जा सकता। इसके लिये, चोट-फेट की आरम्भिक सहायता की भाँति, एक तीन-चार सप्ताह का कोर्स रखना होगा; और, सिखलाना होगा कि, सामग्री-संचय के लिये निम्न बातों का खयाल रखें—

(१) स्थान ऐसा ढूंढ़ें, जहाँ की भाषा बाहरी प्रभाव से कम प्रभावित हुई हो।

(२) बोलने वाला यथासम्भव अपठित, व्यवहारकुशल तथा रूप खड़ा कर बेधड़क बोलनेवाला हो। यदि वह स्त्री हो, तो और अच्छा।

(३) जब उपर्युक्त दोनों बातें मिल गईं, तो लिखनेवाले संग्राहक को अपने को निर्जीव ग्रामोफोन मशीन मान लेना चाहिये। वक्ता के किसी उच्चारण आदि को शुद्ध करके लिखने का खयाल भी कभी मन में न आने देना चाहिये।

(४) लम्बी कथाओं से परहेज न करना चाहिये।

(५) वीरता, उदारता, प्रेम, माता-पिता की भक्ति, साहसपूर्ण कार्य, वाणिज्य, शिक्षा, देवाराधन, तीर्थाटन, वैराग्य, जन्म, मरण आदि सभी विषयों के गद्य, पद्य और गीतिमय वर्णन इकट्ठे करने चाहिये।

(६) निपात आदि के शब्द तथा शब्दानुकरणों को न छोड़ना चाहिये।

लेकिन यहाँ एक बात और कहनी होगी। यद्यपि नागरी वर्णमाला वैसे देखने में पूर्ण मालूम होती है, किन्तु कुछ आवाजों को जाहिर करने के लिये इसमें अक्षर नहीं हैं। उनके लिये अलग स्पष्ट चिह्न निश्चित करने होंगे।

उदाहरणार्थ हमारी भाषाओं में ह्रस्व ए और ओ का उच्चारण भी बहुत देखा जाता है। खड़ीबोली तक में "एक" कितनी ही बार ह्रस्व ए के साथ उच्चारित होता है। इस दिक्कत के कारण कितनी ही बार ए के स्थान में इ और ओ के स्थान में उ का व्यवहार होने लग पड़ा है। अ का भी एक विशेष उच्चारण है, जिसे पश्चिमी उत्तरप्रदेश के शहरों के लोग "कहना" के क के अ को उच्चारण करते हुए करते हैं; उस वक्त इसका उच्चारण कुछ ए की ओर झुक जाता है, तो भी ह्रस्व ए नहीं हो जाता। इसका उच्चारण जर्मन भाषा में a द्वारा प्रकट किया जाता है। हिन्दी में अ के ऊपर दो बिन्दी (अ॑) रखकर उसे किया जा सकता है। इसी प्रकार उ के इ की ओर झुकते उच्चारण को उ पर दो बिन्दी (उ॑) तथा ओ के इ की तरफ झुकते उच्चारण को ओ पर दो बिन्दी (ओ॑) देकर जाहिर किया जा सकता है। उत्तरप्रदेश, बिहार और मध्यप्रदेश में इतने से काम चल जायगा, किन्तु राजस्थान और दिल्ली प्रान्त में घ, च, ड आदि के विशेष उच्चारणों के लिये अलग चिह्न करने होंगे। नये चिह्नों और विशेष सावधानियों को समझाने के लिये ३, ४ सप्ताह का विशेष कोर्स काफी होगा। यदि जिला बोर्डों, म्युनिसिपलिटियों के शिक्षा-विभाग तथा कुछ दूसरे भी उत्साही सज्जन इसके लिये तैयार हो जायँ, तो संग्राहकों का मिलना कठिन न होगा; न व्यय के ही लिये बहुत तरद्दुद करना पड़ेगा।

कथाओं, कहावतों तथा गीतों की अपेक्षा, नाना व्यवसायों में उपयुक्त होनेवाले शब्दों के लिये, कहीं-कहीं कुछ विशेष परिश्रम करना पड़ेगा। इसका अन्दाज यहाँ दिये गये कुछ पेशों से मालूम हो जायेगा—

१ लोहार	१२ हलवाई	२३ कुम्हार	३४ पासी
२ बढ़ई	१३ कोइरी	२४ चूड़ीवाला	३५ दर्जी
३ धोबी	१४ ग्वाला	२५ संगतराश	३६ चोर
४ मल्लाह	१५ गँड़ेरिया	२६ रंगरेज़	३७ वेश्या
५ हजाम	१६ कसेरा	२७ कसाई	३८ जुआरी
६ सोनार	१७ चिड़ीमार	२८ धुनिया	३९ नशाखोर
७ चमार	१८ तेली	२९ पहलवान	४० साधुओं के शब्द
८ जुलाहा	१९ कलाल	३० राजगीर	४१ खाने की चीजें
९ पटवा	२० हलवाहा	३१ नुनिया	४२ सोने की चीजें
१० मछुआ	२१ माली	३२ भड़भूंजा	४३ पहनने की चीजें
११ मेहतर	२२ ओझा	३३ तम्बोली	४४ घर के बर्तन

४५ कालवाची शब्द
४६ नक्षत्रवाची शब्द
४७ भूतवाची शब्द
४८ स्थानीय परगना, तप्पा (टप्पा) आदि के नाम
४९ नाप और मान
५० घोड़े-सम्बन्धी शब्द
५१ हाथी ” ”
५२ बैल-सम्बन्धी शब्द
५३ गदहा ” ”
५४ भेड़-बकरी ” ”
५५ ऊसर आदि भूमि के भेद
५६ वृक्ष-भेद
५७ जलचर
५८ थलचर
५९ नभचर
६० विषधर जन्तु
६१ हिंसक जन्तु
६२ अनाजों के नाम
६३ बही-खाता
६४ आभूषण

सभी काम को सुचारु रूप से करने के लिये एक प्रबन्धक समिति तथा एक सम्पादक-मण्डल की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त एक संग्राहकों का मण्डल रहेगा। सम्पादक-मण्डल में उच्च कोटि के प्रामाणिक पुरुषों की अनेक जगह कमी रहेगी; किन्तु उसमें बाहर के मर्मज्ञों से सहायता ली जा सकती है। हाँ, हल्के दिल से यह काम नहीं किया जा सकता। विशेषत: व्याकरण और शब्द-कोष का काम तो बहुत ही सावधानी का है।

व्याकरण—हर एक उपस्थानीय भाषा का अलग व्याकरण न बनाकर किसी जगह की भाषा—जो दूसरी भाषाओं द्वारा अधिक अप्रभावित हो या अधिक प्रचलित हो, या केन्द्र में हो—को मध्यस्थ बनाकर बाकी भेदों को उसके द्वारा बतलाना।

कोष—इसमें खड़ीबोली में प्रचलित पर्यायवाची शब्दों के अतिरिक्त संस्कृत के बिगड़े तथा "देशी" शब्दों के लिये प्राकृत तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के पर्याय भी देने चाहियें।

यह काम अच्छा है, यह तो सभी कहेंगे, किन्तु इसकी दिक्कतों का लोगों को बहुत खयाल होगा। यह भय तब तक दूर न होगा, जब तक किसी एक भाषा का संग्रह पूरा न हो जाय। एक के तैयार हो जाने पर दूसरों को उस तजर्बे से बहुत फायदा होगा और दिक्कतों का ख़याल भी कम हो जायगा। यदि पहले ऐसे स्थान में काम किया जाय जिसमें निम्न विशेषताएँ हों, तो काम आदर्श रूप में, कम व्यय और कम समय में, समाप्त हो जायगा; और, इससे दूसरे भी जल्दी उत्साहित हो सकेंगे—

(१) भाषा ऐसी हो, जिसका क्षेत्र अपेक्षाकृत छोटा हो। (२) जिस भाषा के (कई शताब्दियों के अन्तर से) अनेक रूप उपलब्ध हों जिससे कि, तुलनात्मक अध्ययन में पूरी मदद मिल सके। (३) जहाँ भाषातत्त्वज्ञ तथा उस भाषा के मर्मज्ञ भी मिल सकें। (४) जहाँ की स्थानीय संस्थाएँ इसके लिये तैयार हों। (५) जहाँ उत्साही लेखक और कार्यकर्ता सुलभ हों। (६) जहाँ काम जल्दी समाप्त किया जा सकता हो।

मेरे खयाल में ऐसी भाषा मगही है। इसका क्षेत्र पटना और गया के जिले हैं, जिनका क्षेत्रफल ६,७७६ वर्गमील है; और, १९२१ ई० की जन-गणना में जनसंख्या २७,२७,२१७ थी। मगही भाषा के कितने ही रूप उपलब्ध हैं, जिनका जिक्र मैंने अपने दूसरे लेख में किया है।

(१४)

तिब्बत में भारतीय साहित्य और कला

तिब्बत की यात्रा और दृष्टियों से भी अत्यन्त मनोरंजक है, लेकिन मैं तो तीन बार तिब्बत सिर्फ साहित्यिक खोज के लिए ही गया हूँ। पहली बार (तिब्बत जाने से पहले और जाने के बाद भी) मेरी यही धारणा रही कि भारतीय ग्रन्थों के तिब्बती भाषान्तर ही वहाँ मिल सकते हैं। भारत से गये मूल-संस्कृत-ग्रन्थों के मिलने की बहुत कम संभावना है। पहली बार जिन लोगों से मैंने संस्कृत-ग्रन्थों के बारे में पूछा, उन्हें उनका पता नहीं था, और उनके ऊटपटाँग उत्तर से ही मेरी वह धारणा हुई थी। लेकिन जब मैं २२ खच्चर पोथियों को लेकर पहली बार तिब्बत से लौटा और अपनी छोटी पुस्तक 'तिब्बत में बौद्धधर्म' के लिखने के लिये उसकी ऐतिहासिक सामग्री की देखभाल करने लगा, तो मालूम हुआ कि भारत से गये हजारों संस्कृत-ग्रन्थ तिब्बत में भले ही न प्राप्त हों, किन्तु वहाँ कुछ संस्कृत-ग्रन्थ जरूर मिलेंगे। पहली बार तिब्बत से लौटने के बाद महान् बौद्ध नैयायिक धर्म-कीर्ति--जिन्हें पश्चिम के सर्वश्रेष्ठ जीवित भारत-तत्त्वज्ञ आचार्य शेरवात्स्की (लेनिनग्रेड) भारत का काण्ट कहते हैं—के प्रधान ग्रन्थ प्रमाण-वार्तिक को तिब्बती भाषा से संस्कृत में अनुवाद भी करने लगा था, लेकिन उसी समय मेरे मित्र श्री जयचन्द्र विद्यालङ्कार नेपाल गये थे और उन्होंने राज-गुरु पं० हेमराज शर्मा के पास उसकी संस्कृत प्रति देखी। संस्कृत प्रति खंडित थी, तो भी उस समय मुझे जान पड़ा कि संस्कृत प्रतियों की पूरी खोज किये बिना तिब्बती भाषा से संस्कृत करने का काम हाथ में न लेना चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि तिब्बती भाषा से संस्कृत कर देने के बाद मूल संस्कृत मिल जाय और फिर सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाय।

१९३४ ई० की दूसरी तिब्बत-यात्रा मैंने खास इसी मतलब से की थी और १९३६ ई० में तीसरी बार भी संस्कृत-ग्रन्थों की खोज में ही गया था। दूसरी यात्रा में मैंने ४० के करीब संस्कृत की ताल-पोथियों के बंडल देखे और तीसरी बार ८० के करीब नयी पोथियाँ देखीं। एक पोथी से मतलब एक पुस्तक नहीं।

पोथी मैं यहाँ वेष्टन के अर्थ में ले रहा हूँ और एक पोथी में अपूर्ण पुस्तक भी हो सकती है और अनेक पुस्तकें भी। इस प्रकार दूसरी यात्रा में खंडित और अखंडित १८४ ग्रन्थ देखे थे और तीसरी बार खंडित और अखंडित १५१ ग्रन्थ देखे। पिछली यात्रा में कुछ दार्शनिक ग्रन्थ मिले थे। लेकिन उस समय फोटो का सामान पूरा न होने से तथा लिखने के लिये समय का अभाव रहने से मैं धर्मकीर्ति के वादन्याय (सटीक) और प्रमाण वार्तिक के आधे अध्याय के भाष्य को ही लिखकर ला सका। अन्य ग्रन्थों की सिर्फ सूची बना सका था जो, १९३५ के बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल में छपी है। इस बार विशेषकर उन्हीं दार्शनिक धर्मकीर्ति तथा दूसरे बौद्ध दार्शनिकों के ग्रन्थों की खोज में ही वहाँ जाना पड़ा था और उसमें इतनी सफलता हुई है कि जितनी मैंने कभी कल्पना भी न की थी। वस्तुतः तिब्बत जाते समय एक दिन मुझे स्वप्न भी आया था। जिसमें मैंने देखा कि कोई आदमी ताल की पोथियों का एक बंडल बाँधकर मुझे दे गया। बंडल को खोलने पर उसमें दिङ्नाग का प्रमाण-समुच्चय, धर्मकीर्ति का प्रमाण वार्तिक तथा इसी तरह की कुछ और न्याय की पुस्तकें थीं। यद्यपि इस यात्रा में भी बौद्ध न्याय का मूल ग्रन्थ दिङ्नाग का प्रमाण समुच्चय नहीं मिल सका, और जब तक वह नहीं मिल जाता तब तक मैं अपने काम को अधूरा ही समझूँगा, तो भी उस स्वप्न में मुझे जितनी पुस्तकें मिली थीं उनसे कहीं अधिक मिली हैं। न्याय ग्रन्थों में मुझे निम्न ग्रन्थ मिले हैं।

१—**नागार्जुन** की विग्रहव्यावर्तनी-कारिका (स्ववृत्ति-सहित)। इस ग्रन्थ का विषय यद्यपि दर्शन है तो भी उसमें न्याय-सम्बन्धी बातें भी आती हैं और एक प्रकार से अब तक किसी भाषा में उपलभ्य बौद्ध न्याय ग्रंथों में यह सबसे प्राचीन है। वात्सायन ने न्याय भाष्य में इसका खंडन किया है, और जान तो पड़ता है कि न्याय-सूत्रकार दूसरे अध्याय में इस ग्रन्थ के कुछ मतों का खंडन करते हैं।

२—**धर्मकीर्ति**—प्रमाणवार्तिक तीन परिच्छेद मूल।

३—**प्रमाणवार्तिक-वृत्ति** (आचार्य मनोरथ नन्दी कृत) चारों परिच्छेद पर सम्पूर्ण। प्रमाणवार्तिक बहुत ही कठिन ग्रन्थ है और उसकी यह वृत्ति आशा से अधिक सरल है।

४—**प्रमाणवार्तिक** (स्ववृत्ति)। धर्मकीर्ति ने अपने मुख्य ग्रन्थ के स्वार्था-

नुमान परिच्छेद पर स्वयं वृत्ति लिखी थी। इस वृत्ति का एक चतुर्थांश इस यात्रा में मिला।

५—**स्ववृत्ति-टीका**—(आचार्य कर्णक गोमी कृत)। यह धर्मकीर्ति की स्ववृत्ति पर एक अच्छी टीका है जो आठ हजार श्लोकों के बराबर है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ मिल गया है।

६—**प्रमाणवार्तिक-भाष्य** (प्रज्ञाकर गुप्त कृत)। प्रज्ञाकर ने स्वार्थानुमान परिच्छेद छोड़कर बाकी तीन परिच्छेदों पर विस्तृत भाष्य लिखा है। प्रज्ञाकर नैयायिक और कवि थे। उनका १।२ ग्रन्थ पद्य में है और कितने ही पद्यों में काव्य का आनन्द आता है। संस्कृत दार्शनिकों में गद्य-पद्य मिश्रित ग्रन्थ लिखने की प्रणाली चलानेवाले प्रज्ञाकर गुप्त ही हैं। ये नालन्दा के आचार्य थे। इनकी शैली का अनुकरण पिछली शताब्दियों में उदयनाचार्य और पार्थसारथि मिश्र ने किया है। प्रज्ञाकर महान् बौद्ध नैयायिकों में से एक हैं। पिछली यात्रा में मुझे प्रज्ञाकर के इस ग्रन्थ के डेढ़ ही अध्याय मिल सके थे, और आधा अध्याय मैं लिखकर लाया था जो बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के त्रैमासिक में निकल भी चुका है। इस यात्रा में इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का एक दूसरा तालपत्र मिल गया।

७—**दुर्वेक मिश्र**। धर्मोत्तर-प्रदीप। धर्मकीर्ति के 'न्याय विन्दु' पर आचार्य धर्मोत्तर की पंजिका संस्कृत में छप चुकी है, उसी पंजिका की यह टीका है और संभवतः मगध के किसी ब्राह्मण बौद्ध पण्डित ने यह टीका लिखी है।

८—**धर्मकीर्ति के ग्रन्थ** 'हेतुविन्दु' पर धर्माकरदत्त की टीका थी जो अब अनुपलब्ध है। उसी ग्रन्थ पर दुर्वेक मिश्र ने यह टीका लिखी है।

९—**रत्नकीर्ति**। इनके न्याय पर छोटे-छोटे नौ निबंध (सर्वज्ञसिद्धि, अपोहसिद्धि, क्षणभंगसिद्धि, प्रमाणान्तर्भाव-प्रकरण, व्याप्तिनिर्णय, स्थिर-सिद्धि दूषण, चित्ताद्वैतप्रकरण, अवयविनिराकरण, सामान्यनिराकरण) इनमें से तीन को छोड़कर बाकी सब अनुपलभ्य थे। रत्नकीर्ति १०वीं शताब्दी के चतुर्थ पाद में विक्रमशिला के प्रधान आचार्य थे।

१०—**ज्ञानश्री**। क्षणभंगाध्याय। बौद्धों के मुख्य सिद्धान्त, कि दुनिया की सभी वस्तुयें क्षणिक हैं, इसका इसमें प्रतिपादन किया गया है और त्रिलोचन (वानस्पति मिश्र के गुरु) शंकर आदि प्राचीन ब्राह्मण नैयायिकों के मत का खंडन किया गया है। इसी ग्रन्थ के आक्षेपों के उत्तर में उदयनाचार्य ने अपने आत्म-तत्त्व-विवेक (या बौद्धाधिकार) को लिखा है।

११—किसी अज्ञात आचार्य ने '**तर्क-रहस्य**' नामक न्याय का एक ग्रन्थ लिखा है।

१२—शायद उसी अज्ञात आचार्य ने '**वादरहस्य**' नामक दूसरा ग्रन्थ लिखा है; जिसका कि प्रथम अध्याय उदयन के आत्मतत्त्व विवेक के खंडन में लिखा गया है।

इस यात्रा में उपलब्ध हुए दार्शनिक ग्रन्थों में निम्नलिखित ग्रन्थ बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—

१—**असंग** (४थी शताब्दी का अन्त)। योगाचारभूमि। योगाचार के सिद्धान्त आचार्य शंकर के वेदान्त से बहुत मिलते हैं, इसी कारण प्रतिद्वन्द्वियों ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। आचार्य असंग बौद्ध विज्ञानवादियों के प्रधान आचार्य हैं और उनके इसी ग्रन्थ के नाम पर पीछे सम्प्रदाय का नाम ही योगाचार पड़ गया। इस ग्रन्थ के अनुवाद तिब्बत और चीन की भाषाओं में हो चुके हैं।

२—**वसुबन्धु**। अभिधर्म-कोष-भाष्य। बौद्ध दर्शन के जानने के लिए यह सर्वोत्तम ग्रन्थ है। चीनी और तिब्बती दोनों भाषाओं में इसके अनुवाद मिलते हैं। चीनी भाषा से फ्रेंच में भी इसका अनुवाद हो चुका है, किन्तु ऐसी आशा नहीं थी कि वसुबन्धु का भाष्य मूल संस्कृत में मिल जायगा।

३—**भाव्य**। तर्कज्वाला (या मध्यक हृदय)। योगाचार-माध्यमिक सम्प्रदाय का यह एक बड़ा ही प्रौढ़ ग्रन्थ है, जिसमें अनेक बौद्ध वाह्य भारतीय दर्शनों की खूब आलोचना की गई है।

इनके अतिरिक्त अभिधर्म-समुच्चय, महायानोत्तर-तन्त्र मध्यम कवि-भंग-भाष्य (वसुबन्धु) आदि ग्रन्थों के भी खंडित अंश मिले हैं। कनिष्क के समकालीन कवि मातृचेट के अध्यर्द्ध-शतक की भी एक पूरी प्रति मिली है जिसमें बुद्ध और उनके सिद्धान्तों का स्तुतिरूप में वर्णन किया गया है। यह चीनी परिव्राजकों के भारत आने के समय नालंदा आदि विद्यापीठों में बहुत प्रचलित था।

तीसरी बार मैंने प्रायः ४० हजार श्लोकों (१ श्लोक = ३२ अक्षर) के बराबर ग्रन्थों को लिखा तथा १ लाख ६० हजार श्लोकों के बराबर फोटो लिये। फोटो की सामग्री की कमी से सभी आवश्यक ग्रन्थों का फोटो नहीं लिया जा सका। फिर भी जो दो लाख श्लोकों की सामग्री मैं अपने साथ

लाया हूँ वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और जिसके सुचारु रूप से सम्पादन करने में दर्जनों विद्वानों को अगले बारह बरस लगाने होंगे। ग्रन्थों की सूचना पाते ही कितने ही भारतीय और भारत से बाहर के विद्वानों ने पत्रों-द्वारा हर्ष प्रकट किया है और इस काम में सहायता देने की इच्छा भी प्रकट की है। इन महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थों के प्रकाशन के लिये कितनी ही भारतीय और अभारतीय संस्थाएँ सहर्ष तैयार हो सकती हैं, लेकिन मैं समझता हूँ कि इनमें अधिकांश ग्रन्थों का प्रकाशन बिहार से ही होना चाहिए, क्योंकि इनके रचयिताओं में अधिक बिहार के नालंदा और विक्रमशिला विद्यालयों के विद्वान् थे और तालपत्र-ग्रन्थ भी प्रायः सभी बिहार में ही लिखे गये थे।

इन ग्रन्थों में हिन्दी के आदि-कवि सिद्ध सरहपा के दोहाकोष तथा कुछ और हिन्दी पद्य हैं। अब तक हिन्दी कविता-काल का आरंभ ग्यारहवीं शताब्दी से माना जाता था और उसके मानने का भी कोई वैसा प्रमाण नहीं था। ८४ सिद्धों के काल पर मैं अलग लिख चुका हूँ जो फ्रांसीसी भाषा की अति सम्मानित अन्वेषण-पत्रिका जूर्नाल-आसियातिक में अनूदित होकर छप चुका है, और ग्रियर्सन जैसे भाषा-तत्त्व के विद्वानों ने भी इस काल को स्वीकार कर लिया है। सरहपा ८०० ई० में मौजूद थे, क्योंकि तिब्बती भाषा में अनूदित ग्रन्थ उन्हें पालवंशी महाराज धर्मपाल (७७०-८२५ ई०) का समसामयिक मानते हैं। मैं चाहता हूँ कि सरहपा के सभी हिन्दी काव्यग्रन्थ मूल हिन्दी में या तिब्बती अनु-वाद के रूप में आधुनिक भाषान्तर के साथ सरह-ग्रन्थावली के नाम से प्रकाशित किये जायँ जिसमें इस महान् हिन्दी कवि के चरित और व्यक्तित्व पर भी प्रकाश डाला जाय।

पिछली यात्रा में ही तिब्बत में मैंने बोधगया-मन्दिर के पत्थर के तीन और लकड़ी का एक नमूना देखा था। इनमें पत्थरवाले नमूने गया के पत्थर के हैं। शायद बारहवीं शताब्दी से पहले गया में ऐसे नमूने बनकर बिका करते थे। तिब्बत के यात्री अपने साथ इन नमूनों को ले गये थे और आजकल वे नर्थङ् तथा स्-क्या के मठों में रखे हुए हैं। उनके देखने से मालूम होता है कि बोधगया के प्रधान मंदिर (जिसके पूरब तरफ तीन दरवाजे थे) के पश्चिम की ओर बोधिवृक्ष के पास भी एक दरवाजा-सा था। उसके आसपास, बहुत-से स्तूप और मन्दिर थे और सभी एक चहारदिवारी से घिरे थे; जिसमें दक्षिण, पूर्व, उत्तर की ओर तीन विशाल द्वार भिन्न-भिन्न आकार के थे। वर्तमान बोध गया मन्दिर का, जब पिछली शताब्दी में जीर्णोद्धार हुआ तो उसके कितने ही भाग गिर गये थे और

जीर्णोद्धारकों के सामने पुराने मन्दिर का कोई नमूना नहीं था, इसीलिये तिब्बत में प्राप्य नमूने से वर्तमान मन्दिर में कहीं-कहीं विभिन्नता पाई जाती है ।

तिब्बत के कुछ बिहारों में कितने ही भारतीय चित्रपट भी मिलते हैं, जिनका अजन्ता की कला से सीधा सम्बन्ध है । इन चित्रों के फोटो लेने की मेरी बड़ी इच्छा थी, लेकिन उनके फोटो के लिए खास प्लेट की जरूरत थी जो मेरे पास मौजूद न थे ।

सा-स्क्य मठ के ग्य-ल्ह-खङ् में छोटी-छोटी कई सौ पीतल की मूर्तियाँ हैं जिनमें सौ से अधिक भारत से गई हुई हैं । इनके बनने का समय ५वीं से १२वीं शताब्दी तक हो सकता है । इनमें ढाई दर्जन से अधिक मूर्तियाँ तो कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हैं । कुछ मूर्तियों पर लेख भी हैं ! मैंने कितनी ही मूर्तियों का इस बार फोटो लिया है ।

पहली यात्राओं की अपेक्षा मेरी इस बार की यात्रा ग्यांची, टशीलुम्पो, सा-स्क्या इस छोटे से त्रिकोण—जिसकी प्रत्येक भुजा ६०-६५ मील से अधिक नहीं होती—तक ही परिसीमित रही है । यह त्रिकोण वस्तुतः भारत से सम्बन्ध रखनेवाली साहित्य और कला की अनमोल सामग्रियों का अच्छा संग्रह रखता है । मैं कम-से-कम एक बार और मध्य-तिब्बत की यात्रा करना चाहता हूँ और अच्छी तैयारी के साथ, जिसमें कि तिब्बत के जिन-जिन भागों में भारतीय वस्तुओं के होने की सम्भावना पाई जाती है वहाँ-वहाँ जाकर सभी चीजों की प्रतिलिपि या फोटो लिया जा सके ।

---

(१५)

सारन (बिहार)

विस्तार और सीमा

'सारन' बिहार की तिर्हुत कमिश्नरी का एक जिला है। इसका क्षेत्रफल २६७४ वर्गमील है। यह गोरखपुर, बलिया, आरा, पटना, मुजफ्फरपुर और चम्पारन जिले से घिरा हुआ है। इसकी उत्तरी और पूर्वी सीमा, गंडक, पश्चिमी सीमा घाघरा (सरयू) और दक्षिणी सीमा गंगा है।

इतिहास

प्राचीन समय में कुछ दक्षिण-पूर्वी भाग के अतिरिक्त, सभी सारन जिला प्राचीन मल्ल देश में था, जिन मल्लों की एक शाखा के गणतंत्र की राजधानी 'कुसीनारा' (वर्तमान कसया, जि० गोरखपुर) थी। बुद्ध के समय में 'गंडक' का, नाम "मही" पाली-ग्रन्थों में मिलता है; और उसी को मध्य देश की यमुना गंगा, सरयू, अचिरवती (राप्ती) और 'मही' में से एक कहा गया है। आज भी महरौड़ा फैक्टरी से होकर बहनेवाली नदी का निचला भाग 'मही' के नाम से ही प्रसिद्ध है। यह 'मही' शीतलपुर स्टेशन के पास आकर पूरब तरफ घूमा जाती है और सोनपुर में हरिहरनाथ महादेव के पास जाकर गंडक से मिल जाती है। बुद्ध के समय गंडक इसी धारा से बहा करती थी 'और शीतलपुर या गदिघवारा के पास कहीं पर गंगा से मिलती थी। उस समय 'मही के पूर्व क भाग—जिसमें आजकल दिघवारा, मिर्जापुर, परसा और सोनपुर के थाने हैं—ंडक-पार के देश से मिला था। यह भाग इस प्रकार वैशाली के शक्तिशाली प्रजातंत्र के अधीन था। आज भी इस भाग की भाषा सारन के और भागों की भाषा से कुछ भेद रखती है, और मुजफ्फरपुर जिले के गंडक के किनारेवाले भाग की भाषा से मेल रखती है। उदाहरणार्थ जहाँ सारन के और भागों में "न" (नहीं) कहते हैं, वहाँ, यहाँ के लोग "नँ" (नहीं) कहते हैं। वस्तुतः यह

बोली आसपास की भोजपुरी, मगही और मैथिली बोलियों से भिन्नता रखती है। यह भाग, जो पहले वैशाली के लिच्छवी क्षत्रियों के वज्जी-गणतंत्र (पंचायती राज्य) में था, गंडक की धारा के बदल जाने से 'सारन' में चला आया। आज भी "मही" के पूर्व की भूमि अधिकतर "बलुआ" (बालुका-मिश्रित) है, और साथ ही हरदिया आदि के 'चौर' (झील) भी इसी भाग में पड़ते हैं, जो बतला रहे हैं कि, किसी समय गंडक की धार इन्हीं जगहों से बहती थी। लोग भी कहते हैं कि, यह सारी भूमि गंडक की चाली हुई है।

इस प्रकार वर्तमान 'सारन' जिला प्राचीन मल्ल और वज्जी देशों के भाग से बना है। उक्त दोनों ही देश स्वतन्त्रताप्रिय और प्रजातन्त्रवादी थे। कौन कह सकता है कि आज सारनवासियों में जो निर्भीकता, जो स्वातन्त्र्य-प्रियता, जो उद्योगिता, जो साहसिकता पाई जाती है; उसको उन्होंने अपने सहस्रों वर्ष पूर्व के पूर्वजों से बरासत में नहीं पाया है? गणतंत्र जब आगे जाकर मगध-साम्राज्य में मिल गये, उसी समय सारन का भी मगध-साम्राज्य में मिल जाना सम्भव है। मौर्यों के समय की यद्यपि कोई चीज सारन में नहीं मिली है, तो भी इससे यह निष्कर्ष निकालना ठीक नहीं होगा कि, उस समय की कोई सामग्री यहाँ है ही नहीं। बात यह है कि, सारन में चिराँद, माझी, घूरापाली, दोन, सिवान, कल्याणपुर, बढ़या, दिघवा-दुबौली, अमनौर, सारन, पफउर, सोनपुर आदि कितने ही स्थान प्राचीन ध्वंसावशेषों से पूर्ण हैं; लेकिन आज तक उनकी खुदाई की ही नहीं गई। सोनपुर में, गंडक के किनारे काली जी के मन्दिर के पीछेवाली ठाकुरबाड़ी के आँगन में, तुलसी-चौतरे से जड़ा हुआ, शुङ्गकालीन (ईसा-पूर्व दूसरी सदी का) एक स्तम्भ है। यह स्तम्भ उस समय के और स्तम्भों की तरह चुनार के पत्थर का बना हुआ है। यह बुद्धगया में प्राप्त कठघरे (Railing) के खम्भे जैसा है। इसके अतिरिक्त और भी छोटे-मोटे पत्थर उसी जगह निकले हैं, यद्यपि उनका समय नहीं कहा जा सकता। उक्त स्थान से उत्तर तरफ मध्यकालीन कुछ मूर्तियाँ भी मिलती हैं। दिघवा-दुबौली में एक ताम्रपत्र भी मिला है, जिसमें कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार-वंशीय राजा महेन्द्रपाल ने 'सावर्णगोत्री भट्ट पद्मसर' को एक गाँव दान किया था। उससे यह भी मालूम होता है कि, उस समय ताम्रपत्र में दिया गया गाँव श्रावस्ती-मण्डल के 'वालसिका' विषय (जिला) में था। आज भी वह ताम्रपत्र दिघवाँ के पाँड़े लोगों के घर में है। मालूम होता है कि, सातवीं-आठवीं शताब्दी में 'सारन' कन्नौज के अधीन था, इसलिये कन्नौज-राज्य के भीतर बसनेवाले अन्य ब्राह्मणों की तरह सारन जिले

के ब्राह्मण भी कनौजिया कहे जाते हैं। सरयू-पार के होने से इन्हें 'सरयूपारी' या 'सरवरिया' भी कहते हैं। ब्राह्मणों के अतिरिक्त हजाम, कोइरी, अहीर आदि जातियों में भी कन्नौजिया काफी मिलते हैं। यही नहीं कि गुर्जर-प्रतिहारों से पहले, जिस समय (७वीं शताब्दी में) कन्नौज के सिंहासन पर सम्राट् हर्षवर्द्धन विराजमान थे—उस समय, यह जिला कान्यकुब्ज-साम्राज्य के अन्तर्गत था; बल्कि उनके स्वजातीय बैस-क्षत्रियों ने, मालूम होता है, इस जिले के 'इकमा' थाने के 'घूरापाली' गाँव में एक गढ़ भी बनवाया था। आज भी बैसों का वह गढ़ सड़क से थोड़ा दक्षिण हटकर 'दिजोर' के नाम से प्रसिद्ध है। समयान्तर में जब बैसों की शक्ति क्षीण हो गई, तब वे लोग अपने गढ़ को छोड़कर और स्थानों में—अतरसन, कोठियाँ-नरांव आदि—चले गये। उनके वंशधर आज भी इन जगहों में मौजूद हैं। अतरसन और कोठियाँ-नराँव के बैस-क्षत्रिय आज भी 'दिजोर' की सती-माई को पूजने जाते हैं। आज भी उन्हें अपनी प्राचीन स्मृति का एक धुंधला सा ख्याल है। मालूम होता है, गढ़ छोड़ने का कारण 'लाकठ' (राष्ट्रकूट या राठौर या गहरवार) हुए थे। सम्भवतः जब कन्नौज में गहरवारों का राज्य हुआ, तब उसी समय उनके स्वजातीय 'लाकठ' लोग इधर आये। उन्होंने बैस-क्षत्रियों की प्रभुता को हटाकर अपना सिक्का जमाया। आज भी 'दिजोर' के आसपास के गाँव 'लाकठों' के हैं। अतरसन में भी, बैस-क्षत्रियों की स्थिति बहुत खराब नहीं हुई थी। जान पड़ता है, तुर्कों के आने के समय अतरसन में एक अच्छा विष्णु-मन्दिर था; जिसकी काले पत्थरों की विष्णु मूर्ति आज भी उपलब्ध होकर एक शिवालय में रखी हुई है। वहीं पर विशाल गणेश की मूर्ति के खण्ड भी मिले हैं। साथ ही एक छोटी-सी बोधि-सत्व की प्रतिमा यह बतला रही है कि, कभी यहाँ बौद्ध भी थे। जान पड़ता है, तुर्कों ने यहाँ के मन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। पीछे कितने ही दिनों तक कितने ही तुर्क यहाँ रहते भी थे, जिनकी तकिया और कब्रों की हड्डियाँ आज भी उपलब्ध होती हैं।

'माँझी' में भी पालों के समय की बुद्ध-मूर्ति मिलती है। 'चिराँद' में किसी एक बौद्ध विहार या स्तूप के ऊपर बङ्गाल के शाहों की बनवायी मस्जिद है। 'दोन' में एक पुराने स्तूप का ध्वंसावशेष मिला है। और जगहों में यद्यपि उतना अन्वेषण नहीं हुआ है, तो भी बड़ी-बड़ी ईंटें, पुराने कुएँ आदि मिलते हैं। मालम पड़ता है, तुर्कों के हाथ में कन्नौज के चले जाने पर भी जयचन्द के पुत्र हरिश्चन्द्र का इस जिले पर अधिकार था। हरिश्चन्द्र के बाद (१३वीं शताब्दी

में) यह जिला दिल्ली के अधीन हो गया। मुसलमानी समय में जिले का प्रधान स्थान 'सारन' था, जो आज भी एक बड़े लम्बे-चौड़े 'डीह' (ऊँचे स्थान) पर एक छोटा-सा गाँव है। मुसलमानी काल में इस जिले का नाम 'सरकार सारन' था। १३वीं शताब्दी से १८वीं शताब्दी तक यह जिला यद्यपि मुसलमानों के हाथ में रहा, तो भी सारन के उत्तरी भाग का परगना 'कुआड़ी' और उसके आस-पास के कुछ हिस्से प्रतापी बगौछियों के हाथ में था। इस वंश के लोग पहले कल्याणपुर में राज्य करते थे, पीछे राजधानी 'हुस्सेपुर' हुई। जब अँगरेजों के आने पर (१७६५ ई० में) वीरश्रेष्ठ महाराज फतेह साही ने अँगरेजों की ताबेदारी स्वीकार न की, तब कम्पनी से बहुत संघर्ष हुआ। इस संघर्ष में महाराज को हुस्सेपुर छोड़कर 'तमकूही' के जंगलों में चला जाना पड़ा। सारन के इस 'प्रताप' (फतेहसाही) ने महाराणा प्रताप की तरह न जाने कितने कष्ट सहे, लेकिन तो भी जीवन भर उन्होंने दासता स्वीकार नहीं की। अँगरेजों ने १७९१ ई० में उनका राज्य भाई के पोते क्षत्रधारी साही को दे दिया। उस समय से राजधानी 'हथुआ' हो गई।

उक्त बगौछिया-वंश 'व्याघ्रपद-गोत्र' से बना है। मल्लों की ९ शाखाओं में कोली भी एक शाखा थी, जिसके वंश में सिद्धार्थ गौतम की शादी हुई थी। ये कोली लोग व्याघ्रपद-गोत्र के थे, और मल्लों की शाखा होने के कारण अन्य मल्लों की तरह इनके नाम के साथ भी 'मल्ल' लगना स्वाभाविक था। 'हथुआ' के राजाओं की, पचासों पुरानी पीढ़ियों तक, कल्याण मल्ल आदि की तरह, 'मल्ल' उपाधि होती थी। वस्तुतः 'पड़रौना' के राजा साहब (जो आजकल सैंथवार कहे जाते हैं) और हथुआ तथा तमकुही के बगौछिया (जो आजकल भूमिहार-ब्राह्मण कहे जाते हैं) एवं मझौली के राजा साहब (जो आजकल बिसेन-राजपूत कहे जाते हैं) एक ही मल्ल-क्षत्रियों के वंशधर हैं। कालान्तर में, भिन्न-भिन्न जातियों से विवाह-सम्बन्ध, प्रभुता-हानि, राज्य-क्रान्ति आदि कारणों से, इन्हें तीन जातियों में बँट जाना पड़ा। मझौली के राजवंश में भी राजाओं के नाम 'मल्ल' ही पर होते हैं। सैंथवारों में तो गरीब-से-गरीब सैंथवार मल्ल ही के नाम से पुकारा जाता है। आज भी यह जाति मल्ल देश के केन्द्र में बसती है।

सारन में 'अमनौर' के बाबू साहब एक प्रतिष्ठित राजपूत-वंश के हैं। यह वंश गहरवारों या राठौरों की एक शाखा से है और यहाँ 'कर्मवार' के नाम से प्रसिद्ध है। कर्मवारों के पहले अमनौर चौहानों का था। अब भी आसपास के

कितने ही गाँवों में चौहानों की काफी संख्या है। तुर्कों के आने से पहले भी यह स्थान अवश्य कुछ महत्त्व रखता था। आज भी अमनौर में, "रहता बाबा" के नाम से प्रसिद्ध, विशाल विष्णुमूर्ति के सिंहासन वाला काले पत्थर का भाग मौजूद है, जिससे मालूम होता है कि, किसी समय यहाँ एक विशाल विष्णु-मन्दिर था। पुराने गढ़ का निशान अभी मौजूद है। यह मन्दिर संभवतः १३वीं शताब्दी में तोड़ दिया गया होगा। तो भी बहादुर चौहान अपने अधिकार को छोड़ने के लिये तैयार न थे। दिल्ली को यहाँ से कौड़ी मिलनी मुश्किल थी। जान पड़ता है, इसीलिये बादशाह ने 'मकेर' परगना (जिसमें 'अमनौर' है) एक मुसल-मानी फकीर को माफी दे दिया। उक्त फकीर के साथ, दखल करने के लिये, कर्मवार-क्षत्रिय अमनौर पहुँचे। कहते हैं, फकीर ने अपने लिये सिर्फ 'मकेर' गाँव रखा और बाकी कर्मवारों को दे दिया। इसी वंश के दो भाइयों में से एक भाई किसी कारण मुसलमान हो गया, जिसके वंशधर आजकल मुजफ्फर-पुर जिले के परसौनी के राजा साहब हैं और दूसरे के वंशधर अमनौर के बाबू साहब हैं। एक बार अमनौर की सभी सम्पत्ति नष्ट हो चुकी थी, पीछे यहाँ के कोई पुरुष पेशवा के दरबार में गये और वहाँ उन्होंने अपनी बहादुरी से बड़ा सम्मान पाया। मराठा-साम्राज्य के नष्ट होने पर उक्त पुरुष बहुत सम्पत्ति के साथ अमनौर आये और उन्होंने फिर बहुत-सी जमीन्दारी खरीदी।

इनके अतिरिक्त किसी समय इस जिले के अधिकांश के अधिपति 'एक-सरिया भूमिहार' थे। यद्यपि इनकी अवस्था अब पहले की-सी नहीं है, तो भी चैनपुर और बगौरा के बाबू लोगों के पास काफी जमीन्दारी है। मुसलमानों में 'खोजवाँ' के नबाब खानदान की बड़ी प्रतिष्ठा है। ये लोग शिया मुसलमान हैं, इसीलिये हिन्दुओं से इनका सम्बन्ध हमेशा ही अच्छा रहा है।

सन् १७६५ ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बिहार और बंगाल की दीवानी मिली। उसी समय सारन जिला भी अँगरेजों के हाथ आया। पहले 'सारन' और 'चम्पारन' एक ही जिले में सम्मिलित थे। १८३७ ई० में 'चम्पारन' एक स्वतंत्र जिला मान लिया गया, लेकिन दोनों की मालगुजारी अलग न की गई। १८६६ में यह कर-विभाग भी अलग कर दिया गया। जिस समय सारन और चम्पारन का एक जिला था, उस समय 'परसा' (थाना परसा) में दीवानी कच-हरी थी और उसकी बड़ी श्रीवृद्धि भी थी। १८४८ ई० में 'सिवान' और १८७५ ई० में 'गोपालगंज' नाम के दो सब-डिवीजन कायम हुए, जिसके कारण

वहाँ कचहरियाँ भी चली गईं और इस प्रकार सिवान और गोपालगंज की तरक्की होने लगी।

नदियाँ, उपज और व्यापार

सारन जिले में यद्यपि धान की खेती काफी होती है, तो भी कितने ही भाग रब्बी और खरीफ के लिये ही उपयोगी हैं। किसी समय इस जिले में नील की बहुत-सी कोठियाँ थीं, लेकिन नील के उठने के साथ-साथ अब वे भी खतम हो गईं। इस जिले में ईख भी अच्छी होती है। महरौड़ा, पँचरुखी, महाराजगंज, सिवान सिधवलिया, शीतलपुर के चीनी के कारखानों के कारण ईख की खेती में और भी तरक्की हुई है। यद्यपि सिंचाई का समुचित प्रबन्ध नहीं है, तो भी कई एक इलाकों की ईख इन कारखानों के द्वारा खतम नहीं होने पाती। 'कुचायकोट' के दीयर की कुछ ईख तो सदा जला देनी पड़ती है। आज भी इस जिले में आधे दर्जन बड़े-बड़े चीनी के कारखानों की गुन्जायश है। मसरखथावे-लाइन (बी० एन० डब्ल्यू० रेलवे) के खुल जाने से ईख बोने वालों को और भी आसानी हो गयी है।

महाराजगंज और मीरगंज की मण्डियों में कपास की काफी आमदनी होती है। यद्यपि कपास की खेती के लिये उत्साह और उत्तेजना देने का प्रबन्ध नहीं है, तो भी कपास बोई जाती है और कपास बोने योग्य भूमि भी बहुत है। किसी समय जब इन दोनों जगहों में कपड़े के कारखाने खुल जायेंगे, तब इसमें शक नहीं कि, कपास की खेती में वैसी ही उन्नति होगी, जैसी चीनी के कारखानों से ईख की खेती में। भाट जमीन में रेंड़ी की भी खूब खेती होती है। इनके अतिरिक्त जौ, गेहूँ, सरसों, मटर, चना, मकई आदि की पैदावार भी होती है। 'कुआड़ी' परगने की तरफ कोदो और अन्य स्थानों पर मँडुए की भी खेती होती है। जिले के गरीब किसान अधिकतर मँडुआ, मकई, कोदो और शकरकंद तथा सुथनी पर ही गुजर करते हैं।

यहाँ की आबादी बहुत घनी है। जोतने लायक भूमि सभी जोती जा चुकी हैं। पशुओं के चरने के लिये बहुत कम जगह बाकी है। खेत के जोतने-बोने में जितना परिश्रम यहाँ के किसान करते हैं, उतना बिहार के किसी जिले के नहीं। एक तरह से, प्राचीन ढंग के अनुसार खेती की जितनी उन्नति की जा सकती है, उतनी यहाँ हो चुकी है। इसमें और अधिक उन्नति करने के लिये

वैज्ञानिक रीति का अवलम्बन करना होगा, जिसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई यह है कि खेत बहुत छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट गये हैं और कई जगह बिखरे हुए हैं। दूसरी कठिनाई यह है कि सिंचाई का ठीक प्रबंध न होने के कारण लोगों को अधिकतर दैव पर भरोसा रखना पड़ता है। तीसरी बात यह है कि और जगहों की तरह यहाँ के किसानों का भी सहयोग-समितियों, सरकारी वैज्ञानिक खेतों और कीमती कलों पर विश्वास नहीं है; क्योंकि ये चीजें ऐसे लोगों और महकमों द्वारा उनके सामने पेश की जाती हैं कि, वे उन्हें अपने बस और नफे की बात नहीं समझते। इन कठिनाइयों के हट जाने पर इसमें शक नहीं कि, यह जिला सबसे पहले नवीन ढंग की खेती को अपनायेगा। क्योंकि घनी आबादी और अधिक जनसंख्या के कारण इस जिले में जीवन-सङ्घर्ष अधिक है। यहाँ के निवासी बहुत पहले ही से आमदनी के हर-एक रास्ते को स्वीकार करने के लिये तैयार हैं। यहाँ के स्वतंत्र व्यवसाय-प्रेमी निवासी, किसान, दूकान-दार, हजाम, मजदूर, दरवान आदि केवल बिहार ही के हर एक जिले में नहीं, बल्कि दार्जिलिङ्ग, कलकत्ता, रंगून, पूर्व बंगाल, आसाम, बर्मा और सिंगापुर तक फैले हुए हैं। यहाँ तक कि, समुद्र-पार मोरिशस, दक्षिणी अफ्रीका, फीजी, ट्रिनी-डाड, गायना आदि में भी हजारों की संख्या में जाकर बस गये हैं। अपनी भाषा, भेष और व्यक्तित्व का जितना खयाल सारन-निवासियों को है, उतना शायद ही किसी और जिले के निवासियों को होगा। यहाँ के उच्च-शिक्षित जन भी घर या विदेश में—कहीं भी—मिलने पर, अपनी ही बोली (भोजपुरी भाषा) का प्रयोग करते हैं। चाहे यहाँ के हिन्दू और मुसलमान घर में लड़ते भी हों, तो भी विदेशों में जाने पर अकसर देखा जाता है कि, वे मजहब से भी अधिक अपने जिले को मानते हैं।

गङ्गा, सरयू, गंडक—इन तीन बड़ी नदियों के अतिरिक्त झरही, दाहा आदि कितनी ही नदियाँ इस जिले में हैं, जो अधिकतर किसी झील से निकली हैं अथवा जो गंडक, घाघरा (सरयू) या गङ्गा से निकलनेवाले सोते (स्रोत) हैं। गंडक की धारा अनिश्चित है, इसी कारण सारे जिले में उसके लिये एक मज-बूत बाँध बाँधा गया है। यद्यपि इस बाँध के कारण आसपास की बस्तियाँ बाढ़ से सुरक्षित हैं, तो भी बाढ़ की उपजाऊ मिट्टी न मिलने के कारण आसपास के खेतों की उर्वरा-शक्ति बहुत ही क्षीण हो गई है। यह अन्तर फसल के वक्त गंडक के बाँध पर खड़ा होकर दोनों ओर देखने से स्पष्ट मालूम होता है। जहाँ बाँध

के भीतर बिना खाद, सिंचाई और काफी जुताई के ही फसल उपज कर गिर जाती है; वहाँ बाँध से बाहर पीले-पीले पौधे एकदम मुझयि हुए दीख पड़ते हैं। गंडक की धार बहुत ऊँचे से बहती है, इसीलिये अल्प परिश्रम से नहरें निकाली जा सकती हैं। पहले 'सारन-केनाल' (Saran Canal) की नहरें काम भी कर रही थीं, लेकिन कितने ही वर्षों से सरकार ने उन्हें बन्द कर दिया है। इसी तरह कुछ झीलों (चौरों) से पानी का निकास न होने के कारण फसल का नुकसान होता है। उदाहरणार्थ हरदिया का चौंर है। लेकिन अभी तक सरकार को उधर ध्यान देने की फ़ुरसत ही नहीं है। छपरा मुफस्सिल थाने के कितने ही स्थानों को सरयू और गङ्गा का पानी नहरों द्वारा मिलता था, किन्तु न अब जमीन्दारों को उसकी परवाह है न सरकार को !

छपरा, सिवान, महाराजगञ्ज और मीरगञ्ज इस जिले में व्यापार के केन्द्र हैं। इसके अलावा मसरख, मैरवाँ, थावे, बरौली आदि में भी अच्छे बाजार हैं। सिवान में मिट्टी और काँसे के बरतन अच्छे बनते हैं। परसा (थाना इकमा) में भी काँसे के बरतनों की अच्छी ढलाई होती है। चिराँद और दिघवारे के आसपास पान की उपज अच्छी होती है। इस जिले में "परवल" की पैदावार भी खूब होती है।

जाति और सम्प्रदाय

इस जिले में सत्तासी फ़ीसदी से अधिक संख्या हिन्दुओं की है, बाकी मुसलमान हैं। ईसाई या दूसरे मजहबवाले नाम-मात्र के हैं। 'मुसलमान' सिवान और बड़हरिया थाने में अधिक हैं, जिनमें जुलाहा, धुनिया आदि की संख्या ज्यादा है। कितने ही राजपूत और भूमिहार 'मुसलमान' होकर अब पठान कहे जाते हैं। कितने ही बढ़ई, माली और तेली भी मुसलमान पाये जाते हैं। इसी प्रकार 'कुआड़ी' में कितने ही हिन्दू दर्जी भी हैं। हजाम और धोबी दोनों मजहब के पाये जाते हैं। शिया मुसलमानों की संख्या बहुत कम है, तो भी वे अधिक शिक्षित, सभ्य और धन-सम्पन्न हैं। अधिक संख्या यहाँ अहीरों का है। परसा और मिर्जापुर के थाने में; सरंयू, हैं। हिन्दुओं में गङ्गा और गंडक के दीयरों और कछारों में, गोचर-भूमि की अधिकता के कारण, इन (अहीरों) की संख्या अधिक मिलती है। यह बड़ी मेहनती और बहादुर जाति है; लेकिन गाय-भैंसों के पालने की पहले जैसी सुविधा न होने के कारण इनकी आर्थिक अवस्था बहुत गिरी हुई है। इस जिले के लोगों को पशु-रक्षा से बड़ा प्रेम है और वे अपने बैलों को खिला पिलाकर जगह-जगह लगनेवाली हाटों में बेंचते रहते हैं।

अहीरों के बाद इस जिले में राजपूत, ब्राह्मण और भूमिहार ही संख्या में अधिक हैं, जिनमें स्वावलम्बी एवं स्वाभिमानी भूमिहार ब्राह्मण आर्थिक दृष्टि से सबसे अच्छे हैं। शिक्षा में कायस्थों के बाद इन्हीं का नम्बर है। इनके अतिरिक्त चमार, दुसाध आदि जातियाँ भी हैं। कोइरी ऐसे तो जिले भर में फैले हुए हैं; लेकिन 'कुआड़ी' में उनकी संख्या अधिक है। जैसवार कुर्मी के अतिरिक्त अवधिया लोग मिर्जापुर तथा परसा थाने में अधिक मिलते हैं। राजपूतों और भूमिहारों में कितनी ही एक ही गोत्र और एक ही मूल की उपजातियाँ हैं। जैसे टेटिहा राजपूत और टेटिहा भूमिहार दोनों ही के गोत्र काश्यप हैं। जान पड़ता है ये जातियाँ एक ही वंश की दो शाखाएँ हैं, जो कालान्तर में दो—ब्राह्मण और क्षत्रिय—वर्णों में विभक्त हो गईं। इसी प्रकार कितने ही भूमिहार 'ब्राह्मण' और कितने ही ब्राह्मण 'भूमिहार' के रूप में परिणत हो गये। इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। हिन्दुओं में शैव, वैष्णव, कबीरपन्थी, शिवनारायणी, आर्य-समाजी आदि कितने ही मत के आदमी मिलते हैं।

मेले

गाय, बैल, हाथी, घोड़ा, सभी के क्रय-विक्रय के लिये 'सोनपुर' (हरिहरक्षेत्र) का मेला सारे हिन्दुस्तान में प्रसिद्ध है। सोनपुर में, कार्तिकी पूर्णिमा को, १५ दिनों के लिये, एक खासा शहर बस जाता है, जिसमें हिन्दुस्तान भर के सौदागर हर तरह की चीजें बेचने को लाते हैं। उस वक्त तो कई हजार हाथी ही बिकने को आते हैं। मेले में अब पानी के कल का भी प्रबन्ध हो गया है और आशा की जाती है कि, कुछ दिनों में बिजली की रोशनी और स्वास्थ्यरक्षा तथा सफाई का भी पूरा प्रबन्ध हो जायगा। १८५७ के सिपाही विद्रोह के समय भी यह मेला लगता था, तो भी वृद्धों का कहना है कि, पचास-साठ वर्ष पहले यह मेला इतना बड़ा न था। मुसलमानी शासन के अन्तिम दिनों या कम्पनी के आरम्भिक दिनों में इस मेले का आरम्भ हुआ जान पड़ता है। हाँ, हरिहरनाथ की पूजा का छोटा-मोटा मेला पहले का भी हो सकता है। सोनपुर के अतिरिक्त चैत्र-रामनवमी को लगनेवाला 'डुमरसन' का घोड़ा-बैल का मेला भी प्रसिद्ध है। बरईपट्टी, छितौली आदि में भी घोड़ा-बैल के मेले लगते हैं। ऐसे तो हाट की तरह सप्ताह में बैल-हट्टा पचासों जगहों में लगा करता है। देवताओं और स्नान-सम्बन्धी मेलों में सेमरिया, आमी, सिल्हौरी, ढोंढ़नाथ, मेंहदार, थावे और भैरवाँ के भी मेले उल्लेखनीय हैं।

साहित्य और शिक्षा प्रचार

यहाँ के पुराने समय के साहित्यिकों का कोई पता नहीं मिलता। मल्ल और वज्जी दोनों ही देशों में अब्राह्मण धर्मों की ही प्रधानता थी। जरूर उस समय यहाँ के लोगों में कवि और विचारक पैदा हुए होंगे; लेकिन मालूम होता है कि, पीछे ब्राह्मणों की प्रधानता और बौद्धधर्म के लुप्त हो जाने के कारण उनके नाम और उनकी कृतियाँ, दोनों ही लुप्त हो गये। मुसलमानी जमाने में, शाहजहाँ के समय, माझी में धरणीदास नामक एक सन्त और कवि हुए थे, जिनके 'ज्ञान-प्रकाश' और 'प्रेमप्रकाश' नामक दो ग्रन्थ अब भी मौजूद हैं। माँझी के मुसलमान-राजपूत बाबू लोग कविता के बड़े ही प्रेमी थे। जमीन्दार भी उस वक्त साहित्य की ओर रुचि रखते थे। कबीर-पन्थियों का अत्यन्त पुराना मठ 'धनौती' में आज भी विद्यमान है। कवि धरणीदास (१७वीं शताब्दी) के बाद के साहित्यिकों के नाम भी आजकल मिलने मुश्किल हैं। १९वीं शताब्दी के मध्य में गयासपुर (थाना 'सिसवन') के 'सखावत' ने वीर कुँवरसिंह का "कुँवर-पचासा" बनाया था, जो अभी तक अप्रकाशित है और जिसका एक पद्य इस तरह है—

"बारह सौ एकसट्ठ में, ग्रीषम रितु जेठ मास।
बाबू कूँअर सिंह ने, किय गोरन को नास ॥"

सखावत ने रावण-मन्दोदरी-संवाद भी लिखा था। उनकी कविताएँ अब भी कुछ लोगों को कण्ठस्थ हैं; लेकिन पाठ बहुत अशुद्ध हो गये हैं। उनके बाद १९वीं शताब्दी के अन्त में माँझा के स्वामी बाबू श्रीधर साही तथा पटेढ़ी के बाबू नगनारायण सिंह भी अच्छे साहित्य-प्रेमी तथा स्वयं कवि थे। उक्त श्रीधर कवि की एक कविता इस प्रकार है—

"एरी रसना तू रसवाली कहवे तो,
रस का पियाला मैं पिलाऊँ तोहि रहु-रहु।
यही लोभ लिये मैं तो मेवाजात काबुल को,
मोल ले खिलाऊँ औ खिलाऊँ जौन चहु-चहु।
पालि-पालि श्रीधर रिष्ठ-पुष्ट कीन्हों तोहि,
पावन हुआ चाहु तो ऐसो लाह लहु-लहु।
रैन-दिन जामहूँ में घरी-छन कामहूँ में,
राधाकृष्ण राधाकृष्ण राधाकृष्ण कहु-कहु ॥"

पिछली शताब्दी और वर्तमान शताब्दी में तो इस जिले ने कई लेखक और वक्ता पैदा किये हैं। संस्कृत के दिग्गज विद्वान्, हिन्दी के सुलेखक महा-महोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्मा को पैदा करने का सौभाग्य इसी जिले को है।[१] पण्डित गयादत्त त्रिपाठी, पण्डित शिवशरण शर्मा, 'सूर्योदय' सम्पादक पण्डित विन्ध्येश्वरीप्रसाद शास्त्री, पण्डित गोपालप्रसाद शास्त्री आदि कितने ही उच्च-कोटि के संस्कृतज्ञ विद्वान्, वक्ता और लेखक इस जिले में वर्तमान हैं। हिन्दी-लेखकों में बाबू राजबल्लभ सहाय, बाबू दामोदर सहाय सिंह 'कवि किंकर', बाबू पारसनाथ सिंह बी० ए०, एल्-एल० बी०, पण्डित जीवानन्द शर्मा 'काव्यतीर्थ' ('श्रीकमला' और 'प्रजाबन्धु' के भूतपूर्व सम्पादक), गोस्वामी भैरव गिरि, बाबू विश्वनाथ सहाय ('महावीर'-सम्पादक) आदि भी यहीं के हैं। पटना के अँगरेजी दैनिक 'सर्चलाइट' के सम्पादक बाबू मुरली मनोहर प्रसाद वर्मा भी इसी जिले के हैं।

बिहार में सबसे ज्यादा शिक्षा का प्रचार इसी जिले में है। यहाँ कहीं भी एक मील से दूर पर स्कूल नहीं है। इस जिले में २० के करीब हाईस्कूल और ३५ के करीब मिडिल इं० स्कूल हैं। इस जिले में प्राय: १० वर्षों से मिडिल तक हिन्दी-शिक्षा नि:शुल्क है। जिला-बोर्डों में सुधार के साथ ही, सौभाग्य से, इस जिले को स्वर्गीय महात्मा मज्हरुलहक साहब-जैसा चेयरमैन मिला। उन्होंने अपना सारा समय जिले में शिक्षा प्रचार करने में लगा दिया था। उसी समय स्वर्गीय बाबू राधिकाप्रसाद जी इस जिले के स्कूलों के डिपुटी-इन्सपेक्टर थे। इस सुन्दर जोड़ी के मिल जाने से इस जिले ने पिछले १० वर्षों में शिक्षा में बड़ी उन्नति की। लोगों में अंग्रेजी मिडिल स्कूल और हाई स्कूल खोलने को तो होड़-सी लग गई। इतनी माध्यमिक शिक्षा-संस्थाओं के खोलने का उत्साह बिहार के और किसी जिले में देखा नहीं जाता। स्कूल खुलने नहीं पाता कि, विद्यार्थी भर जाते हैं।

जन-नायक

स्वर्गीय महात्मा मज्हरुलहक साहब, बाबू राजेन्द्रप्रसाद और बाबू ब्रज-किशोर प्रसाद-जैसे नेताओं की जन्मभूमि भी यही जिला है। यहाँ ऐसे जन-

---

१. स्वनामधन्य विद्या-प्रेमी स्वर्गीय खुदाबख्श खाँ भी इसी जिले के निवासी थे, जिनकी जगत्प्रसिद्ध ओरिएण्टल लाइब्रेरी पटना में मौजूद है।

—लेखक

नायकों की काफी संख्या है, जो दूसरे जिलों में जाकर आसानी से सर्वमान्य नेता बन सकते हैं ।

मल्ल (पहलवान)

ग्रियर्सन ने भोजपुरी बोली को बहादुरों की बोली बतलाया है, लेकिन 'सारन' केवल भोजपुरी बोली ही नहीं बोलता, बल्कि यहाँ के निवासी बड़े सबल-शरीर भी होते हैं। प्राचीन मल्ल देश के सम्बन्ध से ही शायद पहलवानों को 'मल्ल' कहते हैं। यहाँ के लोग बिहार के और जिलों की अपेक्षा अधिक मजबूत और मोटे-ताजे होते हैं। यद्यपि कुश्ती का पहले जैसा शौक अब लोगों में नहीं देखा जाता, तो भी यहाँ की भूमि कभी-कभी बड़े बड़े पहलवानों को पैदा कर देती है। भारत-प्रसिद्ध पहलवान स्वर्गीय बाबू सुचित सिंह यहीं के थे। आज भी, अन्य कई पहलवानों के अतिरिक्त, बाबू वंशी सिंह नामक बड़े ही प्रसिद्ध पहलवान इसी जिले के हैं।

शहर और कस्बे

छपरा—अँगरेजों के आने से पहले 'छपरा' का उतना महत्त्व न था, लेकिन कम्पनी के आने के साथ ही यहाँ की श्री वृद्धि हुई। अँगरेजों और दूसरी यूरोपीय जातियों ने यहाँ अपनी कोठियाँ खोलीं। गंगा और घाघरा के पास होने के कारण यहाँ माल से भरी नावों के आने-जाने की आसानी भी थी। पीछे अनेक व्यवसायी आकर बसने लगे। सारन-जिले का मुख्य केन्द्र नगर हो जाने पर तो इसके लिये और भी तरक्की का रास्ता खुल गया। आजकल इस शहर की आबादी आधे लाख के करीब है। यहाँ सरकारी कचहरियों के अतिरिक्त चार हाई-स्कूल, आदमी और जानवरों के अस्पताल हैं। यहाँ से एक रेल-पथ 'सोनपुर' होता हुआ कटिहार की ओर गया है; दूसरा माँझी होकर बनारस की ओर, तीसरा सिवान होकर गोरखपुर की ओर, चौथा मसरख, गोपालगंज और थावे होता हुआ सिवान में आ मिला है। 'पटना' जाने के लिये 'सोनपुर' से पहलेजा-घाट जाना पड़ता है। इसी प्रकार दुरौंध से एक लाइन महाराजगंज को और थावे से एक लाइन कप्तानगंज और गोरखपुर को गई है। यद्यपि यह नगर सारन जिले के बीच में न होकर एक किनारे पर है, तो भी यहाँ चारों ओर की रेलों का मिलान होता है। भोजपुरी-भाषा-भाषी प्रदेश के तो यह केन्द्र में अवस्थित है, इसीलिये यहाँ की भोजपुरी का टकसाली होना स्वाभाविक है।

रिबिलगंज—पहले यहाँ व्यापार की एक मण्डी थी। गंगा और सरयू का यहीं संगम होता था। किन्तु आजकल रेल के हो जाने से इसका वह महत्त्व जाता रहा। यद्यपि यहाँ म्युनिसिपैलिटी है, तो भी कस्बे की अवस्था दिन-पर-दिन गिरती ही जाती है।

सिवान—सारन जिले के एक सब-डिवीजन का यह सदर है। यहाँ के मिट्टी और काँसे के बरतन बहुत मशहूर हैं। इसका दूसरा नाम 'अलीगंज' भी है। यहाँ ईख के दो और रुई धुनने का एक कारखाना है। उद्योग-धन्धे की वृद्धि की और भी गुंजाइश है। यहाँ दो हाईस्कूल भी हैं।

हथुआ—यह इस जिले के सबसे बड़े जमीन्दार महाराजा-बहादुर हथुआ की राजधानी है। यहाँ भी राज की तरफ से एक हाईस्कूल है। इधर बहुत वर्षों से राज की तरफ से किसी भी सार्वजनिक काम के लिये कोई उद्योग नहीं हुआ है और न कस्बे ही की उन्नति के लिये कुछ किया गया है।

———

(१६)

सहोर और विक्रमशिला

आधुनिक काल में शरच्चन्द्रदास सर्वप्रथम भारतीय हैं, जिन्होंने भोट और भोटिया साहित्य की खोज में सर्वप्रथम प्रयत्न किया। उन्होंने भोट में प्रथम भारतीय प्रचारक 'तत्त्वसंग्रह' कार, महान् दार्शनिक, नालन्दा के आचार्य शान्त-रक्षित (अष्टम शताब्दी) को बंगाली लिखा। उन्हीं का अनुकरण करते हुए डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य ने तत्त्वसंग्रह[1] की भूमिका में सहोर को ढाका जिले के विक्रमपुर परगने का साभर ग्राम निश्चय कर डाला; भट्टाचार्य महाशय के इस निश्चय के लिये उन्हें कुछ नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उन्होंने भोटिया ग्रंथों को देखा नहीं। किन्तु आश्चर्य तो यह है कि अनेक दृढ़ तथा स्पष्ट प्रमाणों के होते, स्वर्गीय श्री शरच्चन्द्रदास तथा महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण इस निश्चय पर कैसे पहुँचे। इसके दो ही कारण हो सकते हैं, या तो उनके सामने वे सारे प्रमाण वाले ग्रंथ नहीं थे; अथवा उन्होंने भी कितने ही बंगाली विद्वानों की भाँति, भारत के सभी मस्तिष्कों को बंगाली बनाने की धुन में ऐसा किया।

जिस स्थान सहोर तथा 'भगल' (भंगल) के कारण यह गलती हुई है, वह आचार्य शान्तरक्षित के अतिरिक्त विक्रमशिला के आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान की भी जन्म-भूमि थी। इस स्थान के विषय में भोटिया ग्रंथों से यहाँ कुछ उद्धरण देना चाहता हूँ।

ल्हासा के पास ही छुन्-जे-लिङ्-गुम्वा-विहार है। इसके छापाखाना के (ङ) नामक पोथी के पृष्ठ १५२–९२ में दीपंकर श्री ज्ञान की जीवनी है। उसमें लिखा है:—

(पृ० १५२) "संस्कृत भाषा में दीपंकर श्रीज्ञान भोट की भाषा में द्पल्-मर्-

---

१. तत्त्वसंग्रह—Vol II.p.XIII. Gailkevad's Oriental Series.

मे-म्जद्-ये-शेस् । अन्य नाम जो-वो (भट्टारक) तथा अतिशा है ।........जन्म देश है, (१) भारत की पूर्व दिशा में सहोर। वहाँ (२) भंगल नाम का बड़ा पुर (नगर) है।........जिसके अन्दर राजप्रासाद कांचनध्वज (ग्सेर्-ग्यि-र्ग्यल-म्छन्) ....था।.... । पिता थे राजा कल्याण श्री (द्गे-वई-द्पल्)... । माता श्री प्रभावती (द्पल्-मो-ओद्-ज़े र्-चन्).... । दोनों को (एक) पुत्र जल-पुरुष-अश्व-वर्ष (छु-फो-र्त-लो = मन्मथ संवत्सर १०३९ विक्रमाब्द, ९८२ सन ई०) में हुआ ।.... (पृष्ठ १५३)........उस प्रासाद (कांचन ध्वज) के (३) नातिदूर (मि-रिङ-व-शिग्-व) विकमल पुरि (? विक्रमशिला) नामक विहार (ग्चुग्-लग्-खङ) है ।.... । पाँच सौ रथों को ले परिवारित राजा....उस विहार में गये ।...(पृ० १५५).... उस प्रासाद के नातिदूर एक आवास में जितारि....रहते हैं, सुना ।....।"

ल्हासा और भोट का सबसे बड़ा विहार डे-पुङ (ऽब्रस्-स्पु ङस्) है । जिसमें सात हजार से अधिक भिक्षु वास करते हैं। पाँचवें दलाई लामा ब्लो ब्-जङ-र्ग्य म्छो (सुमति सागर १६१८–८४ ई०) यहीं के एक महन्थ थे, जिनको मंगोलों ने भोट देश सारा जीतकर, गुरु दक्षिणा में दिया। और उन्हीं के उत्तराधिकारी और अवतार वर्त्तमान तेरहवें दलाई लामा थुब्-ब्स्तन्-र्ग्य-म्छो (मुनि शासन सागर) हैं। इस विहार के छापाखाने के (जौ नामक पोथी में 'गुरु गुण धर्माकर ब्ल्-मइ-योन्-तन्-छोस्-क्यि-ऽब्युङ-ग्नस्) नाम वाला दीपंकर का जीवन चरित है । इसमें लिखा है—

(पृ० १) "भारत पूर्व दिशा सहोर देशोत्तम में, भंगल नामक पुर है। इसके स्वामी धर्मराज कल्याण श्री.... । प्रासाद कांचन ध्वज। मनुष्यों के घर एक लाख .... । धर्मराज की रानी श्री प्रभावती....।....(६) उस प्रासाद के उत्तर दिशा में विक्रमल पुरी (= विक्रमशिला) है। उस विहार में जाकर पूजा करने को माता पिता....पाँच सौ रथों के साथ.... ।"

पीछे पढ़ने तथा भिक्षु बनने के लिए नालन्दा[१] जाने पर (१००२ ई० ?) दीपंकर ने नालन्दा के राजा (विग्रहपाल द्वितीय ?) को कहा था— (पृ० ७) "....मैं पूर्व दिशा सहोर देश से आया हू । कांचनध्वज प्रासाद से आया हूँ ।.... नालन्दा के राजा ने कहा—तुम पूर्व दिशा सहोर राजा के कुमार हो ।....(७)

१. नालन्दा (बड़गाँव) से बिहार शरीफ ६ ही मील पर है, जो कि पालवंशियों की राजधानी थी ।

तुमने[1] विक्रमपुर में ही अनन्त देववदन सदृश रत्न-प्रासाद में भिक्षु बनने को मन में नहीं किया···· । ···· (पृ०९) "मैं भंगल के राजा का पुत्र हूँ। कांचनध्वज महल से आया हूँ । नालन्दा विहार आया ।········ ।"

इसी (ज) पोथी के चौथे ग्रंथ "जो-वो-द्पल-ल्दन्-मर्-मे-म्ज़द्-ये-शेस्-क्यि-र्नम्-थर्-र्ग्यस्-प" (भट्टारक दीपंकर श्रीज्ञान की वृहत् जीवनी) में आता है ।

(पृ० २१) "(८) श्री वज्रासन (बुद्ध गया) की पूर्व दिशा में भंगल महादेश है। उस भंगल देश में बड़ा नगर है भिक्रपुरी····। (९) इस (देश) का नामान्तर सहोर है । जिसके भीतर (१०) भिक्रमपुरी नामक नगर है ।········ " फिर लिखा है (पृ० २२) "········पूर्व दिशा देशोत्तम सहोर है। वहाँ भिक्रमलपुरी महा-नगर है········।"

इसी ग्रन्थ में विक्रमशिला के निर्माण के सम्बन्ध में यह बातें मिलती हैं— (पृ० ३९) "········संस्कृत भाषा में नाम 'गोपाल' है।····उसके····पुत्र····राजा धर्मपाल····(पृ० ४०) इस राजा का पुत्र····देवपाल नामक हुआ ।····इस राजा ने ····विहार बनवाया····नाम विकमलशील हुआ।········ ।"

तिब्बत से जो लोग दीपंकर को बुलाने आये थे उनका विक्रमशिला का मार्ग इस प्रकार था :—

(पृ०४९) "····नेपाल से····भारत मध्य देश में पहुँचे । (१०) जाने पर गंगा नदी है। दिन समाप्त होते गंगा नदी के घाट पर पहुँचे ।····(पृ० ५०)····वहाँ गंगा नदी के तटपर (११) एक पहाड़ी (ब्रग्-देउ-शिग् = शिला) के ऊपर विक्रम-शिला थी। वहाँ जा उसके पश्चिम के मुसाफिरखाना में जा····।"

लामा कुन्-म्ख्येन्-पद्-मद्कर्-पो (सर्वज्ञ पुण्डरीक) के छोस्-ब्युङ (धर्मोद्भव) में इस विषय में यह बातें मिलती हैं—

(पृ० १४०) "(दीपंकर) पूर्व दिशा भंगल के कांचनध्वज प्रासाद में बोधि-सत्व शांतरक्षित के जाति वाले क्षत्रिय वंश में (उत्पन्न हुये । उनके) पिता कल्याण श्री और माता श्री प्रभावती········। अवधूतिपाद (=मैत्रिपाद= अद्वयवज्र) के पास १२ वर्ष से १८ वर्ष तक। (पृ० १३५)······उस समय विक्रमशिला के पूर्व दिशा में शांतिपाद (=रत्नाकर शान्ति)। दक्षिण दिशा

---

१. भोटिया में है—ख्योदं क्यि कं वि क्रं मं नि इं पु रं न । दकोनं चोगं कों ब्रउंङ् ल्हं यि गशल्यं यसं अद्रं । खं तुं ब्युङं वं बसमं ग्यिसं मिं ख्यवं बशुगस ।

में वागीश्वर·······। पश्चिम दिशा में प्रज्ञाकर मति। उत्तर दिशा में श्री नारोपा (नाडपाद)······ (पृष्ठ १४८) उस समय (भिक्षु) संघ के चार वर्ग थे—अोडन्तपुरी[1], श्री नालन्दा, वज्रासन और विक्रमशिला। (दीपंकर) पिछले (१३) अपने जन्म वाले विहार में वास करते थे······ (पृष्ठ १५६) विक्रमशिला में छै द्वार-पंडित थे। पूर्व दिशा के द्वारपाल (पंडित) रत्नाकर शान्ति (शांतिपा)····व्याकरण और न्याय में······। दक्षिण दिशा में वागीश्वर कीर्ति व्याकरण, न्याय, काव्य में······। पश्चिम दिशा में प्रज्ञाकर मति·······। उत्तर दिशा में भट्टारक 'नरोत्पल' महायान और तंत्र में। मध्य में दो (पंडित) रत्नवज्र तथा ज्ञानमित्र; काश्मीरिक ज्ञानमित्र नहीं।"

ल्हासा के कुर्न्-ब्दे-ग्लिङ विहार के छापाखाने के 'स्देब्-ग्तेर्-स्ङोन् पो' नामक पोथी के 'च' भाग में दीपंकर श्रीज्ञान की एक छोटी-सी जीवनी है, जिसमें लिखा है—

(पृष्ठ १) "१—भारतीय सहोर कहते हैं, भोटिया सहोर··· ··· बळा देश··············।"

इन उद्धरणों से हमें निम्न बातें मालूम होती हैं—

१. सहोर भारतीयों का सहोर है (१४) जो भारत में पूर्व दिशा में था (१) (४)।

२. इसका दूसरा नाम भंगल या भगल था (९)।

३. इसकी राजधानी विक्रमपुरी थी (१०)। जो भंगल या भगलपुर के नाम से भी पुकारी जाती थी (२), (५)।

४. राजधानी (भंगलपुर या विक्रमपुरी) या राजप्रासाद से थोड़ी दूर पर (३), उत्तर तरफ (६) विक्रमपुरी (=विक्रमशिला) विहार था।

५. यह विक्रमशिला दीपंकर के जन्म-स्थान का विहार था (१३)।

६. विक्रमशिला गंगा तट पर (११) एक पहाळी के ऊपर (१२) थी।

भागलपुर भोटिया भगलपुर है। आज भी जिस पर्गने में भागलपुर शहर अवस्थित है, उसे सबोर कहते हैं। सबोर=सभोर=सहोर, एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न उच्चारण हैं। विक्रमशिला के लिये सुलतानगञ्ज सबसे अनुकूल

---

१. ओडन्तपुरी या उड्यन्तपुरी वर्त्तमान बिहार शरीफ है, जिसके पास वाली पहाड़ी पर विहार था। वहीं पर आजकल दर्गाह है।

स्थान जंचता है। यह भागलपुर से उत्तर है। यहाँ से पीतल की एक गुप्तकालीन विशाल मूर्ति मिली है। मुरली और अजगैबीनाथ की दोनों पहाळियाँ वस्तुतः शिला ही हैं। इन पर गुप्ताक्षर में खुदे लेख इनका गुप्त सम्राट् विक्रम से सम्बन्ध जोळ सकते हैं। वस्तुतः देवपाल (८०९-४९ ई०) के विहार बनवाने से पूर्व भी स्थान शिला और विक्रम के सम्बन्ध से विक्रमशिला के नाम से प्रसिद्ध रहा होगा। यह सब बातें सुल्तानगंज के विक्रमशिला होने के पक्ष में हैं। किन्तु सबसे बळी दिक्कत यह है, कि यहाँ इमारतों की नीवें, मूर्त्तियाँ तथा ध्वंस उतने विस्तृत नहीं हैं, जितने कि विक्रमशिला के होने चाहिए। दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक विक्रमशिला नालन्दा का समकक्ष विहार था। पालवंश का राजगुरु इस विहार का प्रधान होता था। ऐसे विहार के लिये सुल्तानगंज में प्राप्त सामग्री अपर्याप्त है। कोलगंज के पास पाथरघट्टा स्थान को विक्रमशिला होने में और भी आपत्ति है। वहाँ प्राचीन बौद्ध-चिह्नों का एक तरह से बिल्कुल अभाव है, और बौद्धों की अपेक्षा ब्राह्मण चिह्न अधिक मिलते हैं। पाथरघट्टा से दो-तीन मील पर अवस्थित बावन-बिगहा (?) के ध्वंसावशेष अधिक विस्तृत हैं। वहाँ कितने ही स्तूपों के ध्वंस भी दिखाई पळते हैं। यद्यपि वहाँ शिला नहीं हैं, तो भी उसके पास छोटी-छोटी पहाळियाँ हैं। गंगा भी किसी समय यहाँ तक बहती थी। यद्यपि ध्वंसों के ऊपर अब मूर्तियाँ नहीं दीख पळतीं, किन्तु उनके लिये अब हम उतनी आशा भी नहीं कर सकते, जब कि हम जानते हैं कि एक शताब्दी से अधिक तक यह स्थान निलहे साहबों के कार्यक्षेत्र में रहा है, और यहाँ की मूर्तियाँ बराबर स्थानान्तरित होती रही हैं। विक्रमशिला की खुदाई में भी नालन्दा की भाँति ढेर की ढेर नामांकित मिट्टी की मुहरें मिलेंगी; और वह निश्चय ही धरती के भीतर सुरक्षित होंगी।

विक्रमशिला की खोज के लिये मुंगेर से राजमहल तक की गङ्गा के दक्षिणी तट पर अवस्थित सभी पहाळी भूमि—सबौर पर्गने की भूमि को विशेषकर—की छानबीन करनी चाहिये।

———

(१७)

भारतीय जीवन में बुद्धिवाद

ग्रावश्यकता होने पर ही कोग्री चीज होती है, यह ग्रेक माना हुग्रा सिद्धान्त है। मानसिक प्रवृत्तियों को यदि हम देखें तो हम मनुष्य को दो वर्गों में बाँट सकते हैं। ग्रेक वह जो बुद्धिप्रधान है, जो किसी भी बात को तब तक मान लेने के लिग्रे तैयार नहीं, जब तक कि ग्रुसकी बुद्धि को संतुष्ट न कर दिया जाय। दूसरे श्रद्धाप्रधान, जिसे बुद्धि की ग्रुतनी परवाह नहीं होती, किसी चीज़ को ग्रैसे रूप में ग्रुसके सामने रखा जाय जो ग्रुसके हृदय को ग्रपनी ग्रोर ग्राकर्षित करे, करुणा-द्वारा, प्रेम-द्वारा या ग्रैसे किन्हीं ग्रौर भावों से, तो वह ग्रुसे मान लेता है। हो सकता है कि किसी व्यक्ति में ग्रिन दोनों भावों का सम्मिश्रण काफी हो, लेकिन यदि व्यक्ति सामाजिक, ग्रार्थिक तथा धार्मिक रूढ़ियों में बद्ध न हो, तो हम ग्रुसे ग्रिन दोनों में से किसी ग्रेक वर्ग में ग्रासानी से रख सकते हैं। हमारा समाज ग्रैसा है—वर्तमान में ही नहीं, पहिले से चला ग्रा रहा है—कि किसी बात को जैसा हम सोचते-समझते हैं, ग्रुसे ग्रुसी रूप में प्रकट करने का ग्रधिकार हमें बिलकुल थोधा है। साळारण ग्रौर ग्रसाधारण व्यक्ति में यही फर्क है कि जहाँ साधारण व्यक्ति रूढ़ियों को हर हालत में मानने के लिग्रे तैयार है, वहाँ ग्रसाधारण व्यक्ति ग्रिसमें कुछ स्वतन्त्रता दिखलाता है।

व्यक्तियों से ही मिलकर समाज बनता है; लेकिन ग्रिसका मतलब यह नहीं कि हम सारे समाज को व्यक्तियों के बहुमत पर बुद्धिप्रधान या श्रद्धाप्रधान कह सकते हैं। समाज के बारे में ग्रैसे किसी निर्णय पर पहुँचने के लिग्रे हमें समाज के विचारों के नेताग्रों की ग्रोर देखना पळेगा। नेताग्रों से मतलब सिर्फ राजनीतिक नेताग्रों से नहीं है। ग्रिसमें कला, उद्योग, विज्ञान, दर्शन सभी क्षेत्रों के नेताग्रों को लेना पळेगा। बल्कि ललित-कलाओं के नेताग्रों की ग्रोर दृष्टि डालने पर हम बहुत सुगमता के साथ समाज के विचार-प्राधान्य को देख सकते हैं। चित्रकला, संगीत ग्रौर कविता, वस्तुतः ग्रिस विषय के पक्के नाप हैं। ग्रिन भारतीय ललित-कलाग्रों के पिछले तीन हजार वर्ष के ग्रितिहास ग्रौर ग्रुनकी

देन को यदि हम अच्छी तरह से देखें, तो हमें मालूम होता है कि, पहिली सात शताब्दियों में भारत बुद्धिप्रधान रहा। ख्री० पू० दूसरी शताब्दी से लेकर ख्री० दूसरी शताब्दी तक मिश्रित रहा और अुसके बाद से आज तक श्रद्धाप्रधान।

आअिअे, अिसे हम पहिले मूर्तिकला के क्षेत्र में देखें। ख्री० पू० पाँचवीं शताब्दी से पहिले के कम से कम हजार-डेढ़-हजार वर्ष पहिले की मूर्तियों के नमूने हमारे पास नहीं हैं। यदि हैं भी तो अुनके काल के विषय में निश्चित रूप से हम कुछ नहीं कह सकते। ख्री० पू० तीसरी शताब्दी की कितनी ही पत्थर की मूर्तियाँ अशोक के स्तम्भों तथा कितने ही स्तूपों के कठघरों में मिलती हैं। अिस काल से दो-तीन सौ वर्ष पहिले की कितनी ही मिट्टी की मूर्तियाँ या खिलौने कौशाम्बी (कोसम, जिला अिलाहाबाद), भीटा (जि० अिलाहाबाद) आदि स्थानों में मिली हैं। अुन्हें देखने से मालूम होता है कि, अुस समय का कलाकार वस्तु को जिस पाञ्चभौतिक रूप में देखता है, अुसी को मिट्टी या पत्थर में अुतारना चाहता है। अिसका यह मतलब नहीं कि मनुष्य के मानसिक भावों की जो छाप अुसके मुखमण्डल पर या बाह्य आकार पर पळती है, अुसको वह बिलकुल छोळ जाता है। बात यह है कि, वह अपने पैरों को ठोस भूमि पर रखना चहता है। अुसके लिअे भौतिक पदार्थ पहिली वास्तविकता है, जिसके आधार पर वह मानसिक जगत् की आभा को लाना चाहता है। यदि हम प्रथम काल की मूर्तियों या खिलौनों को नापकर देखें, तो मालूम होगा, कि अुस वक्त मनुष्य की आकृति बनाने में 'ताल-मान'[1] अुतना ही रक्खा गया था, जितना कि अेक वास्तविक मनुष्य में होता है। पशुओं की मूर्तियों के बनाने में भी यही ख्याल देखा जाता है, जैसा कि सारनाथ के अशोकस्तम्भ के शिखर पर अुत्कीर्ण, सिंह, बैल, घोळा, हाथी की मूर्तियों से स्पष्ट होता है। अिस काल का अन्तिम समय ख्री० पू० दूसरी शताब्दी का आरम्भ वह समय है जब कि भारत राजनीतिक अुत्कर्ष के मध्याह्न में पहुँचा था। मौर्य-साम्राज्य की सीमाओं तक पहुँचने का मौका कभी भी किसी भारतीय साम्राज्य को नहीं मिला। समुद्रगुप्त के समय (३४०—७५ ख्री०) में गुप्त-साम्राज्य का विस्तार बहुत हुआ था; किन्तु अुस समय भी अुसकी सीमा हिन्दुकुश तक पहुँचना कहाँ, दक्षिण-भारत में भी उसका प्रवेश दूर तक नहीं हुआ था। कला की वास्तविकता मौर्य काल में चरम अुत्कर्ष पर पहुँची थी।

१. ठुड्डी से लेकर ललाट के अन्त भाग का सारे शरीर से अनुपात।

संसार में जो कुछ अुत्कर्षगामी परिवर्तन होता है, वह वास्तविकता के आधार पर ही होता है, स्वप्न के आधार पर नहीं।

जिस प्रथम काल की कविताओं को यदि हम देखें, तो यद्यपि अुनके नमूने अितनी अधिक संख्या में नहीं मिलते, तो भी बौद्ध-सूत्रों, धम्मपद की गाथाओं को देखने से मालूम पळता है कि, अुसमें वास्तविकता की तरफ ही अधिक ध्यान दिया गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र को देखने से तो साफ पता चल जाता है कि, हजारों प्रकार के मिथ्या-विश्वास, जिन्हें अिस बीसवीं शताब्दी में भी ब्रह्मविद्या, योग और महात्माओं का चमत्कार कहकर सुशिक्षित लोग प्रचारित करना चाहते हैं अुन्हें मौर्य-साम्राज्य का यह महान् राजनीतिज्ञ झूठा समझता है। अिसका यह मतलब नहीं कि लोग अुस समय अिन झूठी धारणाओं से मुक्त थे। हाँ, विचार देनेवाली श्रेणी अिससे बहुत हद तक मुक्त थी, यह जरूर मानना पळेगा। आज की यूरप की शक्तियों को ही ले लीजिये। अिंगलैण्ड में भी जन्म-पत्री, हस्तरेखा, तावीज जैसी चीजों का वैसा ही जोर है जैसा हमारे यहाँ; लेकिन फर्क यह है कि हमारे यहाँ के शासक—जिनके हाथ में अब भी शासन का थोळा-बहुत अधिकार रह गया है—अपने राष्ट्रीय महत्त्व के काम में भी शुभ मुहूर्त आदि का ख्याल लाअे बिना नहीं रहते। लेकिन अिंगलैण्ड का कोअी राजनीतिज्ञ किसी अैसे भाषण को देने के लिअे—जिसके अूपर देश के भाग्य का वारा-न्यारा होनेवाला है—अैसी शुभ सायत नहीं पूछेगा। अिंगलैण्ड ने हजारों लळाअियाँ लळीं, अितना बळा साम्राज्य कायम किया लेकिन अुसे कभी किसी 'जोतिसी' की जरूरत नहीं पळी।

प्रथम काल के चित्रकला के नमूने हमारे सामने नहीं हैं। लेकिन अुस काल की मूर्तियों से हम अुसके बारे में अनुमान कर सकते हैं। अुस समय भी रेखायें अवश्य मूर्तियों की भाँति ही दृढ़ और वास्तविक रही होंगी। चित्र और मूर्ति में रंग ही का तो भेद होता है। जब रेखायें अुस समय की वास्तविक थीं, तो रंग भी वास्तविक ही रहा होगा। अिस प्रकार चित्रकला के भी वास्तविक होने का ही अनुमान होता है।

संगीत-विद्या की सभी परिभाषाओं और विशेषताओं के बारे में तो नहीं कह सकता, लेकिन अुस समय के वर्णनों से मालूम होता है कि अुसमें अितनी कृत्रिमता नहीं आअी थी। वीणा थी। अुसके तारों के मिलाने का भी वर्णन आता है। लेकिन छै राग और अुनमें प्रत्येक की पाँच-पाँच छै-छै पटरानियों का कहीं पता नहीं। अिसका यह मतलब न समझ लें कि, मैं २२ सौ वर्ष पहिले

की बातों की झूठ-मूठ तारीफ करके आपको पीछे खींचना चाहता हूँ। अधिक-से-अधिक मेरे कहने से आप यही भाव निकाल सकते हैं कि अुस समय भी प्रथम काल की भाँति ही वास्तविकता थी। अनुभव की मात्रा के अनुसार, मानव-जगत् के वैयक्तिक और सामाजिक विकास के अनुसार, हमारी सभी बातों में विकास होना जरूरी है। हाँ अुसकी धारा वास्तविकता को लिअे होनी चाहिअे। अेक और बात है। अुस समय संगीत के लिअे सुमधुर कंठ की अनिवार्यता भी बतलाती है कि अुसमें अुतनी कृत्रिमता नहीं थी। आजकल कितने ही बळे बळे अुस्ताद अपना गुण दिखलाने के लिअे बैठ जाते हैं। गाना तो अैसा होता है कि आस-पास किसी पेळ पर शान्त बैठी चिळिया भी अुळ जाय; लेकिन लोगों के वाह-वाह और तारीफ के पुल का ठिकाना नहीं। यदि आप अुसमें शामिल नहीं होते तो आप अज्ञ और अनधिकारी हैं।

मैं जो यहाँ संगीत के बारे में कह रहा हूँ यही बात कविता के अूपर भी हूबहू लागू हो रही है। अुस प्राचीन काल में और अुसके बाद भी बहुत समय तक संगीत से नृत्य का अटूट सम्बन्ध रहा। किसी काल की वास्तविकता अिससे भी मालूम होती है कि वह सार्वजनीन कितनी है। कला की कसौटी मनुष्य का हृदय है; कलाविदों का दिमाग अुसके लिअे पक्की कसौटी नहीं है। अिसीलिअे कला जब तक वास्तविक रहेगी तब तक सार्वजनीन भी रहेगी। अिसका यह मतलब नहीं कि कला को तत्कालीन सार्वजनिक मानसिक विकास के साथ गठ-जोळा कर दिया जाये। कला और कला-प्रेमियों का मानसिक विकास दोनों ही स्थायी वस्तु नहीं हैं— दोनों ही आगे बढ़ती रहेंगी। मतलब सिर्फ सामंजस्य और अुपयोगिता से है। गुप्त-काल और अुसके बाद की नृत्यकला के ज्ञान के लिअे हमारे पास साधन हैं, लेकिन अुस प्राचीन काल की नृत्यकला का हमारे पास न साकार चित्र है, न शब्द-चित्र; तो भी अुसके अच्छे-बुरे का फैसला विशेषज्ञों के हाथ में न था, यह तो मालूम है। अिसी से वह भी दूसरी ललित कलाओं के समान ही वास्तविक थी।

कविता और साहित्य के बारे में भी वही बात समझनी चाहिअे जो अन्य ललित कलाओं के बारे में अभी कही गअी है। अुस समय का साहित्य-दर्पण, साधारण मनुष्य का हृदय था। अुसके लिअे कसौटी का अधिकार, अुन दिमागों को नहीं दिया गया था जो वास्तविक कविता की अेक पंक्ति भी न लिख सकें किन्तु, अलंकार और अलंकारिनियों तथा रस और ध्वनियों की शाखा पर शाखा पैदा करने में अेक-दूसरे के कान काटें।

संधिकाल (२०० श्री० पू० से ३०० श्री०) में पैर को ठोस पृथ्वी पर जमाश्रे रखने की कोशिश की गश्री; लेकिन वह धीरे-धीरे जमीन छोळने लगा; यदि पंजे की तरफ से नहीं तो श्रेळी की तरफ से तो जरूर। अैसा न होने पर पीछे के विकार कभी सम्भव न थे। गुप्तकाल में भावुकता की प्रधानता होती है; लेकिन तब भी वास्तविकता को छोळने में कलाकार को मोह लगता है। कन्धा, मोढ़ा श्रौर छाती की बनावट गुप्तकाल की श्रपनी विशेषता है। श्रिन तीनों श्रङ्गों में सौन्दर्य के साथ पूर्ण मात्रा में बल भरने की कोशिश की जाती है। श्राप श्रुदय-गिरि-गुफा (भिलसा) के वराह को देखिश्रे या छोटी-मोटी किसी भी श्रुस काल की मूर्ति को; यह स्पष्ट हो जायगी। लेकिन साथ ही नजाकत भी शुरू होती मालम होगी; जो पीछे चलकर ललित-कला के लिश्रे अेक मात्र श्रादर्श बन जाती है। श्रुस काल की मूर्तियों की भाँति ही यह बात श्रजन्ता के तत्कालीन चित्रों में भी देखी जाती है। श्रिन विशेषताश्रों को कालिदास की कविताश्रें भी श्रुसी मात्रा में प्रकट करती हैं।

यहाँ श्रेक बात पर श्रौर भी ध्यान दिलाना है। यदि हम गुप्त-काल के पहिले के श्रपने भोजन को लें तो मालूम होगा कि श्रुसमें षट् रस तो जरूर रहा होगा, किन्तु श्रभी तक श्रुसे सोलह प्रकार श्रौर बत्तीस व्यंजनों का रूप नहीं दिया गया था। श्रितने मसालों का तो अेक तरह से श्रुस समय श्रभाव था। पान खाना तो लोग जानते ही न थे। छौंक-बघार भी श्रितनी मात्रा तक नहीं पहुँचा था। श्रिससे हमें यह भी मालूम हो जाता है कि, मनुष्य की प्रगति जिस किसी श्रोर होती है, वह श्रुसके जीवन के सभी श्रंगों में होती है।

छठवीं शताब्दी तक तब भी हमारा श्रँगूठा धरती पर रह जाता है। लेकिन उसके बाद तो हम श्राकाशचारी हो जाते हैं। हमारे पैर जमीन पर पळते ही नहीं—वास्तविकता से हम श्रपना नाता तोळ लेते हैं। हाँ, उसी हद तक जिस हद तक श्रुसका तोळना सम्भव है। श्राखिर हवा पीकर तो हम जी भी नहीं सकते।

सातवीं शताब्दी के बाद सभी क्षेत्रों में वास्तविकता पर भावुकता की विजय होती है। बुद्धि को श्रद्धा के सामने परास्त होना पळता है श्रौर श्रुसके साथ-साथ हमारी राष्ट्र-नौका भी भँवर में पळ जाती है। समय के बीतने के साथ-साथ हम श्रिस भावुकता में श्रागे-श्रागे बढ़ते जाते हैं। श्राज का यह वैज्ञा-निक युग यद्यपि प्रेरित करता है कि हम स्वप्न जगत् को छोळें श्रौर वास्तविक जगत में श्रावें; लेकिन शताब्दियों के दुष्प्रभाव ने हमारे मन पर श्रितना काबू

कर रखा है कि, यदि हम अेक कदम आगे बढ़ते हैं तो, तीन कदम पीछे खींच लिअे जाते हैं। कोअी कहता है—'अरे यही तो भारतीयता है, यही तो भारतीय राष्ट्र की आत्मा है। हमारा भारत हमेशा सत्यं शिवं सुन्दरं का पुजारी रहा।' कोअी कहता है—'यह भारत की प्रकृति के ही बिलकुल प्रतिकूल है। हमारे हवा-पानी में, हमारी मिट्टी में, हमारे खमीर में आध्यात्मिकता कूट-कूट कर भरी है। देखते नहीं, अिस गये-गुजरे जमाने में भी हम रामकृष्ण और रामतीर्थ को पैदा करते हैं। थियोसफी और सखी-समाज का स्वागत करते हैं। कोअी हजार कोशिश क्यों न कर ले, भारत भारत ही रहेगा।' अैसा होने पर तो, भारत के पैरों का जमीन पर जमना असम्भव है।

यदि हमारा यही दृढ़ विश्वास है तो हमारा भविष्य भी अैसा ही रहेगा। हमारे अुद्धार का अेक मात्र अुपाय है—बुद्धिवाद, वास्तविकता को मजबूती से पकळना। अिसके रास्ते में चाहे जो भी बाधक हो, अुससे हमें लोहा लेना होगा। अगर हमारे खमीर में भावुकता ही बदी होती तो, भारत बौद्ध और चार्वाक जैसे नास्तिकों को न पैदा करता। सहस्राब्दियों तक अराजक संघों और गणों के द्वारा राजशासन न चलाता। बुद्धिवाद और भावुकता के पिछले तीन हजार वर्षों में व्याप्त प्रवाह का अध्ययन करने से साफ मालूम होता है कि, हम अुत्कर्षोन्मुख तभी तक रहे, जब तक हम बुद्धि का आश्रय लेते रहे। बुद्धि का आश्रय लेने का यह मतलब नहीं कि, भावुकता की अुसमें मात्रा ही न हो। अेक प्रगति के लिअे आदर्शवाद और त्याग की आवश्यकता है; लेकिन लगाम बुद्धि के हाथ में रहनी चाहिअे।

---

(१८)

तिब्बत में चित्रकला

१—संक्षिप्त अितिहास

६३० अी० में स्रोङ-ब्चन्-स्गम्पो अपने पिता के राज्य का अधिकारी बना। ६४० अी० तक अुसके साम्राज्य की सीमा पश्चिम में गिल्गित से लेकर पूर्व में चीन के भीतर तक, अुत्तर में गोबी की मरुभूमि से दक्षिण में हिमालय की तराअी तक फैल गअी। ६४० अी० में सम्राट् की नेपाली रानी ख्रि-चुन् के साथ सर्वप्रथम बौद्धधर्म तिब्बत में पहुँचा। बौद्ध-धर्म और चित्रकला का घनिष्ठ संबंध है। भारत में सर्वप्राचीन, तथा सर्वोत्तम अजंता के बौद्धों की ही कृतियाँ हैं। बौद्ध-चित्रकला के नमूने सिंहल, स्याम, चीन, जापान आदि देशों में ही—जहाँ कि बौद्धधर्म सजीव है—नहीं प्राप्त होते, बल्कि अुन्हें गोबी के रेगिस्तान और मध्य-अीरान तक में सर् औरेल् स्टाअिन् ने खोज निकाला है। अिस तरह बौद्ध-धर्म के साथ-साथ चित्रकला का भी तिब्बत में प्रवेश स्वाभाविक ही है। नेपाल-राजकुमारी स्वयं अपने साथ अक्षोभ्य, मैत्रय और तारा की मूर्तियों के साथ कितने ही स्थापत्य-शिल्पी तथा चित्रकार लाअी थी। ६४१ अी० में सम्राट् स्रोङ-ब्चन्-स्गम्पो की दूसरी रानी चीन-राजकन्या कोङ-जो अेक बुद्ध-प्रतिमा को ल्हासा लाअी। यह प्रतिमा किसी समय भारत से घूमते-फिरते चीन पहुँची थी। अुसने पहले ही निश्चय कर लिया था, कि मैं अपनी प्रसिद्ध प्रतिमा के लिअे राजधानी में अेक मंदिर बनवाअूँगी; और ल्हासा पहुँचते ही अुसने र-मो-छे का प्रसिद्ध मंदिर बनवाना शुरू किया। नेपाली रानी की असमर्थता देख सम्राट् स्वयं अुसके लिअे ल्हासा के मध्य में जो-खङ का मंदिर बनवाया। र-मो-छे और जो-खङ के बनाने में यद्यपि अधिकतर नेपाली (भारतीय) और चीनी शिल्पियों की सहायता ली गअी, किंतु अुसी समय भोट को भी स्थापत्य तथा चित्रकला का क-ख आरंभ करना पळा।

सातवीं शताब्दी के मध्य में अुत्तरी भारत के सम्राट् हर्षवर्धन के प्रशांत

शासन में गुप्तों के समय से चलती आयी, कला तथा विद्या की प्रगति बढ़ती ही जा रही थी। चित्रकला के कुछ अंशों के अवसाद का समय डेढ़-दो सौ वर्ष बाद से होता है। जिसके कहने की आवश्यकता नहीं, कि नेपाल आज की तरह उस समय भी कला आदि के संबंध में भारत का अंग था। चीन में भी उस समय ह्वेन्-चाङ के संरक्षक थाङ-वंश का राज्य था। यह काल चीन की चित्र-कला का सर्वोत्तम समय माना जाता है। जिस प्रकार भोट देशवासियों को भारत और चीन से असे समय संबंध जोळने का अवसर मिला, जब कि जिन दोनों देशों में कला का सूर्य मध्याह्न में पहुँचा हुआ था।

ल्हासा के र-मो-छे और जो-खङ के मंदिरों की भीतों में यद्यपि उस समय चीनी और भारतीय चित्रकारों ने सुंदर चित्र अंकित किये थे, किन्तु अब वह उपलब्ध नहीं है। तिब्बत में ईंधन के दुर्लभ होने के कारण चूने की पक्की दीवारों के बनाने का रवाज नहीं है। जिसीलिये कुछ वर्षों के बाद जब प्लस्तर निर्बल होकर टूटने-फूटने लगता है, तब सारे प्लस्तर को उखाळ कर पत्थर की बनी दीवारों पर दूसरा प्लस्तर कर नयी तरह से चित्र बनाये जाते हैं। अभी उस दिन (२७ मयी १९३४ यी० को) हम ल्हासा का से-र विश्वविद्यालय देखने गये। उसके स्मद्-ग्र-सङ (महाविद्यालय) के सम्मेलन भवन की दीवारों का प्लस्तर उखाळा जा रहा था। एक ओर से डेढ़-दो सौ वष पुराने चित्र टुकळे-टुकळे हो जमीन पर गिर रहे थे, और दूसरी ओर से नया प्लस्तर लगाया जा रहा था! यद्यपि जो-खङ और र-मो छे के आजकल के प्लस्तर जिससे कहीं अधिक दृढ़ सामग्री के बने हैं; तो भी उनकी आयु तेरह शताब्दियों की नहीं है। जिस सुदीर्घ काल में उनके प्लस्तर न जाने कितनी बार नये बने होंगे, जिसीलिये उन आरंभिक चित्रों का अब पता नहीं मिलता। उस समय की काष्ठ-पाषाण की मूर्तियाँ एवं विशाल काष्ठ-स्तंभों में उत्कीर्ण रूप यद्यपि आज भी मौजूद हैं, और उनसे उस समय की चित्रकला का कुछ अनुमान हो सकता है, तो भी वे चित्रकला न होने से मेरे जिस लेख का विषय नहीं हो सकते।

उसके बाद प्रायः दो सौ वर्ष बीत जाने पर ८२३-८३५ यी० में ब्सम्-यस् का महाविहार बना। पुराने इतिहास लेखकों के अनुसार यह स्वयं महाराज धर्मपाल (७६९-८०९ यी०) के बनवाये उडचंतपुरी (वर्तमान विहार-शरीफ, पटना) महाविहार के नमूने पर बनवाया गया। उसकी पुष्टि उस विहार की आकृति भी करती है। जिस समय विस्तार और वैभव में भोट-साम्राज्य का सूर्य

मध्याह्न पर पहुँचा हुआ था। भोट के धर्माशोक सम्राट् ख्रि-स्रोङ-ल्दे-ब्चन् (८०२-८४५ ख्री०) बौद्ध-धर्म के लिए सब तरह का त्याग करने के लिए तैयार थे। विहार का निर्माण नालन्दा के महान् दार्शनिक शांतरक्षित के तत्त्वावधान में हो रहा था। इस विहार को सुमेरु, उसके चारों महाद्वीप, आठ उपद्वीप तथा चक्रवाल जैसी परिखा के साथ बनवाना ही इसे अच्छी प्रकार निदर्शित करता है, कि विहार निमाण में कला का कितना ख्याल किया गया होगा। उस समय इस विहार के केन्द्रवर्ती देवालय तथा १२ द्वीपों की दीवारों में बहुत से सुन्दर चित्र अंकित किए गए थे। आचार्य शांतरक्षित के भोटदेशीय शिष्य भिक्षु (प-गोर) वैरोचन-रक्षित स्वयं भी चित्रकार थे। उनके हाथ का बनाया एक चित्र अब भी ब्सम्-यस्के जोङ (कलक्टरी) में बतलाया जाता है। वैरोचन से पूर्व अनेक भोटदेशीय चित्रकार रहे होंगे, किंतु अपनी कृतियों के साथ उनका नाम भी लोगों को विस्मृत हो गया है। ब्सम्-यस् की दीवारें अब भी चित्रित हैं, किंतु ग्यारहवीं शताब्दी में आग से जल जाने से वह चित्र पहले के नहीं हैं। वैरोचन के बाद दूसरा प्रसिद्ध चित्रकार तोन्-छोग्-छुङ्-मेद है। इसके समय का ठीक-ठीक पता नहीं है।

ख्रि-स्रोङ ल्द-ब्चन् के पौत्र सम्राट् रल्-प-चन् (८७७-९०१ ख्री०) बौद्ध-धर्म के अंध भक्त थे। उन्होंने बहुत से मंदिर और मठ बनवाए, जिनमें से कितने ही अब भी मौजूद हैं। भोट देश में जो विहार जितना ही अधिक वैभवशाली होता है, वहाँ प्राचीन भित्ति-चित्रों की रक्षा उतनी ही कठिन है; क्योंकि जरा भी दीवारों को बिगळते या चित्रों को मलिन होते देख मरम्मत करके उसकी प्राचीनता लुप्त कर दी जाती है। किंतु, ल्हासा से दूर के स्थानों में वैभवहीन उपेक्षितप्राय कुछ ऐसे बिहार मिल सकते हैं, जिनमें प्राचीन मूर्तियाँ और चित्र अपने प्राचीन रूप में मिल सकते हैं। ग्चङ प्रदेश में ग्यांची, ने.स. जैसे कुछ विहारों का अस्तित्व है भी।

रल्-प-चन् के अनन्तर थोळे समय के बाद दसवीं शताब्दी के अंत में—ये-शेस्-ऽोद्(=ज्ञानप्रभ) और रिन्-छेन्-ब्संङ-पो (=रत्नभद्र) के समय से फिर बौद्ध-धर्म का उत्कर्ष होने लगता है; और उसके साथ नये मन्दिरों और उनके चित्रों का प्रचार बढ़ने लगता है। रत्नभद्र के बनवाए लदाख के अल्ची और सुम्-दा के विहारों में अब भी उस समय की कला के सुंदर नमूने मिलते हैं। दुर्भाग्यवश कश्मीर-सरकार और जनता दोनों की उपेक्षा से चित्रकला के यह सुंदर भांडार थोळे ही समय में नष्ट हो जानेवाले हैं। स्नर्-थङ् (स्थापित ११५३

ग्री०) ग्यारहवीं शताब्दी के कुछ भूले-भटके नमूने श-लु, रे-डिङ् (ब्रोम्-स्तोन् १००३-१०६४ द्वारा स्थापित), स्पोस्-खङ में पाग्रे जाते हैं। रे-डिङ में मौजद कुछ चित्रपटों को तो खास ब्रोम्-स्तोन्-प का बनाया कहा जाता है। ग्रुनमें के कितने ही चित्र भारत या नेपाल से ग्राग्रे हुग्रे हैं।

बारहवीं शताब्दी की चित्रकला भी दुष्प्राप्य-सी है। ग्रुसके कुछ भित्ति चित्र द्वग्स्-पो (११२४ ग्री०), स्नर्-थङ (११५३ ग्री०), कर्-म-ल-ल्देङ (११५३ग्री०), ग्दन्-स-म्थिल् (११५८ ग्री०), स्तग्लुङ् (११८०ग्री०), ब्रिगोङ् (रिन्-ब्-सङ् ज० ११४३ द्वारा स्थापित) के मठों में मिलेंगे।

तेरहवीं शताब्दी के चित्रों के लिये विक्रमशिला महाविहार के ग्रन्तिम सङ्घनायक शाक्यश्रीभद्र (११२७-१२२५ ग्री०) के भोट में दस वर्ष के प्रवास के समय (१२००-९) के चार विहारों—(१) स्पोस्-खङ-छोगस्-प (ग्चङ), (२) ग्र-नङ-ग्र्य-ग्लिङ-छोग्स्-प—(ल्हो-ख), (३) ग्र-फ्यि-छोङ-ऽदुस्-छोग्स्-प, (४) सेन्-ग्दोङ-चें-छोगस्-प—की ग्रोर देखना होगा।

तेरहवीं चौदहवीं शताब्दी का ग्रेक बळा संग्रह स्पोस्-खङ (ग्यांची के पास) में है। स्पोस्-खङ् का ग्रेक चित्रपट तो बिलकुल भारतीय जान पळता है। ग्रिन चित्रों पर भारतीय चित्रकला की भारी छाप है। चौदहवीं शताब्दी के दो दर्जन सुंदर चित्रपट स-स्क्य मठ के, गु-रिम्-ल्ह-खङ् में हैं।

पंद्रहवीं शताब्दी में द्गे-लुग्स्-प या पीली टोपीवाले संप्रदाय के कितने ही मठ स्थापित हुग्रे, जिनमें द्गऽ-ल्दन (१४०५ ग्री०), ऽब्रस्-स्पुङ् (१४१६ ग्री०), से-र, छब्-म्दो (१४३७ ई०), ब्क्र-शिस्-ल्हुन्-पो (१४४७ ई०) थोळे ही समय में बळे-बळे विश्वविद्यालयों के रूप में परिणत हो गग्रे। ग्रिनमें भित्ति-चित्र ग्रौर चित्रपट बहुत हैं। सम्भव है, ग्रुस समय के कुछ चित्रपट ग्रिनमें प्राप्त हो जायँ, किंतु भित्ति-चित्र प्रायः प्रत्येक शताब्दी में नग्रे होते रहे हैं।

सोलहवीं शताब्दी के चित्रों के लिग्रे भी हमें ग्रुपर्युक्त द्गेलुग्स्-प मठों की ग्रोर विशेष रूप से देखना होगा। ग्रिसी शताब्दी में स्मन्-थङ-यब्-स्रस् ग्रौर ल्हो-ख प्रदेश के ऽक्योङ-ग्र्यस् स्थान में ग्रुत्पन्न ग्रेक प्रसिद्ध चित्रकार भिक्षुणी छुङ-ब्रिस् ग्रौर चित्रकार चें-ग्दुङ हुग्रे थे।

स्मन्-थङ-यब्-स्रस् ने ल्हासा के जो-खङ की दीवारों को चित्रित किया था। यद्यपि ग्रुसके बनाये चित्रों पर पीछे कग्री बार रंग चढ़ाया गया है, किंतु कहते हैं, रेखाग्रें पुरानी हैं। (ल्हो-ख)-छुङ-ब्रिस के ग्रंकित ९ चित्रपट ल्हासा की ल्हलुङ-

ल्हु-न्सम् के महल में हैं। अिन पर चित्रकला का बहुत अधिक प्रभाव चीनी है। रंग हल्के किंतु बळे ही संकेतपूर्ण हैं। चें-ग्दुङ चित्रकार के लिखे ३५ चित्रपट क्र-शी-ल्हुन्पो मठ से पूर्व दो दिन के रास्ते पर ब्रह्मपुत्र के दाहिने किनारे पर अवस्थित रोङब्रग्-प गाँव के मालिक के घर में हैं।

ल्हासा का सुर्-खङ सामंत-गृह बहुत पुराना है। कहते हैं,पहले अिसी स्थान पर तिब्बत के सम्राट् रहते थे। सुर्-खङ के स्वामी मानसरोवर प्रदेश से, शायद पाँचवें दलाअीलामा के समय में, आअे थे। सुर्-खङ् की वर्तमान स्वामिनी खुद आदि सम्राट् स्रोङ-ब्चन्-स्गम्-पो के वंश की हैं। यदि बीच-बीच के राजविप्लवों में घर नष्ट न हुआ होता, तो यहाँ कितनी ही पुरानी वस्तुएँ मिल सकतीं। अिनके यहाँ वज्रपाणि-मंजुघोष-अवलोकितेश्वर की अेक सुन्दर पीतल-मूर्ति है। मूर्ति भारतीय ढङ्ग से बनाअी गअी है; और अुस पर का लेख—"ख्यद्-तु-ऽफग्स्-प-स्तोन्....क्यिस्....ब्शेङ-स्" बतला रहा है कि अुसे सम्राट् रल्-प-चन् (८७७-९०१ अी०) के समकालीन ख्यद् पर्-ऽफग्स्-ब्स्तोन् लो-च-व ने बनवाया था। पहले इस वंश के पास १६ भारतीय अर्हतों (स्थविरों) के चित्रपट थे, जिनमें आठ १९०८ अी० की लळाअी में चीनियों के हाथ लगे, और अुन्होंने ल्हासा के अेक दूसरे खानदान के हाथ अुन्हें बेच दिया। आठ अब भी सुर्-खङ् में हैं। यद्यपि यह (ल्हो-ख)-छुङ्-ब्रिस् के समकालीन नहीं हैं, तो भी अिनका काल सत्रहवीं शताब्दी से पीछे का नहीं हो सकता। अिनमें भी छुङ्-ब्रिस की भाँति ही भूमि को सजाने की कोशिश नहीं की गअी है। नीचे हलके रंग में नदी, पहाळ, फिर अत्यंत क्षीण रंग में अंतरिक्ष और सबसे अूपर हलके नीले रंग में आसमान दिखलाया गया है। रंगों का छाया-क्रम अितना बारीक है कि देखते ही बनता है। जहाँ छुङ-ब्रिस् के चित्रों में चीनी आँख-मुँह और प्राकृतिक सौंदर्य का अधिक प्रभाव है वहाँ अिन चित्रों में भारतीय प्रभाव मिलता है। छुङ्-ब्रिस् ने अपने चित्रों में सोने का बहुत कम उपयोग किया है और वस्त्रों को भी अुतने बेलबूटे से सजाने की कोशिश नहीं की है; वहाँ अिन चित्रों में अुनका अुपयोग कुछ अधिक किया गया है। अितना होते हुअे भी अिस बेनामवाले चित्रकार ने भाव-चित्रण बळी सुन्दरता से किया है। भौं, नाक, केश और अंगुलियों के अंकन में अुसकी तूलिका ने बहुत कोमलता का परिचय दिया है। छुङ-ब्रिस् के चित्रों की भाँति कृत्रिमता से सर्वथा न शून्य होने पर भी अिन चित्रों में सजीव कोमल सौंदर्य काफी मात्रा में मिलता है। बुद्ध के चित्रों के लिअे तो मालूम होता है, भारत ही में सातवीं शताब्दी में कोअी महाशाप लग गया, और तब से कहीं भी बुद्ध की सुन्दर मूर्ति या चित्र नहीं

बन सका। यह बात छङ-ब्रिस् और ग्रिस सुर्खङ के अज्ञात चित्रकार के बारे में भी ठीक घटती है।

सत्रहवीं शताब्दी में भी तिब्बत में अनेक चित्रकार हुअे। अिसी शताब्दी (१६४८ अी०) में पाँचवें दलाअीलामा सुमतिसागर (१६१७-८२ अी०) सारे तिब्बत के महंत-राज हुअे। अिन्होंने १६४५ अी० में ल्हासा का प्रसिद्ध पोतला-प्रासाद बनवाया। कुशल शासक, विद्याव्यसनी होने के साथ ये बळे कला-प्रेमी भी थे। छोस्-द्ब्यिङ-र्ग्य-म्छो (=धर्मधातुसागर) और स्दे-स्रिद्-ग्य्ऽ-सेल् अिनके समय के प्रसिद्ध चित्रकार थे। धर्मधातुसागर ने ल्हासा के जो-खङ की परिक्रमा के कुछ भाग को चित्रित किया था। अिन चित्रों पर भी पीछे कअी बार रंग चढ़ाया गया, किंतु पुरानी रेखाअें कायम रखी गअी हैं।

अठारहवीं शताब्दी में भी अच्छे चित्रकार मौजूद थे। तिब्बत देश में प्राचीन भारत की भाँति प्राय: चित्रों पर चित्रकार अपने नाम अंकित नहीं करते थे और न लेखकों को ही उनकी स्मृति जीवित रखने का ख्याल था, अिसीलिअे उस समय के चित्रों के होने पर भी अुनका नाम जानना बहुत कठिन है। अिसी शताब्दी के पहले पाद के बनाअे वह तेरह चित्रपट हैं, जिन्हें लेखक ने अपनी पिछली यात्रा में ल्हासा में संग्रह किआ था, और जो अब पटना-म्यूज़ियम् में हैं।

अुन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ऽब्रस्-स्पुङस् विहार के क्लु-ऽबुम्-गे-शे चित्रकार का नाम बहुत प्रसिद्ध है। यह ग्यारहवें दलाअीलामा म्खस्-ग्रुब्-र्ग्य-म्छो के दर्बार में था। बारहवें दलाअीलामा ख्रिन्-लस्-र्ग्य-म्छो (मृ०१८७५ अी०) के समय ल-मो-द्कुन्-द्गऽ प्रसिद्ध चित्रकार था। अिसके बनाअे तीन चित्रपट ल्हासा के म्यु-रु मठ के पार्श्ववर्त्ती र्ग्युद-स्मद विहार में अब भी मौजूद हैं।

अुन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पाद से आजकल तक भी कितने ही चित्रकार होते आअे हैं किंतु अुनमें वह दक्षता नहीं रही। अुन्होंने विशेषकर पहले लिखे चित्रपटों की नकल करने का ही काम किया है।

२—शिक्षा-क्रम

तिब्बत में चित्रकला के वंशानुगत होने का नियम नहीं है। भिक्षु या गृहस्थ जिस किसी की अुधर रुचि हुअी, अभ्यास करने लगता है। जिन्हें अपने बालकों को पेशावाला चित्रकार बनाना होता है, वह आठ वर्ष की अवस्था में लळके को किसी चित्रकार के पास भेज देते हैं। मेधावी बालक को आवश्यक शिक्षा प्राप्त करने में तीन वर्ष से कुछ अूपर लगते हैं। यह शिक्षा तीन वर्गों में विभाजित है—

१—रेखा-अंकन	१६ मास
२—साधारण रंग-अंकन	१० मास
३—सूक्ष्म मिश्रित-रंग-अंकन	११ मास

१—**रेखा-अंकन**—पहले खास तरह से बने कोयला (जो कि पेंसिल का काम देता है) से चौकोर खाना बनानेवाली रेखाअे खींचना, फिर अुनपर मुख आदि की आकृति बनाना। ठीक होने पर तूलिका-द्वारा उन रेखाओं पर काली स्याही चढ़ाना सीखना।

रेखा-अंकन वर्ग भी छै श्रेणियों या **थिग्** में बँटा हुआ है—

(१) **प्रथम श्रेणी**—(१५५ अंगुल) (क) पहले बुद्ध का मुख अंकित करना सिखाया जाता है। अिसमें अेक मास लगता है। गुरु के दिअे नमूने के अनुसार कागज पर पहले २६ अंगुल लंबा और १६ अंगुल चौळा आयत क्षेत्र खींचना होता है। फिर निम्न प्रकार से आळी-बेळी रेखाअें खींचनी होती हैं—

लम्बाअी में—

२ अंगुल	शिर की मणि
४ ,,	अुष्णीष
४ ,,	चूळा-ललाट
४ ,,	ललाट-अूर्णा
१ ,,	अूर्णा-नासामूल
१ ,,	नासामूल-नेत्र की निम्न सीमा
२ ,,	नेत्र की निम्न सीमा-नासाग्र
४ ,,	नासाग्र-ठुड्डी
४ ,,	ठुड्डी-कंठ की निम्नसीमा
२६	

चौळाअी में—

६ अंगुल	दाहिनी कनपटी से ललाटार्ध तक
६ ,,	बाअीं कनपटी से ललाटार्ध तक
२ ,,	दाहिने कान की चौळाअी
२ ,,	बायें कान की चौळाअी
१६	

(ख) मुख के अंकन का अभ्यास हो जाने पर ३ मास में बुद्ध के पद्मासनासीन सारे शरीर का अंकन सीखना पळता है। पहले ८४ × ५२ का आयत क्षेत्र बनाना होता है। फिर निम्न प्रकार लंबाओं और चौळाओं में रेखाओं खींचनी होती हैं—

लंबाओं में—

२६ अंगुल	शिर मणि से कंठ की निम्न सीमा तक (अूपर जैसे)
१२ ,,	कंठसीमा—स्तन तक
१२ ,,	स्तन—केहुनी
२ ,,	केहुनी—नाभि
४ ,,	नाभि—कटि
८ ,,	कटि—मुळे घुटने के प्रथम छोर तक
४ ,,	मुळे घुटने के मध्य तक
४ ,,	मुळे घुटने के अंतिम छोर तक
१२ ,,	शेष के लिअे
८४	

चौळाओं में—

१२ अंगुल	मध्य ललाट से बगल तक
४ ,,	बगल से पैर के अँगूठे के सिरे तक
२ ,,	पैर के अँगूठे के सिरे से दाहिने बाजू के अंत तक
८ ,,	दाहिने बाजू के अंत से मुळे घुटने के अंत के पास तक
२६	
२ अतिरिक्त	
५२ ,,	

(ग) फिर अेक मास में वस्त्रों का अंकन करना सीखा जाता है।

श्रेणी-क्रम से रेखांकन का विवरण भिस प्रकार है।

श्रेणी	विषय	अंगुल-परिमाण	मास
१	बुद्ध	१५५	५
२	अवलोकितेश्वर आदि बोधिसत्त्व	१२०	३
३	तारा आदि देवियाँ	१०८	३
४	वज्रपाणि आदि क्रोधी देव	९६	२
५	अर्हत् आदि	....	२
६	मनुष्य	....	१
			१६

भिस प्रकार १६ मास में रेखांकन समाप्त होता है।

२—साधारण रंग-अंकन—भिसमें सीधे-सादे रंगों को अलग-अलग अंकित करना सीखा जाता है। क्रम और काल भिस प्रकार है—

हरा रँगना	½ मास
आकाश रँगना	१ ,,
दूसरे रंग (अलग-अलग)	८½ ,,
	१०

३—सूक्ष्म, मिश्रित रंग-अंकन—पत्ते आदि के सूक्ष्म और अनेक छाया वाले रंगों, सोने के काम तथा केश आदि का अंकन भिस अंतिम श्रेणी में सीखा जाता है। क्रम और काल भिस प्रकार है—

पत्ता	१ मास
लाल	१ ,,
सोने का काम	३ ,,
केश, भौं आदि	६ ,,
	११

तीनों वर्गों को समाप्त कर लेने पर भी छात्र कितने ही समय तक अपने गुरु का सहायक बन काम करता रहता है।

३—चित्रण-सामग्री

चित्रण-क्रिया के लिअे चार चीजों की आवश्यकता होती है—(१) भूमि, (२) तूलिका आदि, (३) रंग, (४) रंग-पात्र।

(१) **भूमि**—तिब्बत में चित्रण की **भूमि** के लिअे साधारणतया पट, भित्ति या काष्ठ-पाषाण के टुकळों का अुपयोग किया जाता है।

(क) **पट** को दर्पण-समान निर्मल, श्वेत, रेखा-रहित, कोमल, लचकदार तथा तिनकोनी बिनाअी से शून्य होना चाहिए। अिसके लिअे अधिकतर कपास के कपळे का अिस्तेमाल होता है। वस्त्र को अपेक्षित आकार में काटकर अुसके चारों ओर बाँस की चार खपीचें सी देनी होती हैं। फिर लकळी के चौखटे में अुसे रस्सी से अिस प्रकार कसकर ताना जाता है, कि **पट** सब जगह अेक सा तन जाय। फिर ½ **श्वेत**[1] रंग में ½ सरेस डाल गुनगुने पानी से मिलाकर पतली लेअी बनाअी जाती है। अिस पतली लेअी को कपळे से भिगोकर पट पर लेप दिया जाता है। चारों ओर बराबर पुत जाने पर पट को छाया में सूखने के लिअे रख दिया जाता है। सूख जाने पर पट के नीचे लकळी का अेक चिकना पट्टा रखकर, पानी का हल्का छींटा दे दे अुसे दोनों ओर चिकने पत्थर से रगळा जाता है; और फिर सूखने के लिअे छाया में छोळ दिया जाता है।

तानने को छोळ बाकी प्लस्तर आदि का काम भित्ति और काष्ठ-पाषाण की भूमि पर भी अेक सा किया जाता है।

(२) **तूलिका**—चंदन, लाल चंदन या देवदार की सीधी बिना गाँठ की लकळी को तेज चाकू से (चाकू के अूपर दूसरी समतल सहारे की लकळी रखकर) छीलकर अिस प्रकार गोल बनाया जाता है, कि अुसका अेक सिरा अधिक मोटा और दूसरा पतला हो जाता है। फिर मोटे सिरे को डेढ़ अंगुल के करीब खोखला कर दिया जाता है। तब बकरी, बिल्ली या दूसरे जानवर के पानी सोखने वाले बारीक साफ और अेक से बाल को बराबर करके अुसके आधे भाग पर सरेस की लेअी डाल-डालकर अुसमें खूब चिपका दिया जाता है; और सरेस वाले भाग को सूत लपेटकर बाँधकर सरेस के सहारे तूलिका-दंड के खोखले भाग में मजबूती से बैठा दिया जाता है। सूख जाने पर तूलिका काम के लिअे तैयार हो जाती है। तिब्बत के चित्रकार दो प्रकार की तूलिका अिस्तेमाल करते हैं। भौं, केश आदि के चित्रण के लिअे अधिक सूक्ष्म किंतु परिमाण में कम केशोंवाली पतली **तूलिका** काम में लाअी जाती है; और बाकी कामों के लिअे अधिक केशोंवाली मोटी **तूलिका**।

---

१. खळिया जैसा एक रंग; देखो रंगों का वर्णन।

तूलिका के अतिरिक्त दूसरा आवश्यक साधन है—परकाल। यह अेक दो, तीन अंगुल चौळी, प्रायः १ फुट लंबी तथा अेक अंगुल मोटी बाँस की कट्ठी को लंबाअी में आधे-आध चीरकर अेक ओर के सिरे को लोहे से छेद कर बाँध दिया जाता है। दोनों बाँहों में से अेक को नोकीला और दूसरे को कोयले की पेंसिल रखने लायक खोखला बना दिया जाता है। फिर दोनों बाँहों को मोटाअी में चीरकर अुनके भीतर पतली खपीच डाल सिरों को सूत लपेट कर बाँध दिया जाता है। यही परकाल है।

तिब्बती चित्रकार दो प्रकार की पेंसिलें अिस्तेमाल करते हैं, अेक सेत-खरी के पत्थर की और दूसरी कोयले की। कोयले की पेंसिल के बनाने का यह ढंग है। अेक हलकी लकळी को ताँबे या लोहे की नली में डाल हल्की आँच में डाल दिया जाता है, जल जाने पर नली से निकाल लिया जाता है। यही पेंसिल है। बिना नली के भी हल्की लकळी को धीमी आँच में जलाने से पेंसिल तैयार हो जाती है। अिस काम के लिअे भारत में सेंठे को काम में लाया जाता रहा होगा।

सोने के काम को चमकाने के लिअे अेक **घर्षण-तूलिका** होती है, जिसके सिरे पर बिल्लौर या चकमक जैसा कोअी चिकना स्वच्छ पत्थर जळा रहता है। पट के पीछे अेक छोटा चिकना काष्ठ-फलक रख स्वर्ण-रेखा को अुस कलम से रगळा जाता है, जिससे सोना चमकने लगता है।

पानी में धोकर अेक ही तूलिका कअी रंगों में डाली जाती है।

(३) **रंग**[1]—अब भी तिब्बत के अच्छे-अच्छे चित्रकार चित्रपटों के तैयार करने में अपने हाथ से बनाअे रंगों को अिस्तेमाल करते हैं। अिनमें खास तरह के पत्थरों से बननेवाले रंग यह हैं—

क. अ. मिश्रित रंग

(अ) पाषाणीय

१. सेत-खरी (द्कर्-रग्, **पाषाणीय**)—ल्हासा के अुत्तरवाले रोङ प्रदेश के रिङ्-वुम् स्थान से यह सफेद रंग का डला आता है। डले को पीसकर अधिक पानी में घोल दूसरे बर्तन में पसा देते हैं। नीचे बैठी कँकरीली तलछट को फेंक

---

१. सभी रंगों के कच्चे पक्के नमूने मैंने पटना-म्युजियम में ला रक्खे हैं।

देते हैं। कुछ देर छोळ देने पर नीचे गाढ़ी सफेद पंक जम जाती है। फिर अूपर के पानी को फेंक दिया जाता है। अिसमें गर्म पानी में घुली सफेद सरेस (१/२) खूब रगळ रगळ कर मिला दी जाती है। अिस प्रकार रंग तैयार हो जाता है।

२. **नीला** (थिङ्)—ल्हासा से कुछ दूर पर ञि-मो स्थान से यह नीले रंग का बालू आता है। ठंडे पानी के साथ थोळा सरेस मिला दो घंटे तक अिसे खल में पीसना होता है। फिर अधिक पानी मिला अुसे अेक बर्तन में पसाया जाता है। फिर पंद्रह मिनट तक थिर करके दूसरे बर्तन में पसाया जाता है। दूसरे में भी पंद्रह मिनट रखकर तीसरे में पसाया जाता है। तीसरे में भी पंद्रह मिनट रखकर चौथे में पसा दिया जाता है। चौथे बर्तन में आध घंटा रख पानी को फेंक दिया जाता है। चारों बर्तनों में बैठी पंक चार प्रकार का नीला रंग देती है।

(१) **अतिनील** (थिङ्-ऽग्रु)—अिससे वज्रधर आदि के शरीर का रंग बनाया जाता है।

(२) **अल्प-नील** (थिङ्-शुन्)—अिससे आकाश का रंग बनाया जाता है।

(३) **अल्पतर-नील या श्याम** (स्ङो-ब्सङ्)—अिससे पानी का रंग बनाया जाता है।

(४) **अल्पतम नील** (स्ङो-सि)—अिससे छाया, आकाश की मलिनता आदि दिखलाअी जाती है।

३. **हरित** (स्पङ्)—यह भी अुपर्युक्त ञि-मो स्थान से बालू के रूप में आता है। बनाने का ढंग **नील** जैसा ही है; किंतु अिसे चार की जगह तीन बर्तनों ही में पसाते हैं, जिससे तीन प्रकार के हरे रंग प्राप्त होते हैं--

(१) **अति-हरित** (स्पङ्-म)—जिससे हरित तारा, पत्र, तृण आदि को रँगा जाता है।

(२) **अल्प-हरित** (स्पङ्-शुन्)—जिससे पृथिवी आदि को दिखलाया जाता है।

(३) **अल्पतर-हरित** (स्पङ्-र्ग्य)—जिससे कपळे के रंग, ध्वजा, मृणाल, पुष्प-दंड आदि बनाअे जाते हैं।

४. **पाषाणी पीत** (ब-व्ल्-सेर्पो)—यह सोनामक्खी जैसा पीला नर्म पत्थर पूर्वीय तिब्बत के खम् प्रदेश से आता है। सूखा ही कूटकर बालू जैसा बना, थोळे सरेस और पानी के साथ खरल में दो दिन तक पीसा जाता है। फिर अधिक

पानी में घोल पसा लेना होता है। पंक के नीचे बैठ जाने पर पानी को फेंक दिया जाता है।

५. **कच्चा ग्रिगुर** (छल्-ल्चोग्-ल)—यह पत्थर भी खम् प्रदेश से ग्राता है। पहले सूखा पीस मोटे बालू-सा बना, सरेस ग्रौर पानी के साथ खरल में खूब पीस देने पर रंग तैयार हो जाता है। ग्राजकल ग्रिसकी जगह चीन में रूग्री में डालकर बना लाल रंग—यङ्-टिन्—ग्रिस्तेमाल किया जाता है।

६. **सिंदूर** (लि-ख्रि)—यह भारत से तिव्बत में ग्राता है। सरेस ग्रौर पानी के साथ खरल करके रंग तैयार किया जाता है। ग्रिससे बुद्ध ग्रौर भिक्षुग्रों के काषाय वस्त्र बनाते हैं।

७. **लाल** (छल् --यह पाषाणीय रंग भारत से ग्राता है, ग्रौर सिंदूर की भाँति ही तैयार किया जाता है, ग्रौर ग्रुससे वही काम लिया जाता है।

(ग्रा) धातुज

८. **चाँदी का रंग** (द्ङु-ल्-ब्दुल्)—नेपाली लोग चाँदी की ग्रिस भस्म को बनाते हैं। पानी ग्रौर सरेस के साथ ग्रिसे घिस कर लिखने के लिग्रे तैयार किया जाता है। ग्रिसका ग्रुपयोग बहुत ही कम होता है।

९. **सोने का रंग** (ग्सेर्-ब्दुल्)—ग्रिस भस्म को भी नेपाली लोग तैयार करते हैं। रंग, सरेस ग्रौर पानी में घोटकर बनाया जाता है। ग्रिससे बुद्ध का रंग तथा ग्राभूषण ग्रादि बनाग्रे जाते हैं।

(ग्रि) मिट्टी

१०. **पीली मिट्टी** (ङ ङ्-प-ग्सेर्-ग्दन्)—यह मुल्तानी मिट्टी जैसी पीली चिकनी मिट्टी ल्हासा से पूर्व येर्-वा स्थान से ग्राती है। ग्रिसे थोळे सरेस के साथ पानी में दो घंटा ग्रुबालकर तैयार किया जाता है। सोना लगाने के पहले **भूमि** ग्रिससे रंजित की जाती है, जिससे सोने का रंग बहुत खिलने लगता है।

(ग्री) वानस्पत्य

११. **मसी** (स्नग्-छ)—ल्हासा से दक्खिन-पूर्व वाले कोङ्-वो प्रदेश में देवदार की लकळी के धूग्रें से कजली तैयार करते हैं। ग्रिसी को ठंडे पानी ग्रौर सरेस में रगळ कर स्याही की गोली तैयार की जाती है। रेखाग्रें ग्रौर केश ग्रादि के ग्रंकित करने में ग्रिसका ग्रुपयोग होता है।

१२. **नील** (रम्)—भारत से नील के पौधे से बना यह रंग आता है। सरेस के साथ पानी का छींटा दे दे १५, २० घंटा खरल में रगळने पर रंग तैयार होता है। बादल, छाया और रेखाअें अिससे बनाअी जाती हैं।

१३. **अुत्पल-जल** (अुद्-पल्-सेर्-पो)—ल्हासा के अुत्तरवाले फेम्बो प्रदेश के रे-डिङ्, तथा दूसरे स्थानों के, सूर्य की कळी धूप न लगने वाली पहाळी भागों में अेक प्रकार का फूल अुत्पन्न होता है, जिसे तिब्बत वाले अुत्पल कहते हैं। अिसकी पत्ती में शुन् का पत्ता $\frac{1}{10}$ हिस्सा मिला पानी में १५ मिनट पकाया जाता है। अिस हल्के पीले रंग के पानी से पत्तों का किनारा बनाने, तथा दूसरे रंगों में मिलाने का काम लिया जाता है।

१४. शुन् अेक वृक्ष का पत्ता है, जो भूटान की ओर से आता है। अिसके पकाअे पानी को दूसरे रंगों में मिलाया जाता है।

(अु) प्राणिज

१५. **लाख** (ग्यं-छोस्)—भारत या भूटान से आती है। लकळी आदि हटाकर अिसे साफ कर लिया जाता है। फिर अुसमें बहुत हो गर्म पानी डाला जाता है। फिर $\frac{1}{10}$ हिस्सा शुन् का पत्ता और थोळी फिट्किरी (छ्-ल-द्कर्-पो) को डाल दिया जाता है। फिर पानी को पसाकर अुसे धीमी आँच में पका कर गाढ़ा करके गोली बना ली जाती है।

१६. **सरेस** (स्प्यिन्)—भैंस या किसी भी चमळे को बाल हटाकर खूब साफ करके छोटा छोटा काट दिया जाता है। दो दिन तक अुबालने पर चमळा गल कर लेअी-सा बन जाता है। अिसे सुखाकर रख लिया जाता है, और सभी रंगों में अिसको मिलाया जाता है। यह रंग को चमकीला और टिकाअू बनाता है।

(अ) अज्ञात

१७. **यङ्-टिन्**—चीन में यह लाल रंग बनता है, और रूअी में सुखाया बिकता है। पहले तिब्बत में अिसकी जगह छ्ल्-ल् चोग्-ल (अिंगुर) का अुपयोग होता था।

ख. मिश्रित रंग

अूपर के रंगों के अतिरिक्त कुछ और भी रंग हैं, जिन्हें भोटदेशीय

चित्रकार अिस्तेमाल करते हैं, किन्तु यह सब रंग अुपर्युक्त रंगों के मिश्रण से बनाअे जाते हैं।

१. **पांडु-श्वेत** (लि-स्क्य)—सेलखरी २/१४ + पाषाणी पीत ३/१४ — सिंदूर १/७ मिलाकर सरेस के साथ पानी का छींटा दे-दे घोटने से यह रंग बनता है। अिससे मणि, किरण तथा चीवर के भीतरी भाग को दिखलाया जाता है।

२. **पीतिम रक्त** (चो-म) सिंदूर १/२ + पाषाणी पीत ३/८ + सेतखरी १/८ को मिलाकर **पांडु श्वेत** की भाँति बनाया जाता है। अिससे मैत्रेय, मंजुघोष आदि का शरीर रंजित किया जाता है।

३. **पांडु-रक्त** (स्गन्-र्ग्य-छो-व) सिंदूर ६/१२ + अिंगुर (म्छल्) ४/११ + सेतखरी १/१२ मिलाकर पांडु-श्वेत की भाँति बनाया जाता है। अिससे अमिताभ, अमितायु, हयग्रीव आदि के वर्ण को बनाया जाता है।

४. **सिंदूर-रक्त** (स्मर्-स्क्य-स्क्य-प) सिंदूर ३/७ + अींगुर (म्छल्) २/७ + सेतखरी २/७ मिलाकर पांडु-श्वेत की भाँति बनाया जाता है, अिससे आसन, कपळे आदि के रंग बनाअे जाते हैं।

५. **लाखी श्वेत** (न-रोस्) सेतखरी ३/५ + लाख २/५ मिलाकर अुक्त क्रम से बनाया जाता है। बुद्ध के प्रभा-मंडल तथा घर आदि के रँगने में अिसका अुपयोग होता है।

६. **नील-हरित** (ग् यु-ख) अति नील १/२ + अति हरित १/२ मिलाकर अुक्त क्रम से बनाया जाता है। पत्तों आदि के रँगने में काम आता है।

७. **मेघ-नील** (शुन्-रम्) नील (१२) २/३ + अुत्पल जल १/३ मिलाकर अुपर्युक्त क्रम से बनाया जाता है। मेघ, मरकत आदि को अंकित किया जाता है।

८. **हरीतिम-श्वेत** (स्पङ्-सि) सेतखरी २/३ + अतिहरित १/३ मिलाकर अुक्त क्रम से बनाया जाता है।

(४) **रंग-पात्र**—मिट्टी के पात्र रंगों के रखने के लिअे सर्वोत्तम माने जाते हैं। नील और लाल रंगों के लिअे चीनी मिट्टी के पात्र भी अिस्तेमाल किअे जाते हैं। लाख और लाखी श्वेत जैसे रंग अुनकी आवश्यकता वाले रंगों के लिअे शंख के टुकळे काम में आते हैं। अेक पात्र में डुबाअी तूलिका को बिना पानी वाले पात्र में प्रक्षालित किअे दूसरे रंग-पात्र में नहीं डाला जाता, क्योंकि अिससे रंग के बिगळ जाने का डर होता है।

४—चित्रण-क्रिया

चित्रण-क्रिया में सबसे कठिन काम रेखाओं का अंकन करना है। प्रधान

चित्रकार का काम रेखाअें अंकित करना है। रंगों के भरने का काम वह अपने सहायक के लिअे छोळ सकता है। चित्रण-क्रिया में निम्न क्रम का अनुसरण किया जाता है—

१—चित्र की भूमि (पट, भित्ति आदि) को श्वेत प्लस्तर लगा तैयार करना।

२—कोयले की पेंसिल (=अंगार-तूलिका) से पट के कोनों को रेखाओं-द्वारा मिलाना। फिर केंद्र पर वृत्त, तथा अुसके चारों ओर तुल्य अर्द्धव्यास वाले चार वृत्तों का खींचना। कटे बिंदुओं को सरल रेखाओं से मिलाना आदि।

३—कोयले से मूर्ति अंकित करना।

४—रेखाओं पर स्याही चलाना।

५—अ-मिश्रित रंग लगाना।

६—मिश्रित रंग लगाना

७—फूल, मेघ आदि को रंजित करना।

८—सोने के रंग को पहले से पीली मिट्टी लगाअे स्थानों पर लगाना।

९—नेत्र, केश, मूँछ आदि को सूक्ष्म तूलिका से बनाना।

१०—छोटे चिकने काठ की तख्ती को नीचे रखकर सोने की रेखाओं को **घर्षण-तूलिका से** रगळ कर चमकाना।

५—चित्रकला-सम्बन्धी साहित्य

भोट में मौजूद चित्रकला-सम्बन्धी ग्रंथों को दो भागों में बाँटा जा सकता है। (१) अेक वे जो भारतीय संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद हैं, और (२) वे, जिन्हें भोट के विद्वानों ने स्वयं लिखा है। (१) प्रथम श्रेणी के ग्रंथों में (क) कुछ तो अैसे हैं, जिनका विषय दूसरा है, किंतु प्रसंग-वश अुनमें चित्रण-कला की बात भी चली आअी है, जैसे **मंजुश्रीमूलकल्प**। (ख) अुनके अतिरिक्त **प्रतिमामान-लक्षण-सदृश** भारतीय आचार्यों के कुछ ग्रंथ सिर्फ चित्रण-कला तथा मूर्ति-कला के लिअे ही बनाअे गअे हैं। भोटदेशीय विद्वानों के बनाअे ग्रंथों में अुक्त दो श्रेणी के ग्रंथ पाअे जाते हैं। कंजूर में अनुवादित प्रायः सभी तंत्र-ग्रंथों में चित्रण क्रिया के बारे में कुछ न कुछ सामग्री मिलती है।

———

परिशिष्ट (१)

पुरा-लिपि

काशी—ता० २५ जुलाई १९३७

प्रिय श्री राहुल जी,

आज डाक बुक-पोस्ट से १ प्रति प्राचीन अक्षरों का फोटो आपकी सेवा में भेजा है। पहुँच लिखियेगा। भेजने में देर हुई क्षमा कीजिएगा। फोटोग्राफर ने आज ही फोटो दिये। फोटो तो बहुत साफ आये हैं, पर हेडिंग (Heading Columns) के अक्षर छोटे होने के कारण बिना मैग्नीफाइंग ग्लास की सहायता के पढ़े नहीं जाते। यह हेडिंग बहुत आवश्यक है, इसलिए मैं, ऊपर १९ खानों के लेख जो हेडिंग में लिखे हैं, अलग लिख कर भेजता हूँ। फोटो सामने रखकर हर एक खाने का हेडिंग पढ़ते हुए यदि अक्षरों को देखा जायगा तो हर शताब्दी (वैक्रम) की सब बातें व अक्षर-भेद समझ में आ जावेंगे। इस चार्ट के तैयार करने में मैंने श्री गौरीशंकर जी की "भारत की प्राचीन लिपि" पुस्तक, Buhler's Indische Palaeographie और Epigraphia Indica से सहायता ली है। विशेषता यह है कि हर वैक्रम शताब्दी के अक्षर छाँट कर लिखे हैं। नं० ७ में दूसरी शताब्दी के अक्षर अपने संग्रह किये हुए क्षत्रपों के चाँदी के सिक्कों से बड़े परिश्रम के साथ लिखे हैं। उसी तरह नं० ९ चौथी शताब्दी के अक्षर गुप्तवंशी महाराजाओं के सोने के सिक्कों वो लेखों से एकत्र करके लिखे हैं।

आप देखेंगे, दीर्घ 'ई' का पता ६ठीं शताब्दी तक नहीं है। 'ॠ' और 'ॡ' का पता ९०० वर्ष तक नहीं है। कारण केवल प्राकृत-भाषा थी, जिसमें इन अक्षरों का शताब्दियों तक प्रयोग न था। उसी तरह 'ङ' और 'क्ष' भी बर्ते नहीं जाते थे।

इस चार्ट की सहायता से उत्तरी भारत के शिला-लेख, ताम्र-पत्र, सिक्के केवल पढ़े ही नहीं जा सकते, बल्कि उनके समय का भी लगभग पता लग सकता है। रूपान्तर भी जो क्रमशः हुए हैं वह भी विदित होते हैं।

इस चार्ट से एक बात यह भी विदित होती है कि **महर्षि पाणिनि** के समय में 'अनुस्वार' व 'विसर्ग' के चिह्न जो अशुद्ध लिखे जाते थे जिसका उन्होंने उल्लेख किया है अर्थात् केवल डाट ∴ से काम लिया जाता था वह अशुद्ध था और यही प्रणाली दसवीं शताब्दी तक चलती रही। सातवीं शताब्दी में फिर शुद्ध रीति अर्थात् ० ॰ छोटे वृत्त से जैसा कि वह लिखे जाते हैं, लोगों ने संशोधन करके लिखना शुरू किया। देखिये कालम नं० १२ के मात्रा के आखिरी अक्षर। यह बात एक बड़े विद्वान् पंडित जी ने चार्ट बन जाने पर मुझसे कही और यह भी कहा कि आपका चार्ट अवश्य शुद्ध है।....

दुर्गाप्रसाद

१. देवनागरी वर्णमाला वर्तमान काल
२. ४०० ई० पूर्व के अक्षर—सोहगौरा पट्ट से
३. ३०० ई० पूर्व महाराज अशोक के समय के अक्षर—दिल्ली व कालस के शिला-लेखों से
४. २०० ई० पूर्व के अक्षर—हाथीगुम्फा से
५. ई० पू० १०० के अक्षर—मथुरा में सोडास के लेखों से
६. ई० पहिली शताब्दी के अक्षर—कुशान राजाओं के लेखों से
७. ई० दूसरी शताब्दी के अक्षर—पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्कों से
८. ई० तीसरी शताब्दी के अक्षर—पल्लववंशी शिवस्कंद के लेखों से
९. ई० चौथी शताब्दी के अक्षर—गुप्तवंशी राजाओं के सिक्कों से
१०. ई० पाँचवीं शताब्दी के अक्षर—बिलसड़ के लेखों से
११. ई० ६०० के अक्षर—महानाम के लेखों से
१२. ई० आठवीं शताब्दी के अक्षर—अप्सद के लेखों से
१३. ई० नवीं शताब्दी के अक्षर—दिघवा दुबौली के लेख से
१४. ई० दसवीं शताब्दी के अक्षर—पिहुवा प्रशस्ति से

१५. ई० ग्यारहवीं शताब्दी के अक्षर--घोसवर के लेख से

१६. ई० बारहवीं शताब्दी के अक्षर--उदयपुर प्रशस्ति और हस्तलिखित पुस्तकों से

१७. ई० १३वीं शताब्दी के अक्षर--भीमदेव के लेख से

१८. ई० १७वीं शताब्दी के अक्षर--हस्तलिखित पुस्तक से

१९. ई० २०वीं शताब्दी के छापे के तिर्छे अक्षर (Type)

परिशिष्ट (२)

नाम-अनुक्रमणिका

अकबर । १६४, १८६
अक्षपाद । १६७, १६९
अक्षोभ्य । २३०
अग्गालव । १९, २०
अगचेनगर । १२३
अग्निकश्यप । १८०
अग्निगुप्त । १६
अंगदेश । २७
अंग-मगध । ८०
अंगराष्ट्र । ८०
अंगुलिमाल । २०, ५४, १०३
अंगुलिमाल-पिटक । १०३
अङ्गुत्तर । १८, ४०
अंग्रेजी । ९, १८५, १८६, २०९
(–अट्ठकथा) । ४८, ६१, ६८
अचिन्त । १६१
अचिन्तिया । १२१
अचित्यक्रमोपदेश । १६२
अचिरवती । २२, २३, २४, २७, २८, ३१, ३५, ३८, २०६
अचेलक वग्ग । २२
अजगैबीनाथ । २२३
अजन्ता । १७३, २०५, २३०
अजपालिपा । १५२
अजातशत्रु । १०
अजित केशकंबल । ७२
अजोगिपा । १२०
अट्टिसर । ५५
अट्ठकथा । १८, २२, २३, २५, २६, ३०, ३१, ३२, ३५, ३७, ३९, ४०, ४२, ४६, ४९, ५५, ५९, ६०, ६-, ६७, ७०, ७३, ७५, ७८, ७९, ८०, ८२, ९७, ९९, १०२, १०६
अतरसन । २०८
अतिशा (दीपंकर श्रीज्ञान) । ११६, १२६
अद्वयनादि । १६४
अद्वयवज्र (मैत्रीपा) । १६१
अद्वयबज्र । २२१
अध्यर्द्धशतक । २०३
अध्यापक दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य । १२५
अज्ञात (कवि) । १६१
अनंगपा । १२४
अनंगवज्र । ११५, १२२
अनाथ पिंडक । २०, २४, २५, ३१, ३३, ३४, ३५, ३६, ३९, ४१, ४२, ५०, ५३, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६८, ७०, ७३, ७४, ७६, ८०
अनुत्तर सर्वसिद्धि । १६४
अनुराधपुर । ३२, ७६, ८०
अनुरुद्ध । ४८, ८४
अन्तरपाद । १५७
अन्तर्वाह्य० । १५७
अन्तर्वेद । १६७
अन्धक । ९८, ९९, १००, १०२, १०३, १०६, १०७
(–निकाय) ९९, १०२, १०४, १०६
(–सम्प्रदाय) १०५, १०६
(–साम्राज्य) ९९

अन्धवन । ३२, ३९, ८५
अपभ्रंश । १८१, १८२ (मागधी), १८३
अपरशैल । १००, १०३
अपरशैलीय । ९९, १००, १०२
अपोहसिद्धि । २३९
अपोगिपा । १६१
अपत्रदेश । १२४
अपिशलि । १८१
अफ्रीका । ९०
अबिद्धकर्ण । १६७
अबोध-बोधक । १६१
अबौद्ध । १७५
अभारतीय । २०४
अभिधानप्पदीपिका । २०, ४३, ४४, ४५
अभिधर्म-कोश । २१
अभिधर्म-कोश-भाष्य । २०३
अभिधर्मपिटक । ९९, १६९
अभिधर्म-समुच्चय । २०३
अभिसमय-विभङ्ग । १४१
अमनौर । २०७, २०९, २१०
अमरावती । १०२, १०४
अमहा । २३
अमिताभ । २४४
अमितायु । २४४
अमृतसिद्धि । १४४
अमेरिकन । १८४
अम्बाला । १९२
अयोध्या । २०, १६९, १७२
अल्ची । २३२
अरबी । १८६
अर्चट । १७६
अर्धमागधी । १८२
अवध । १८५
अवधिया । २१४
अवधी (कोसली) । १८३, १८४, १८५, १८६, १८८
अवधी (–हिन्दी) । १८८
अवधूतिपा । १२०-२२, १२५, १३८, १६१, १६३
अवन्ती । १०, १७, १५४, १७८
अवलोकितेश्वर । ११०, २३४
अवीचिनरक । ५५
अशोक (सम्राट्) । ६, १३, ४१, ८८, ९८, १७३, १८२
(–की मागधी) १८३;
(–स्तम्भ) ९५, २२५
अश्वघोष । १६९
असंग । १७२, १७५, २०३
असुर । १०८, १११
अहीर । ८७, ९१, २०८, २१३
आचार्य दिङ्नाग । १७०, १७१
आचार्यधर्मपाल । ६०, ६१
आचार्यबुद्धघोष । ५९
आचार्यमनोरथनन्दी । २०१
आचार्यशांतरक्षित । १६७, १६९
आचार्य सिल्वेन् लेवी । ३, ४
आज़मगढ़ । १४, १६७, १९५
आटानाटिय सुत्त । १०९
आत्मतत्त्व-विवेक । २०२
आत्मपरिज्ञान । १६२
आदिनाथ । १४८
आदियोगभावना । १६३
आनञ्जसुत्त । ८०
आनंद । २३, २४, २८, ३२, ३५, ४६, ५३, ५४, ६५, ७१, ७६, ७७, ७९
आनन्दध्वज । १७६
आनन्दबोधि । ६५
आन्ध्र । ७, १४, ९८, ९९, १०३, १०४, (–देश) ९९, १०३, १०४, १०६, (–साम्राज्य) १०२
आमी । २१४
आरा । २०६
आर्य । १६६, (–भारत) १९०
आर्यक । ११३
आर्यदेव । १३९
आर्यसमाजी । २१४

आलवक-गर्जित । १०३
आलवी । ६९
आवर्तनी-विद्या । १०८
आसाम । १३५, १५१ ,१८३, १८७, २१२
आस्ट्रेलियन । १८४
इकमा । २०८, २१३
इचिङ । १७४
इंगलैंड । १९१, १९२, २२६
इंगलिश । १९१, १९२
इन्द्र । १३४
इन्द्रभूति । ११६, १२२, १४७, १६१
इन्द्राग्निमित्र । ९८
इमली दर्वाज़ा । ३३
इलाहाबाद । २२५
इस्ट इंडिया कम्पनी । २१०
इस्लाम । १८५
ईसाई । २१३
ईसा-पूर्व । १६९, २०७
ईरान । १९०
ईश्वरसेन । १७४
ईसा । १४, १७, १८, २६, २७,४१, ४९, ८८, १०५, १०६, १६९, १८०, १८१, १८२, १८३, १८४, १९६
ईस्वी । ६, ९, १७, २७, १६९
उरुवेला । ७३
उग्रनगर । २०
उज्जैन । १३, १५४, १७९, १८२
उड़न्तपुरी । १२२, १५८, २३१
उड़िया (दे० ओड़िया)
उड़ीसा । १२१, १२५, १४०, १४४, १४५, १४७, १७५, १८२
उत्तम देवी । ८०
उत्तर कोसल । २२
उत्तर-द्वार गाम । २५
उत्तर-पाञ्चाल । १९२
उत्तरापथक । ९९, १००
उदयगिरि । २२८
उदयन । १६७, २०३
उदयनाचार्य । २०२
उदयनाथ । १३१
उदान । २६, २९, ३४, ५२, ६०, ६१, ६६, ६७, ७०, ९२, ७५
उदान-अट्ठकथा । ६०, ६१
उदीची । १८०, १८१,
उद्योतकर । १६७, १७१, १७२
उधलि । १२४
उधलिपा । १५२
उपानहृया । २०८
उपनिषद् । १६६
उपरिक । १४
उप्पलवण्णा । ३१
उपसम्पदामालक । ६५
उपस्थान शाला । ५८
उय्यानपाल गण्ड । ३६
उर्दू । १८६, १८७
ऋग्वेद । १६६, १९०
ऋषिपतन । ७३
ऋषिपतन-मृगदाव (सारनाथ, बनारस) ६८, ११२
एलोरा । ९९
एकसरिया । २१०
एपिग्राफ़िका इण्डिका । ३८
ओझा जी । १
ओडन्तपुरी । २३२
ओडाझार । ८४
ओड्डिआण । १८६
ओडिविश (उड़ीसा) । १४७
ओड़िया । १६७, १४५, १४७, १८३, १८७, १९४
ओड़ीसा । १४४
ओम्भट्ट । १६
औलियाबाबा । ९४
कङ्कणपाद । १२१, १५६
कङ्कालमेखला । १६१
कंकरिपा । ११९
कङ्कालिपाद । ११९, १६२

कंजुर । १६०
कटिहार । २१७
कच्ची कुटी । ३०, ३३
कण्हपा । १२०, १२१, १२३, १३१, १३३, १४४, १४६, १४८, १५४
कथावत्थु । ९७, ९९, १००, १०२, १०३, १०४, १०६, १०७, १११, १६९
कनिंघम । १२
कन्जुर । ११४
कन्थाधारी । १३१
कन्नौज । ८९, १८८, २०७, २०८
कपल्ल-पूव-पब्भार । ७१, ७२
कपाल । १२४
कपिल । १२१
कपिलवस्तु । १८, १९, २०, २१, ७३, ७४, १४९
कप्तानगंज । २१७
कबीर । १२८, १२९
कबीरपन्थी । २१४, २१५
कंबलपा । १५६
कमलशील । १७६
कम्बलगीतिका । १४७
कम्बलपाद । १४७
करुणाचर्याकपालदृष्टि । १६५
करुणापुंडरीक । ५७
करुणाभावना । १५७
करेरिमंडलमाल । ५९, ६०, ६१, ६२
कर्णकगोमी । १७७, २०२
कर्णपा । १५१
कर्-म-ल-देङ । २३३
कर्णरिपा । १२४, १३९
कर्मवार । २०९, २१०
कर्मनाशा । १८१, १८३
कमरिपा । १२२, १६२
कलकत्ता । १२७, १३६, २१२
कलिकालसर्वज्ञ । १५९
कलिंग । १८१, १८३
क्लोङ-र्दल्-ग्सुङ-बुम् (ल्हासा) । १०३, १०७
कल्याणपुर । २०७, २०९
कल्याणमल्ल । २०९
कल्याणरक्षित । १७६
कल्याणश्री । २२०, २२१
कसया गोरखपुर ८, ९, २०६
कस्सप दसबल । २२
कश्मीर सर्कार । २३२
कश्मीरी । १५८
काकन्दी । १८
काकवलिय । ८०
काँचनध्वज । २२०
काञ्ची । १२०, १२४
काँचीपुरी । १४५
काण्ट । २००
काण्व । ९८
कादम्बरी । ११३
काँदभारी । २३, २८
काँदभारी-दर्वाज़ा । २८
कान्हपादगीतिका । १५२
कामरूप आसाम । ११९, १२२, १३२, १५१
कायस्थ । १६०, १८५, १९२
कारीरि-गंधकुटी । ४४, ४५
कार्ला । ९९
कालपा । १२०
कालपाद । १२५
कालिदास । १७२, १७३
कालिभावनमार्ग । १६२
काशिका । १७३, १८०, १९५
काशिका-विवरण-पञ्जिका । १७७
काशी, (बनारस, मिर्ज़ापुर, जौनपुर, आज़मगढ़, गाज़ीपुर ज़िले) १, १२८, १४३, १६७
काशीश्वर जयच्चन्द्रदेव । १२८
काश्मीर । ३, ४, १६५
काश्मीरिक । २२२
काश्यप । ७२, ८४, ८७, २१४

(–बुद्ध)। २२, ८५
(–स्तूप)। ८५
काश्यपीय। १००, १०१
काह्लु। १५४
किलपा। १२४
किलपाद। १६२
कुश्राड़ी। २०९, २११, २१४
कुक्कुरिपा। १२१, १२३
कुचायकोट। १२८
कुचि। १२१
कुठालिपा। १२२, १५९
कुन्-व्दे-ग्लिङ। २२२
कुमरिपा। १२३
कुमारगुप्त। १७२, १७३
कुमारदेवी। ११, ८८
कुम्भा (राना)। ९२
कुररघर। २०
कुरु। १७८
कुरुकुल्ला। १६२
कुर्ग। १८५
कुँवरपचासा। २१५
कुशीनगर। २४
कुषाण। ७, ८, ९, १२, १४, ४९, ५२
कुसीनारा। २०६
कूर्मनाथ। १३१
कूर्मपाद। ११७, १४८
कुँवरसिंह। २१५
कृष्ण। १८६
कृष्णपा। १५१
कृष्णपाद। १५२
केप्टाउन। १८५
केरलिपा। १६२
केवट्टगाम। २६, ४१
केवट्टद्वार। २६, ३१
कोकालिक। ५६
कोकालिपा। ५६, ११९, १२८, १६२
कोंकणी। १८५
कोङ-जो। २३०
कोङ-वो। २४२
कोंचिला। (खाँव) ९२
कोठिया नरावँ। २०८
कोरी। १५४
कोलगंज। २२३
कोलम्बो। १८५
कोली। २०९
कोल्हापुर। १३०
कोशल। २२, २४
कोशाम्बी। ६९
कोसम्। २५५
कोसंबकुटी। ४०, ५९, ६१, ६५, ७६
कोसम्बक्खंधक। ६९
कोसम्बी। २४
कोसल (राज्य)। १०, १७, १८, २१, २६
कोसलक। ४५
कोसली। १८१, १८३
कोसी। १५, १७९, १८३
कौटिल्य। २२६
कौल-धर्म। १२८
कौशाम्बी। ६९, ७०, १२१, २५५
कौशिक। ५८
क्शिस्-ल्हन्-पो। २३३
क्षणभंगसिद्धि। २०२
क्षणभंगाध्याय। २०२
क्षत्रिय। १४२
खंधका ४१
खजुहा ताल। ८४
खळीबोली। १८४, १८६, १८७, १८८, १९२, १९३, १९७, १९८
खळी हिन्दी। १९४
खडौंआझार। ८४
खस्। २४२
खवसिया (दिसवाह) ९२
खारवेल। १०३
खालसिका। २०७
ख़ुदाबख़्श ख़ाँ। २१६
खुद्दकनिकाय। २४, ६१
खुद्दकवत्थुक्खंधक। ६४
खु-स्तोन-यब-स्रस्-ग्सुं-बुम्। १२६

खोजवाँ । २१०
खि्र-चुन् । २३०
खि्रन्-लस्-ग्र्य-म्छो । २३५
खि्र-स्रोङ-लूदे-बचन् । २३२
ख्रो-फु-निवासी । १२७
ख्रो-फू-व्यम्स्-पई-पल् । १२७
गंगा । १५, ९०, १४७, २०६, २१२, २१७
गंगापुर-दर्वाज़ा । २८, ३५
गंगेश उपाध्याय । १६७, १७०
गंड । ३७
गंडक । १५, ८८, १८३, १९५, २०६, २१२
गंडक-पार । २०६
गंधार । ९८, १७८
गंधपुर । १२०
गंधारी । १०८
गंधकुटी । ४०, ४३, ४४, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५३, ५६, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६३, ६५, ६७, ६८
गंध-कुटी-प्रमुख । ५०, ५२
गंध-कुटी-परिवेण । ५०, ५१, ५२, ६२
गंधकुटी-मंडप । ६०
गढ़वरिया । ९२, ९३, ९४ ।
गणक-मोग्गलान-सुत्त । ७९
गणेश । १२, २०८
गण्डम्बरुक्ख । ३६
गन । ९४
गया । ९०, १२८, १९९
गयादत्त । २१६
गयाधर । १६०, १६२
गयासपुर । २१५
गहरवार । २०८, २०९
गाज़ीपुर । १९५
गाथासप्तशती । १८०
गायकवाड़ । ११५
गायना । २१२
गिल्गित् । ३, २३०
गुंजरिपा । १२१
गुंटूर । १०३, १०४, १०६, १०७, ११२, ११४, १३५
गुजरात (सूनापरान्त) । ९८, १६४, १८२
गुजराती । १८२, १८५, १८७, १९२, १९४
गुणाढ्य । १८०
गुणराजसिंह । ९०
गुण्डरिपा । १२३
गुण्डरीपाद । १५०
गुप्त । ९, १२, १५, ८७, ८९, १८०
गुप्त-काल । ८, ११, १२, १३, १४, १७३, २२८
गुप्तकालीन । १४, २२३
गुर्जर-प्रतिहार । २०७
गुर्जर-प्रतिहार-वंश । २०७
गुप्तसाम्राज्य । १४, ११२
गुप्तसम्राट् । २२३
गुप्त-वंश । ११, २२८
गुरुगुणधर्माकर । २२०
गुरुमैत्री-गीतिका । १६१
गुह्यकल्प । ११४
गुह्यपा । ११७, १५७
गुह्यसमाज । ११४
गूढ़-वेस्संतर । १०४
गेलहीं दर्वाज़ा । २९, ३०, ३१
गोकुलिक । १००, १०१
गोंडा-बहराइच । १४, २१, ९६, १५५
गोनर्द । १७९
गोनर्दीय । १७९
गोपालगंज । १९५, २११, २१७
गोपालप्रसाद । २१६
गोमिपुत्र । १५
गोरखनाथ । १३१, १५१
गोरखपुर । १४, ९६, ११५, २०६, २१७
गोरत (महतो) ९२
गोरक्ष । १३१
गोरक्षनाथ । ११८, १४८

गोरक्षपा । ११९, १६२
गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह । १३०
गोरिदास । १६
गोविन्दगुप्त । १६
गोविन्दगुप्त-माता । १२
गोसाल । ७२, १६८
गौडेश्वर । १३८
गौड़ । ११९, १२४
गौतमी । ३२
गौतमबुद्ध । ९५, १६८, १७८
गौतम । ४६, ५६, ६७, ७२, ७९, ८१, २०९
गृध्रकूट । ११२
ग्नुब् । १२७
गु० रिम् । २३३
गे-लुग्स्-पा । २३३
गोबी । २३०
ग्यां-ची । २३२
ग्र्युद-स्मद् । २३५
ग्र-नङ । २३३
ग्र-पिच । २३३
ग्य-ल्ह-खङ । २०५
ग्रियर्सन (डाक्टर) । १८७, १९३, २०४, २१७
ग्यांची । २०५, २३२
घंटापा । १४५, १६२, १४७
घंटापाद । १४७, १४८
घग्घर (शरावती-सरस्वती) । १८१
घाघरा । २०६, ११२
घुसुण्डी । ३८
घूरापाली । २०७
घोघाळो । ८८
घूरापाली । २०८
चंक । ८३
चकसंवरतन्त्र । १४२
चक्र-संवर । ११४
चतुरशीतिसिद्ध प्रवृत्ति । ११९, १२२, १३०
चङ । २३३
चतुष्पिष्ट । ११४
चनाब । २०
चन्द । १३४
चन्द्रगुप्त । ११, ९५
चन्द्रगुप्तपत्नी । १६
चन्द्रगुप्त-तनय । १७३
चन्द्रगुप्त द्वितीय । १२, १७३
चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य । १७३
चन्द्रप्रकाश । १७३
चन्द्रभागा नदी । २०, २१
चन्द्रराज-लेख । १२७
चमरिपा । १२८, १६२
चम्पा । १२३
चम्पकपा । १२३, १६२
चम्पारन । १४, ८९, ९२, ९६, १२४, १९५, २०६, २१०, २११
चर्पट । १३१
चर्पटी । १२३, १३१, १३२
चर्पटीपा । १४९, १६२
चर्पटीपाद । १५१
चर्या । १३१
चर्याचर्यविनिश्चय । १३७, १३८
चर्यागीति । १३७, १४४, १४८, १५०, १५१, १५५, १५६, १५७, १५८
चर्य्यादोहाकोष-गीतिका । १५६
चर्यादृष्टि-अनुत्पन्नतत्त्वभावना । १६४
चष्टन-रुद्रदाम वंशय । १३
चालिय पर्वत । ६९
चासर । १८४
चिंचा । ५५, ५६
चित्तगुह्य० । १३८
चित्तचैतन्यप्रशमनोपाय । १६४
चितवनिया । ९२, ९३, ९५
चितावन । ९५
चित्त-कोष-अमृतव्रजगीतिका । १३६
चित्ततत्त्वोपदेश । १६२
चित्तमात्र-दृष्टि । १६१
चित्तरत्न-दृष्टि । १६३

चित्तरत्नविशोधनमार्गफल । १६५
चित्तसम्प्रदायव्यवस्थान । १६१
चित्ताद्वैत-प्रकरण । २०२
चित्तौड़ । १३३
चित्तौरगढ़ । ९५
चिन्तक । १८
चिराँद । २०७, २०८, २१३
चीन । १०४, १०५, ११७, १६४, १६९, १७२, १७३, २०३, २३०, २३१, २४३
चीनी । १०५, १६९, १७०, १७३, १७४, १७५
चीनी-भाषा । १७२
चीरेनाथ । ३१, ८३
चुनार । २०७
चुल्लवग्ग । ४१, ४२, ५८, ६३, ६४, ७७
चूल-सुञ्ञाता-सुत । ७९
चें-ग्दुङ् । २३३, २३४
चेलुकपा । १२५
चेलुकपाद । १६२
चैत्यवादिया । १०२
चैत्यवाद । १०२
चैत्यवाद-निकाय । १०२
चैनपुर । २१०
चौखम्भा-संस्कृत-सीरीज़ । १७१, १७२
चौरंगीनाथ । ११८
चौरासी सिद्ध । ११७
चौहान । २०९, २१०
छत्तीसगढ़ । २२
छोन-जे-लिङ् गुम्बा । २१९
छन्दोरत्नाकर । १५९
छपरा । १०, ८८, ९०, १९५, २१३, २१७
छत्रपा । १२०, १६२
छब्-म्दो । २३३
छवग्गिय । ३४
छान्दस् । १८०
छायावाद । १२९
छितौली । २१४
छुङ्-व्रिस् । २३३, २३५
छुल्-ख्रिम्स् । १२७
छोस्-द्व्यिङ् । २३५
छोस्-ब्युङ । ११२, २२१
जउना । १४७
जक्ख । १३४
जगत्तला । १६५
जगन्मित्रानन्द । १२७, १२८, १६२, १६४
जज्जल । १३३, १३४
जथरिया । ११, ८६, ८७, ८८
जथरिया-वंश । ११
जनरल् कनिंघम् । १२
जम । १३४
जंबूद्वीप । ४६, ६५, १६८
जम्बू वृक्ष । १६८
जयचन्द्र (राजा) । १२७, १२९, १३४, १६२
जयचन्द्र-पुत्र । २०८
जयच्चन्द्र देव । १२८
जयचन्द्र विद्यालंकार । २००
जयनन्दीपाद । १५०
जयानन्त । १२३, १५७, १७६
जर्मन-भाषा । १९७
जर्मनी । १९२
जलन्धर । १३१
जवरिपा । १५२
ज० श० । ८६, ९०, ९१
जातक । २४, ३४, ५८, ६५, ७३
जातकट्ठकथा । २४, ४६, ४७, ४९, ५३, ६४, ७३, ७४, ८४
जातकनिदान । ७३
जापान । १७२, २३०
जायसवाल (डाक्टर काशीप्रसाद) । ३८, ८७, ८९
जालन्धर । ११९, १२५, १३१
जालन्धरपा । ११७, १२२, १३१
जालन्धरपाद । ११९, १३१, १४८, १५१

जालन्धरि । १४९
जितारि । १५९, १७७, २२०
जिनमित्र । १७६
जिनेन्द्रबुद्धि । १७३, १७७
जालसुत्त । १०८
जीवानन्द शर्मा । २१६
जूर्नाल-आसियातिक । २०४
जे-चुन्-मि-ला रे-पा । १५८
जेत । ४२, ५३
जेतवन । १८, १९, २०, २३, २५, २८, २९, ३०, ३२, ३६, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४६, ४७, ४८, ४९, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६१, ६२, ६४, ६५, ६६, ६७, ६८, ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ८०, ८३, ८४, ८५
जेतवन-राजकाराम । ५९
जेतवनद्वार । ३१
जेतवनद्वार-कोष्ठक । ५३, ५८
जेतवन-पट्टिका । ६५
जेतवन-पिट्ठि जेतवन-पुष्करिणी । ५३, ५४
जेतवन पोक्खरिणी । ५३
जेतवन बहिर्द्वार कोष्ठक । ५३
जेथरडीह । ८८
जेथरिया । ८६, ८७, ८८, ८९, ९०, ९१
जैथर । ८६
जैथरिया । ८६
जैन । १७, ३८
जैन-ग्रंथ । १०, ८०, १८२
जैनधर्म । १६
जैनधर्म-प्रवर्तक । १०
जैनाप्रकृत । १७
जैनमूलग्रन्थ । १८२
जैसवार कुर्मी । २२४
जो-खङ् । २०१
जोगिपा । १२२
जोतिय । ८०
जोमन श्रीदेश । १२३
जो-वो । २२०
जौनपुर । १६७
ज्ञातृ । ८६, ८७, ९१
ज्ञातृपुत्र (महावीर) । ८७
ज्ञातृवंशीय । ८६
ज्ञानप्रकाश । २१५
ज्ञानप्रभ । २३२
ज्ञानमित्र । २२२
ज्ञानवती । १३५
ज्ञानश्री । २०२
ज्ञानेश्वर । १३१
ज्ञानोदयोपदेश । १६२
ञि. मो । २४१
झरही । २१२
झाँसी । १३०
झुमरा । ९३
टंटन । १२१
टकारे । १३
टशीलुम्पो । १६०, २०५
टटिहा (तटिहा) । ८९
टेटिहा । २१४
ट्रिनीडांड । २१२
ठि-स्रोङ्-ल्दे-ब्चन् । १२६
ठोरी । ९५
डाकिनी-वज्रगुह्यगीति । १३६
डिसुनगर । १२३, १५०
डुक्-पा-पद्-म-दकर-पो । १२६
डेंगिपा । १२१, १४०, १४५
डोम्-तोन् । १२६
डोम्बि । १४६
डोम्बि-गीतिका । १४६
डोम्बिपा । ११९, १२४, १४४, १४६
ढाका । २१९
ढेण्ढण । १५४
ढेण्ढनपाद । १५४

ढोंढ़नाथ । २१४
तंजोर । १३०
तकाकुसू (डाक्टर) । १७२
तक्कसिला । १९
तग्-लुङ् । २३३
तक्षशिला । २३०
तत्त्वचिन्तामणि । १७०
तत्त्वसंग्रह । ११४, १७७, २१९
तत्त्वसंग्रह--पंचिकाकार । १७७
तत्त्वसिद्धि । १६२
तत्त्व-सुख-भावना । १४९
तत्त्वस्वभावदोहाकोष । १४१
तत्त्वाष्टक-दृष्टि । १६१
तथतादृष्टि । १४५
तथागत । ५१, ५२, ५६, ५७, ६६, ७४
तन्-जूर् । ११७, ११९, १३५, १३८, १३९, १४०, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, १४९, १५०, १५१, १५२, १५४, १५५, १५६, १५८, १५९, १६०
तँतवा । १५४
तन्तिपा । ११९, १४८, १५४
तन्तिपाद । १९४
तन्त्र । १४६
तमकुही । २०९
तर्कज्वाला । २०३
तर्कमुद्गर-करिका । १५७
तर्क-रहस्य । २०३
तर्कशास्त्र । १७२
तक्षशिला । १९, २०, २१, १८१
तामिल । १८५
ताम्रपर्णी द्वीप । १८४
तारा । २३०
तारानाथ (लामा) । १२७, १४६, १६४
तारुक्ख । ८३
तावतिंस भवन । ६९
तिन्दुकाचीर । ३१
तिन्दुकाचीर मल्लिकाराम । ३०
तिब्बत । ४, ११२, ११५, ११६, ११७, ११८, १२५, १२६, १२७, १३४, १४५, १५८, १६०, १६१, १६४, १६९, १७०, १७३, १७४, १७६, १८४, २००, २०१, २०३, २०४, २०५, २२१, २३०, २३१, २३९, २४०
तिब्बती-भाषा । २००
तिब्बत-यात्रा । २००
तिरहुत । १५, ८७, १६७, २०६
तिरुमलय (देश) द्रविड़ । १७५
तिलोपा । १२०, १५७, १५८
तिलौराकोट । २०
तीर्थिक चण्डालिका । १६१
तीर्थिकाराम । ४६, ५६, ७४, ८२
तुर्क । २०८, २१०
तुलसी । १८४
तेर्-गी । ११७
तेलगू । १८८, १९०
तेलोपा । ११७
तोन्-छोग् । २३२
त्रिउर । १४४
त्रिपिटक । १७, २५, २७, ३१, ४०, ६६, १४७, १६८, १८२
त्रिपुराक्ष । १४
त्रिलोचन । १६७, २०२
त्रिसमय । ११४
थगनपा । १६३
थरुहट । ९३, ९४, ९५
थारु । ९२, ९३, ९४, ९५, ९६
थारु गाँव । ९४
थारु-भाषा । ९३, ९५
थावे । २११, २१३, २१४, २१७
थियोसोफी । १०९, २२९
थूपाराम । ३२
दण्डनाथ । १३१
दन्-स-म्थिल् । २३३

दयाराम साहनी । ४३
दरभंगा । ९२, ९६
दलाईलामा । २२०, २३४
दवडीपा । १२४
दशगात्र । ९४
दशबल । ८२
दक्षिण कोसल । २२
दक्षिणापथ । १०२
दक्षिणावर्तनाथ । १७२
दक्षिणी अफ्रीका । २१२
दादू । १३०
दानशील । १७६
दामोदरसहायसिंह । २१६
दारिक । १२५, १४५, १४६
दारिकपा । ११७, १२५, १४०, १४५
दारुचीरिय । १९
दार्जिलिंग । २१२
दाहा । २१२
दाहा-नदी । १९५
दिघवइत । ८७
दिघवा । २०७
दिघवा-दुबौली (जि० सारन) । १४, २०७
दिघवारा । २०६, २१३
दिङ्नाग । १६९, १७०, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, २०१
दिजोर । २०८
दिल्ली । ११७, १८५, १८६, २०८, २१०
दीघनिकाय । ४०, ४३, ४८, ५९, ८०, ८३, ९५, १०९, १६९
दी० नि० अठ्ठकथा । ५९, ६०
दीपंकर । १२६, १६३, २२०, २२२
दीपङ्करश्रीज्ञान । १५८, १६१, १६३, १६४, १८४, २१९, २२०, २२१, २२२
दीपवंश । १८४
दुरौंधा । २१७
दुर्वेकमिश्र । १७४, २०२
दुसाध । २१३
दृष्टिज्ञान । १६३
देब्-तेर्-ङोन्-पो । २२२
देवदत्त । ५४, ५५, ५६, ५७
देवपाल (राजा) । ११९, १२०, १२१, १२२, १४२, १४४, १५१, २२१, २२३
देवीकोट । १२३, १४४
देवेन्द्रसाही । १७६
दे-स्रिद् । २३५
दोखंधि । १२०
दोखंधिपा । १६३
दोन । २०७, २०८
दोहाकोष । १३६, १४४, १५२, १५७, १८८, २०४
दोहाकोष-उपदेश-गीति । १३६
दोहाकोषगीति । १३६, १४४
दोहाकोष-चर्यागीति । १३६
दोहाकोषतत्त्वगीतिका । १६३
दोहाकोष-महामुद्रोपदेश । १३६
दोहाचर्यागीति । १६२
दोहाचित्तगुह्य । १६४
दोहानिधितत्त्वोपोदेश । १६१
द्रविड़जाति । १९०
द्रविड़-नासा । १९०
द्राविड़ । १९०
द्वग्स्-पो । २३३
द्वादशोपदेश । १३६
द्वारकोट्ठक । ५३, ५७, ५८
धञ्जुर । १२१
धनपाल । ५४
धनौती । २१५
धम्मचक्क । ४०
धम्मपद । १९, २५, ३१, ३३, ४७, ५१, ५२, ५४, ५६, ६५, ६७, ७१, ८५
धम्मपदट्ठकथा । ५७, ६५
धरनीकोट । १०३, १०६

धरणीदास । २१५
धर्मकीर्ति । १६३, १६८, १७०, १७४, १७५, १७६, २००, २०१, २०२
धर्म-चक्र-प्रवर्तन विहार । ६
धर्मधातुदर्शनगीति । १६३
धर्मधातुसागर । २३५
धम्मपद-अट्ठकथा । ६३
धर्मपाल (राजा) । १४, ११७, ११९, १२५, १३८, १४०, १७५, २०४
धर्मपा । १२१, १५२, १६१
धर्मपाद । १५०
धर्मरक्षा । १७२
धर्मसभामंडल । ६१
धर्माकरदत्त । १७६, २०२
धर्माकिरदत्तीय । १७४
धर्मोत्तर । १७६, २१०
धर्मोत्तर-प्रदीप । २१०
धर्मोत्तरीय । ९९
धहुलि । १२४, १६३
धातुवाद । १६३
धान्यकटक । ९८, १०२, १०३, १०४, १०७, ११२, ११५, १७०
धारणी । ११०
धुनिया । १९७
धेकर देश । १२४
धेतन । १६३
धोकरिपा । १२२, १६३
धोबी । १९७
धोम्भिपा । १२०
ध्रव-प्रदेश । १९३
ध्रुवस्वामिनी । १२, १६
नगनारायणसिंह । २१५
नगरभोग । १२२, १४८
नन्ज्यो । १०६
नन्द । ११, ३२, १७९, १८०
नन्दक । ३२
नम्बूदरी । १९०
नरोत्पल । २२२
नर्-थङ । २०४, २३२
न (ल) म्पोछा (राय) । ९२
नलिनपा । १२१
नलिनपाद । १६३
नवद्वीप (बंगाल) । १६८
नहरल्लवड्डु । १०७, ११२
नागबोधिपा । १२४, १४४, १६३
नागरी । १९६
नागरीप्रचारिणीसभा । १, १३२
नागशर्मा । १४
नागार्जुन । १०४, १०५, १०६, १०७, ११३, १२०, १२२, १२४, १३१, १३५, १३८, १३९, १६३, १७०, २०१
नागार्जुन-गीतिका । १६३
नागार्जुनी कोंडा । १०४, ११३, १३५
नाड़कपाद । १५८
नाड (नारो) पा । १५८
नाडपाद । १५८, १५९
नाडपादीय गीतिका । १५८
नाडीबिंदुद्वारे योगचर्या । १४६
नातपुत्त (ज्ञातपुत्र) । १०
नाथपन्थ । ११८, १२८, १३०, १३१, १३२, १४८
नाथपुत्त । ७२
नाथवश । १३२
नादिका । ८७
नानक । १२८, १३०
नार-थङ् तन्-जूर । ११७
नारायणवाट । ३८
नारोपा (नाडपाद) । ११७, १२०, १५७, १५८, २२२
नार्थङ । ११४ (नर्थङ)
नार्मंडी । १९१
नालन्दा । ११९, १२०, १२१, १२२, १३५, १४२, १४३, १४४, १७४, १७५, १७६, १८८, २०२, २०३, २०४, २१९, २२०, २२२, २२३
नालन्दा-विहार । १३९

नासिक । ९९
निकाय । ४०, ११७
निकाय-संग्रह । १०३, १०६, ११३, ११४, ११६
निगंठ । ७२
निग्-मा-पा । १२६
निर्गुणपा । १२३, १६३
निर्ग्रंथ । ८२, ८३
निर्णयसागर । १०७, ११३
निवृत्तिनाथ । १३१
निष्कलंकवज्र । १६३
नीलकंठ । १६४
नीलपट-दर्शन । ११६
नेपाल । ९४, १२६, १२७, १३४, १४८, १५३, १६०, १६५, २००, २२१, २३०, २३१
नेपाली । २३०, २४२
नेवार । १९०
नैपाली । ९३
नैयायिक । १६८
नैरोबी । १८५
नौखान । २३
नौसहरा दर्वाजा । २२, २७, ३४, ३५, ३६
न्यायप्रवेश । १७४
न्याय-विंदु । २०२
न्याय-भाष्य । २०१
न्याय-वार्तिक । १७१
न्याय-वार्तिककार । १७१
न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका । १७२
पंकजपा । १२२, १६१
पंचकंग । ८३
पञ्चछिद्दकगेह । ३७, ३८
पंचरुखी । २११
पंचाल । १६७, १८१
पंजाब । २०, ९९, १८१, १८८
पकुध कच्चायन । ७२
पटना । ८, २०, २६, १९२, १९३, १९९, २०६, २१७, २३१
पटना म्युज़ियम् । २३५
पठान । २१३
पडरौना । २०९
पतञ्जलि । १७९, १८१, १८३
पदरत्नमाला । १२७
पद्मवज्र । १४९
पद्मावती । ११३
पनहुग । १५४, १६४
पपउर । २०७
परमत्थजोतिका । ४४
परमस्वामी । १६४
परमार्थ । १७२
परसा । १०, १९५, २०६, २१०, २१३, २१४
परसौनी । २१०
परामर्द । ११४
परिलेयक । ७१
परिव्राजकाराम । ८४
पशुपति । १४
पसेनदी । २२, २३
पसेनदि (कोसल) । ३२
पहलेजाघाट । २१७
पहाड़पुर । १५१
पांडुपुर । ८५
पाञ्चाली । १८१, १८५, १८६
पाटलिगामियवग्ग । ५२
पाटलिग्राम । ५२, ८७
पाटलीपुत्र । २५, ८७
पाणिनि । १०, ४५, १७९, १८०, १८१
पातिमोक्ख । ४१
पाथरघट्टा । २२३
पायासी । १६८
पायासिसुत्त । १६८
पारसनाथ । २१६
पाराजिक । २५, ४१
पारिलेयक । ७०
पारिलेय्यक वनसंड । ६९
पार्थसारथि मिश्र । २०२

पालवंशीय । १४, ९८, ११७, १२८, १४३, २७४
पाली । १०, ११, १७, २३, ३०, ३३, ४२, ५६, ५९, ९७, ९९, १०४, १०६, १०८, १६८, १८२, १९३, २०६, २०८
पिपरहवा (वस्ती) ९
पिपरिया । ९५
पिप्पली । ९५
पीताम्बरदत्त । ११७
पुक्कसाती (पुष्करसाती) । १९
पुतलीपा । १२४, १६४
पुब्बकोट्ठक । २२, २८, ३४
पुब्बाराम । १८
पुरातत्त्वाङ्क । ९१
पुरैना । २३, ८५
पूर्णवज्र । १६४
पूर्णवर्द्धन कुमार । ८१
पूर्वकोट्ठक । ५६
पूर्वबंगाल । २१२
पूर्वभारत । १२०
पूर्वशैलीय । ९९, १००, १०२, १०३
पूर्वाराम । २३, २५, २८, २९, ३५, ३९, ४१, ७५, ७६, ७७, ७८, ८०, ८२, ८३
पूसिन (डाक्टर) । ९९
पेतवत्थु । २४
पेरिस् । ४, ११७
पैठन (हैदराबाद) । ९८
पोक्खरसाति । ८३
पोतला । २३४
पोस्-खङ् । २३३
पोट्ठपाद । ८३
प्रकृतिसिद्धि । १६३
प्रज्ञापारमिता । १०५
प्रज्ञोपायविनिश्चय । ११५, १६२
प्रजापति । ३२, ३४, ३५
प्रज्ञाकरमति । २२२
प्रज्ञाकरगुप्त । १७६, २०२
प्रज्ञापारमितादर्शन । १४७
प्रज्ञाभद्र । १५७
प्रताप । २०९ (महाराणा)
प्रतिमामानलक्षण । २४५
प्रतिष्ठान (पैठन) । ९८
प्रभावती । २२०, २२१
प्रभुदमा । १३
प्रमाणवार्तिक । १७४, २००, २०१, २०३
प्रमाणसमुच्चय । १७०, १७३, १७४, १७५, २०१
प्रमाणान्तर्भाव । २०२
प्रयाग । १७३
प्रसेनजित् । २३, २८, ३३, ३५, ४७, ४८, ५९, ६१, ६६, ७२, ७५, ७६
प्राकृत । १७९, १८१, १८३, १९३
प्राकृत-पैङ्गल । १२९, १३३, १३४
प्राक्-कुषाण । १२
प्राची (उत्तरप्रदेश-विहार) । १८०, १८१
प्रातिशाख्य । १७८
प्रिन्सेप् । १८४
प्रीतिचंद । १६७
प्रेमप्रकाश । २१५
फग्-स्-प । ११७
फग्स्-ब्सुतोन् । २३४
फ़तेहसाही । २०९
फ़र्रुखाबाद । २०
फ़्लीट (डाक्टर) । १३
फल्गुन । ७३
फ़ारसी । १८५, १८६, १८८
फ़ारसी-अरबी । १८८
फ़ाहियान । १७, २६, ३१, ३७, ५४, ५७, ६८, ८४
फ़ीजी । २१२
फ़ूशे (डाक्टर) । ४
फेम-बो । २४३
फ़ैज़ाबाद । २०
फोगल । ४, २६, २७, २८, २९, ३०, ३६

फ्रांस । ३, १९२
फ्रांसीसी । २०४
फ्रेंच । १९२, २०३
बखरा । १०
बगौछिया । २०९
बगौछिय (हथुआ) । ८९, २०९
बगौरा । २१०
बँगला । १३५, १४१, १८४
बंगाल । १३०, १३५, १८३, २०९
बंगाल रा० एसियाटिक । १३४
बंगाली । १४३, १८३
बघेलखंड । १२०
बड़हरिया । २१३
बज्जी । १०, २०७
बड़ौदा । ११५, १३०
बड़थ्वाल (डाक्टर) । ११७
बढ़या । २०७
बदायूँ । १८४
बदायूँनी । १८४
बनारस । १७२
बनारसी । १८३, १८८
बन्धविमुक्तिशास्त्र । १६३
बन्धविमुक्त-उपदेश । १६२
बप्प । १३४
बंबई । २०
ब्य-प । १२३
बरम । ९४
बरार (विदर्भ) । १७०
बरुण वृक्ष । ६०
बर्धमान महावीर । १६७
बर्मावाले । १९०
बलगमबाहु । १०५
बलिया । १९५, २०६
बसाढ़ (मुज़फ्फ़रपुर) । ८, १२, ८७, १६०, १६३
बस्ती । १४
बहमनी । १८५
बहराइच । ९२
बाग् । १७३
बाज़ारदर्वाज़ा । ३१, ३७
बाँतर (महतो) । ९२, ९३
बादन्याय । २०१
बाँवन बिगहा । २२३
बाबुल । १०८
बाँसखेड । १४
बाह्यान्तरबोधिचित्तबन्धोपदेश । १५१
बिजनौर । १८४, १९२
बिजयपाद । १५७
बिम्बसार । ६१, ८१
बिहार । २०, ८८, ९१, १३०, १९७
बिहार-उड़ीसा । २०१, २०२, १२५
बिहार शरीफ़ । १४३, १५८, २२०
बिहारी । १८६
बुद्ध । १०, १२, १६, १७, २६, २७, ३५, ४०, ४१, ४६, ४७, ४९, ५०, ५५, ६८, ७३, ७४, ८२, ८५, ८८, ९०, ९८, १०४, १०८, १०९, १६८, १६९
बुद्ध-कपाल-तन्त्र । १३५
बुद्ध-गया । २०७, २२०
बुद्धघोष । ५२, ५९, ६०, १०५
बुद्धचरित । १६९
बुद्धचर्या । ७५
बुद्धज्ञान । १२५
बुद्धमित्र । १४
बुद्धासन-स्तूप । ५२, ५७, ६२
बेतिया । ११
बेबिलोन । १०८
बैतारा (ताल) । २९, ३०
बैशाली (महावन) । ६८, ७०, ८८
बैस-क्षत्रिय । २०८
बोधगया । १२७, १८२, २०४
बोधि । ७४
बोधिचर्यावतार । १५२
बोधिचित्त । १६४
बोधिनगर । १२२
बोधिवृक्ष । २०४
बोधगया-मन्दिर । २०४

बौद्ध । १२६, १७५, २२९
बौद्धगान-उ-दोहा । १३७
बौद्धविहार । २०८
बौद्धसम्प्रदाय । ६, १०९
बौद्ध । ६, १७, ८८, ११०, १३०, १६६, १६९, १७०, १७५, २००, २०८ (दर्शन); १६, ४०, ७५, ८९, ९८, १०४, १११, १२६, १६९, १७०, २३० (धर्म); १६९, १७०, २००, २०२, (नैयायिक); १६९, १७०, (न्याय); १२८ (मूर्ति)
बौद्धधर्म । ४७
बौद्धाधिकार । २०२
बौद्धन्याय । १६७
बौद्धमूर्ति-विद्या । १२८
ब्रजभाषा । १८४, १८६, १८७, १८८, १९२
ब्रस्-स्पुङस् । २३३, २३५
ब्रह्म । १४७
ब्रह्मपुत्र । २३४
ब्रह्मरक्षित । १४
ब्रह्मा । ९१
ब्रजकिशोरप्रसाद । १२६
ब्राह्मण । २१४, १६६ (ग्रंथ)
ब्राह्मणन्याय । १६७, १०८
ब्राह्मणवाट । ३८
ब्रि-गोङ । २३३
ब्रुग-प-पद्म-द्कर्-पो । ११२
ब्रोम्-स्तोन् । २२३ (डोम्०)
भंगल । १४१, १५७, १५९, २२२
भंगल देश । १२२, १२३, १२४
भंगलपुर । १२३
भगदत्त । १६
भगलपुर । १२२
भगवदभिसमय । १४१
भगुनगर । १५७
भट्टाचार्य (डाक्टर) । १४२, १४३, १५१, २१९
भड़ौच । १८४
भद्दिय । २७, ८०
भद्रपा । १४३
भद्रयाणिक । १००, १०१
भरहुत । ४२, ४९, ५२, ६५
भरुकच्छ । १८४
भलह । १२१
भलिपा । १२३
भवनार्जिः । १३१
भागलपुर । ८०, १२२, १२५, १४१, १५७
भादे । १५६
भादेपा । १५५
भारत । १, २, ३, ४, ६, ७, १०, ११, २६, ५७, ९१, ९८, १०६, ११०, ११८, १२४, १२६, १२८, १३२, १४८, १६६, १६८, १७३, १८२, १८७, १९०, २००, २०३, २०५, २२०, २२४, २२५ (दक्षिण), २२९, २३०, २३१ (उत्तरी), २४२, २४३
भारततत्त्व । २००
भारतीय । ४, ११, ४५, ११६, १२६, १५९, १६१, १६६, १६७, १७३, २००, २०३, २०५, २२१, २३०, २४५
भारद्वाज । १६७
भाव्य । २०३
भिकमपुरी । २२१
भिखनपा । १२३
भिखनाठोरी (ज़िला चम्पारन) । ९४, ९५
भिगुनगर । १२०
भिरलिनगर । १२३
भिलसा (ग्वालियर-राज्य) । १०७, २२८
भीटा (इलाहाबाद) । ८, ९, २२५
भीटी (बहराइच) । ९, ८५
भूटान । २४३
भूत-चामर । ११४

भूमिहार । ८६, ८९, ९०, ९१, २०९, २१३, २१४
भुसुकु । १४२, १४३
भुसुकुपा । १२१
भेरुकाद्बुद । ११४
भैरवगिरि । २१६
भैरवात् । १३२
भैरवीचक्र । १११, १२८
भोट । १२६, १३२, १५८, १६०, १६३, २१९, २३१, २३३, २४३
भोटवासी । १७६
भोटसाम्राज्य । २३१
भोटिया । १०३, १०४, ११७, १२६, १३१, १३२, १४१, १४२, १४३, १६३ (अनुवाद); १४२, १६०, (कंजुर); १३४ (ग्रंथ); १२७, १३२, १६३ (भाषा); १२६ (साहित्य); १४७, १६०, २१९, २२१
भोदृन्त । १३४
भोजपुरी । १८३, १८५, १८६, १८७, १९२, १९५, २१७
मंकुल पर्वत । ६९
मंखलि । ७२
मंगोल । ९२
मंगोलजातीय । ९५
मकेर । २१०
मक्खली । १६८
मगध । १०, १७, ११९, १२०, १२१, १२३, १५५, १५८, १६७, १८२, २०२, २०७
मगधदेश । १४६, १५५
मगध-साम्राज्य । ८८, २०७
मगधी-भाषा-भाषी । १८३
मगह । ८८, ९१, १४३
मगही । ९५, १४४, १४५, १४६, १४७, १४८, १५१, १५२, १५४, १५५, १५७, १५८, १८३, १८५, १८६, १८७, १८८, १९२, १९९ २०७
मगही (आधुनिक) । १८३
मगही काल । १८३
मगही (प्राचीन) । १८४
मगही मध्यकालीन । १८३
मगही-मैथिली-क्षेत्र । १८८
मगही हिन्दी । १५८
मच्छिकासंड । १९, २०
मच्छेन्द्र । १३२
मछिन्द्रपा । १३२
मज्झिमनिकाय । १८, १९, २२, २३, ३२, ४०, ५०, ७९, ८३
म० नि० अट्ठकथा । ५२
मञ्हुरुल्हुल । २१६
मझिअउर (माझी) । ९२
मझौली । २०९
मञ्जुघोष । २३४, २४४
मञ्जुश्री । ११०
मञ्जुश्रीनामसंगीति । १०९
मञ्जुश्रीमूलकल्प । १०२, १०७, ११२, १७९, २४५
मणिधर । १२०, १२३
मणिभद्रा । १२३, १४९
मणिसोपानफलक । ५०
मत-बल-सेन । ११६
मत्स्येन्द्र । ११७, १२२, १३२, १५१
मत्स्येन्द्रनाथ । १३१, १३२, १४८
मद्-ग्र-सङ । २३१
मद्रास । १९०
मधुरा । ११६
मध्यएशिया । १६९
मध्य-तिब्बत । २०५
मध्यप्रदेश । २२, १९०, १०७, २०६
मध्यमकविभंग । २०३
मध्यमक-हृदय । २०३
मध्यमकावतारटीका । १५७
मन्त्रयान । ११०, १११, ११२, ११३, ११६, ११८, १६२
मनोरथनन्दी । १७४, १७७, २०१

मन्-थङ् । २३३
मर्दनिया (मर्द) । ९३
मर-वा-लोचवा । १५८
मराठा । १३०, २१०
मराठी । १८८, १९४
मलबारी । १९०
मलयालम् । १९०
मल्लल । ८९, २०६, २०७, २०९, २१५
मल्का । ८३
मलिकादेवी । ३४
मल्लिनाथ । १७२
मसरख । ८८, २११, २१३
महम्मद-बिन-बख्तियार । १२७, १६५
महर (सहर) । १२४
महाउत (राउत) । ९२
महाकप्पिन । २०
महाकालकर्णी । ८१
महाकोशल । २२
महाढुण्ढन-मूल । १५२
महादेव । २०६
महादेश । २२१
महानाथ । १३१
महापदानसुत्त । ४०, ४३
महाप्रजापती गौतमी । ३३
महापरिनिर्वाणसूत्र । २४, ९५
महाभारत । १७
महाभिषेक । १४३
महामाया । ११४
महामुद्रा । १३५
महामुद्राभिगीति । १६२
महामुद्रारत्नाभिगीत्युपदेश । १६४
महामुद्रावज्रगीति । १३८
महामुद्रोपदेश । (त०) १५७
महामुद्रोपदेश-वज्र गुह्यगीति । १३६
महामुद्रारत्नगीति । १६४
महामोग्गलान । ५०, ५८, ७७
महायान । १७, ३८, १०२, १०४, १०५, १०६, १११, ११२, ११५, ११७, ११८
महायानोत्तर-तंत्र । २०३
महायानी । १०६
महायान की उत्पत्ति । ११७
महायानावतार । १६३
महायान, बौद्धधर्म । ९७
महारट्ठ । ९८
महाराष्ट्रीय । १३१
महाराजगंज । २११, २१३, २१७
महरौड़ा । २०६, २११
महाराणा प्रताप । २०९
महाराष्ट्र । ९८
महालता । ८१
महालता (आभूषण) । ७६
महालतापसाधन । ५१
महावग्ग । ४१, ६३, ७०, ७१, ७२, ७३
महावग्ग, चीवरक्खन्ध । २२
महावंस । १०६, १८४
महाविहार । ८०
महावीथी । ३०, ३७
महावीर । १०
महाशैल । १०२
महासमयतत्त्व । ११४
महासांघिक । ९७, ९९, १०२, १७९
महासुखतागीतिका । १६४
महासुखतावज्र । १६४
महिपा । १५५
(महिल) पा । १५५
मही (नदी) । ८८, १५५, २०६
महीधरपाद । १५५
महीपा । १२१, १५२, १५५
महीपाल । ११९, १५९
महीशासक । १००, १७९
महेट । २२, २६, ३१
महेन्द्रपाल । २०७
महेसर । १४७
माकन्दी । १८
मागधक । ४५
मागधी । ९५, १३५, १७९, १८१, १८२, १८३, १८४

मागधी (हिन्दी) । १७८
माँझा । २१५
माँझी । २०८, २१५, २१७
मातृचेट । २०३
मानसरोवर । २३४
मानव-तत्त्व । १९०
मान्धाता । ७९
मायामारीचिकल्प । ११४
मारीच्युद्भव । ११४
मार्गफलान्वितावववादक । १४४
मार्च । १२७
मार्शल् (सर् जान्) । ५१, ५२, ६२, ८५
मालतीमाधव । ११२, ११३
मालवदेश । १३४, १५४
मालवा । ११३, १५९
मालवी । १५४
मालाबार । १८५, १९०
मिगार (सेठ) । ३४, ८०, ८१, ८२
मिगारमाता । ७८, ७९, ८०, ८१, ८२
मित्र । १२८
मित्रयोगी । १२७, १२९
मिथिला । १६७, १६८
मिनान्दर । १६९
मिर्ज़ापुर । १०, १७. १६७, १९५, २०६, २१३, २१४
मिलिन्दप्रश्न । ९८, १६९
मिश्र । १०८, १११
मीननाथ । ११८, १३२
मीनपा । ११९, १२१, १३२, १४९ १५१
मीरगंज । १९५, २११, २१३
मीरासैयद । ३८
मुंगेर । २७, ८०, २२३
मुज़फ़्फ़रपुर । १०, ११, ८७, ९२, ९६, १९६, २०६, २१०
मुरली (पहाड़ी) । २२३
मुरलीमनोहरप्रसाद । २१६
मुरादाबाद । १८४
मुरू । १४७
मुसलमान । २६, ८८, ११३, ११८, १८५, १८६, १९६, २०९, २१२, २१३, २१५
मुसलमानी । ८६, १९५, २०९, २१५
मूलप्रकृतिस्थभावना । १६५
मृच्छकटिक । ११३
मेकोपा । १२२
मेखला । १५२
मेगस्थनीज़ । २५
मेघदूत । १७२
मेंडक । ८०
मोदिनीपा । १६४
मेधियवग्ग । ६६
मेंहदार । २१५
मैत्रीपा । १२५, १३८
मैत्रेय । २३०, २४४
मैथिल । ११८, १८३
मैथिली । १३५, १८३, १८५, १८६, १८७, १८८, १९२, २०७
मैरवाँ । २१३, २१४
मैहर । १२०
मोरिशस । २१२
मोहनजोदड़ो । ७, ८
मोग्गलान । ४६, ५६, ७७, ७८
मौद्गलि-पुत्र तिष्य । ८८
मौद्गल्यायन । १२६
मौर्य । ७, १३, २६, ४७, ९५, ९८, २२५
मौर्यकाल । ८, ९, २२६
म्यु-रु । २३५
यमसभ । १८०
यमारि । १७६
यमारितन्त्र । १४४
यमुना । २०६
यवन । १११
यशोधर । ८४
यक्षवत्स । १६

यज्ञवाट । ३८
याज्ञवल्क्य । १६७
युन्-च्वेङ् । ६, ११, १७, २६, ३१, ३३, ३४, ३५, ३७, ३८, ५४, ५५, ५६, ६८, ९९, १७५, १९६
युक्तपदेश । १६२
यूरेशियन । १८५
यूरोप । १, १९०
येर्-वा । २४२
ये-शेस्-डोद् । २३२
योगगीता । १६४
योगाचार । २०३
योगाचार्यभूमि । २०३
योगाचार-माध्यमिक । २०३
योगिनीप्रसरगीतिका । १६१
योगि-स्वचित्त-ग्रंथकोपदेश । १२७, १६३
रउतार । ९२
रक्ख । १३४
रंगून । २१२
रट्ठिक । ९८
रत्ती । १०, ८७
रत्नकूट । १०५, १०६, ११६
रत्नकीर्ति । १७७, २०२
रत्नभद्र । २३२
रल्-पा-चन् । १२६
रत्नमाला । १६५
रत्नाकर । १३२
रत्नाकरजोपमकथा । १३२, १६४
रत्नाकरशान्ति । ११९, २२१, २२२
रमपुरवा (चम्पारन) । ६, ८, ९५
र-मो-छे । २३०, २३१
रविगुप्त । १७६
रल्-प-चन् । २३२, २३४
राखालदास वन्द्योपाध्याय । १२
राजकल्प । ११४
राजकाराम । ३१, ३२, ३३, ३५, ३७, ३८, ४४, ४६, ४७, ४८
राजगढ़ । २३, ३१
राजगिरिक । ९९, १००, १०२, १०३
राजगुरु (पं० हेमराजशर्मा) । २००
राजगृह । १९, २०, २१, २५, ४१, ५७, ६८, ६९, ७२, ७३, ७४
राजपुर । १२०
राजपुरी । १२४
राजस्थान । १९७
राजमहल । २२३
राजवल्लभ । २१६
राजमनमहतो । ९८
राजशाही । १५१
राजस्थानी । १९२
राजेन्द्रप्रसाद । २१६
राठौर । २०८, २०९
राढ़ । १८४
राणा हमीरसिंह । १३३
राधास्वामी । १३०
राधिकाप्रसाद । २१६
राप्ती । २०६
रामकृष्ण । २२९
रामतीर्थ । २२९
रामगङ्गा । १८१
रामगढ़ । २३
रामानन्द । १२९, १३२
रामायण । १७
रामावतार शर्मा । २१६
रामेश्वर । १२२, १५९
रावण-मन्दोदरी-संवाद । २१५
रावलपिंडी । २०
राष्ट्रकूट । २०८
राष्ट्रपालगर्जित । १०३
राष्ट्रपालपरिपृच्छा । १०३
राष्ट्रपालनाटक । १६९
राहुल । ५४, ७४
राहुलकुमार । ७३
राहुलपा । १२२
राहुलभद्र । १३५, १६४
रिङ-बुम् । २४०
रिन्-छेन्-वज़ङ्-पो । २३२, २३३
रिन्-पो-छेइ-ऽव्युङ् । ५०

रिविलगंज । २१८
रीसडेविड्स । ४३
रुद्रद मा । ४५
रुद्रसिंह । १३
रुद्रसेन । १३
रुहेलखण्ड । १६७
रूसी । १९२
रे-डिङ । २३३
रोङ । २४०
रोङ-ब्रग्-प । २३४
लखनऊ म्युज़ियम । १३
लंका । ११६
लङ्कापुर । १२२
लक्ष्मी । १५, ९९
लक्ष्मीकरा । १२४
ल-मो-द्कुन् । २३५
ललितवज्र । १६४
लाकठ । २०८
लाखपुग्र । १२२
लामा तारानाथ । १२७, १४६, १६४
लाहोरी या लाखोरी । २
लिच्छवि । १०, ८६, ८७, ८८, ९१, २०७
लिच्छवि-गणतन्त्र । ११, १६
लिच्छवि जथरिया । ११
लिच्छविजाति । १०
लिच्छविवंश । ८७
लीलापा । ११९, १२३, १५०
लीलावज्र । १६४
लीलावती । ४४, ४५
लुचिकपा । १२३
लुइपा । ११९, १२१, १२५, १३८, १४०, १४१, १४५, १४६, १५४
लु-ऽबम् । २३५
लूइपाद । १४०
लूइपाद-गीतिका । १४१
लेखमन महतो । ८७
लेनिनग्राद् । २००
लेबी (सेल्वेन्) । ४
लोरेन । १९१
लौरिया । ८७
लौहप्रासाद । ७५, ७६
लौहित्य-नदी । १३२, १५१
ल्ह-लुङ् । २३३
ल्हासा । २३०, २३१, २३२, २३३, २३४, २३५, २४०, २४१
ल्हो-ख । २३३
वंकुपंडित । १७६
वंगराज । १८४
वंगीय-साहित्य-परिषद । १३६
वंशवृक्ष । ९७
वंशीसिंह । २१७
वज्जी । १०, ९१, १३६, २१५
वज्जी-गणतन्त्र । १०, २०७
वज्जी देश । १०, ८७, ८८
वज्रगान्धारकल्प । ११४
वज्रगीतावबाद । १६५
वज्रगीति । १५२, १५८, १६१
वज्रगीतिका । १५३, १६१, १६३
वज्रघंटापाद । ११७, १२५, १४५, १४६, १४७
वज्रडाकतन्त्र । १६०
वज्रडाकिनी-गीति । १६४
वज्रपद । १६४,१६५
वज्रपर्वतनिकाय । ११५
वज्रपाणि । १६४
वज्रयान । १०४, १०५, १०८, १११, ११३, ११४, ११५, ११६, ११७, ११८, १२५,१२६, १२८, १२९, १३५, १४७, १६२
वज्रयानीय । १३५
वज्रामृत । ११४
वज्रासन । २२१, २२२
वज्रासनवज्रगीति । १६२
वत्स । १०, १७
वनारस ।१६७
बरहगाँवाँ । ९४
वर्त्तत्रयमुखागम । १६१

वर्धमान (महावीर)। १०, ८७
वर्मी। ९४
वरौली। २१३
वस्ती। ९६
वसन्ततिलक। १५२
बसाढ़। (बनिया वसाढ़) १०, ८६
वसुबन्धु। १७०, १७१, १७२, १७३, १७५, २०३
वशिष्ठ। १६६
वहराइच। ९६
वाँकीदर्वाज़ा। ३५
वागीश्वरकीर्ति। २२२
वाचस्पति मिश्र। १६८, १७१, १७२, २०२
वाचस्पत्य। ४५
वाज़ार-दर्वाज़ा। ३३
वाजी। ९३
वाणभट्ट। ८८, ८९, ११२
वात्सीपुत्रीय। १००, १०१
वात्स्यायन। १६७, १७०, २०१
वात्स्यायनभाष्य। १७०
वादन्याय। १६७, १६९, १७०, १७२, २०१
वादविधान। १७०, १७१
वादविधि। १७०, १७१
वादरहस्य। २०२
वाममार्ग। १२८
वायुतत्त्व दोहा। १५५
वायुतत्त्वभावनोपदेश। १६२
वायुस्थानरोग। १६१
वाराणसी। १८, ७३, १६७
वारेन्द्र। १२२, १४०
वासुदेव। ९८
विकमलपुरी। २२०, २२१
विकल्पपरिहार-गीति। १६४
विक्रम। २२३
विक्रमशिला। ११९, १२१, १२५, १२७, १३५, १४१, १५७, १५८, १५९, १६५, १७६, २०२, २०४, २२१, २२२, २३३
विक्रमपुर। २१९, २२२
विक्रमपुरी। २२०, २२२
विग्रहपाल। २२०
विग्रहव्यावर्तिनी। १७०, २०१
विधसुर। १२०
विजयपा। ११७, १५७, १८४
विज्ञप्तिमात्रता। ९९
विदिशा। १०७
विदेह। १६७
विद्यापति। १८४, १८६
विद्याभूषण। २१९
विनीतदेव। १७६
विनय। १७, ६८, ७२, ७३, ७४
विनयग्रन्थ। ३५
विनयतोष भट्टाचार्य (डा०)। १२५, १४०, १४५, २१९
विनयपिटक। ४१, ६४, ६७, ७७
विनयसूत्र। ७५
विन्ध्य-हिमालय। १८१
विन्ध्येश्वरीप्रसाद शास्त्री। २१६
विभूतिचन्द्र। १७६
विमानवत्थु। २६
विमुक्तमञ्जरी। १३१
विमुक्तमंजरी-गीत। १४८
विरमानन्द। १४२
विरूपा। ११९, १४४, १४६
विरूपगीतिका। १४४
विरूपपदचतुरशीति। १४४
विरूपवज्रगीतिका। १४४
विलोचिस्तान। १९०
विशाखा। ३१, ३३, ३४, ३५, ३९, ५१, ५७, ७६, ७७, ८०, ८१, ८२
विशाल। ११
विशुद्धदर्शनचर्योपदेश। १६५
विश्वनाथसहाय। २१६

विश्वामित्र । १६६
विष्णु । १२, २०८
विष्णुनगर । १२०, १२१, १५६, १५८
विष्णुमूर्ति । २१०
विसाखा । २५
विसेन (राजपूत) । २०९
विहार । १२, ८०, ८६, १२७
विहार (भागलपुर) । १७६
विहारशरीफ़ । २३२, २३१
वीणापा । ११९, १४६
वीरवैरोचनगीतिका । १६५
वीरांकुर । ११६
बुलन्दीबाग । २५
बुद्धोदय । १४१
वु-स्तोन । १२६
वृजी । १७
बेतिया-राजवंश । ११, ८६
वेतुल्ल-पिटक । १०६
वेतुल्लवाद । १०४, १०५, १०६
वेतुल्लवादी । १०६
वेद । १६६, १७८, १८१, १९३
वेदान्त । २०३
वेरंजा । ६९
वेल्स । १९१
वेसाली । १२, १३
वैतारा-दर्वाज़ा । ३०, ३३, ३८
वैपुल्य (वेतुल्ल) । १००, १०२, १०५, १०६
वैपुल्यवाद । १०४, १०६, १०७
वैपुल्यवादी । ९९, १०४, १०९
वैरोचनरक्षित । २३२
वैरोचनवज्र । १६५
वैशाली । ११, १२, १६, ९०, ९७, १६०, १६३, २०६, २०७
वैश्रवण । ७९
वैष्णव । २१४
व्याघ्रपद । ८९
व्याप्तिनिर्णय । २०२
व्यास-नदी । १८०
व्रजमंडली । १८८
शंकर । २०२, २०३
शंकरानंद । १७६
शक । ९८
शफ़ी दाऊदी । ११
शबरी । १२४
शम्पेन्वा । १९१
शरच्चन्द्रदास । २१९
शरीरनाडिका-बिन्दुसमता । १६३
शर्माजी । ८६
शर्-री । १०३
श-लु । २३३
शवर । १२५
शवरपा । ११७, ११९, १२२, १३८
शवरपाद । १३८, १४०
शाकटायन । १८१
शाक्यमति । १७६
शाक्यपुत्री । ५३, ६६
शाक्यश्रीभद्र । १६५, २३३
शातकर्णी शातवाहन (शालिवाहन) । ९८
शातवाहन । ९८, १०७
शातवाहनवंशीय । १४
शान्तरक्षित । १२५, १२६, १६७, १६९, १७०, १७१, १८४, २३२
शान्तिगुप्त । १३१, १६४
शान्तिदेव । १५२
शान्तिपा । ११९, १२२
शास्ता (बुद्ध) । १९, ४६, ५३, ५४, ६३, ७३, ७६, ७७
शाह । २०८
शाहजीकी ढेरी । २०
शाहजहाँ । १८५, २१५
शालि । १०५
शिवनारायणी । २१४
शिवशरण । २१६
शिशुक्रन्द । १८०

शिशुक्रन्दीय । १८०
शीतलपुर । २०६, २११
शीलभद्र । १७५
शुंग । ९८, १०३, १८०
शुंगकाल । १८०, २०७
शुद्धसमुच्चयकल्प । ११४
शुद्धोदन । ७३
शृगालपाद । १६५
शेक्सपियर । १८४
शैव । २१४
शोभनाथ दर्वाज़ा । ३८
श्चेर्वात्सकी । १८९
श्रावस्ती । १४, १७, १८, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३८, ४०, ४१, ४२, ४६, ४८, ५६, ६७, ६९, ७१, ७२, ७३, ७४, ७५, ७६, ७७, ८०, ८१, ८३, ८४, ८५, ९८, १२१, १५५
श्रावस्ती-भुक्ति । १४
श्रावस्ती-मण्डल । २०७
श्रीधरसाही । २१५
श्रीधान्यकटक । १०७, ११२
श्रीपर्वत । १०२, १०७, ११२, ११३, ११५, १३८, १४४, १७०
श्रीशैल । ११३
श्रीहर्ष । ११६, ११७
श्रीज्ञान । (दीपंकर) १२५
षडङ्गयोग । १३८
षडङ्गयोगोपदेश । १६२
षष्ठिदत्त । १४
सकलसिद्धि-वज्रगीति । १६४
संकाश्य । २०
सक्खर । ५७
सखावत । २१५
सखी-समाज । २२९
सतपुरी । १२३
सतीशचन्द्र । २१९
सत्यनाथ । १३०, १३१
सन्तोषनाथ । १३१
सन्ध्याभाषा । १२९
सन्धोनगर । १२४
सप्तमसिद्धान्त । १४५
सप्तसिन्धु (पंजाब) । १६६, १६७
सप्तमातृका । १२
सबोर । २२२, २२३
सव्वासवसुत्त । १८
सभौर । २२२
समणमंडिकापुत्त । ८३
समाजतन्त्र । ११४
समयप्पवादक-परिव्वाजकाराम । ३९, ८२, ८३
समुच्चय । ११४
समुदपा । १२४
समुद्र । १६५
समुद्रगुप्त । ११, ८८, १७३, २२५
समंतपासादिका । ४५
सम्भलनगर । १२४
सम्भलपुर (विहार) । १२४
सम्-यस् । २३२
सरकार सारन । २०९
सरगुजा (राज्य) । १८२
सर जान मार्शल । ५१, ५२, ५५, ६२, ८५
सरयू । २०६, २१२
सरयूपारी । २०८
सरवरिया । ८८, २०८
सरह । ११७, ११८, ११९, १२० १२२, १२४, १२५, १३१, १३५, १३६, १३७, १३८
सरह-गीतिका । १३६
सरह-ग्रन्थावली । २०४
सरहपा । ११९, १३५, २०४
सरहपाद । ११७, १२९, १३५, १३८, १३९
सरस्वती । १८१
सरोजवज्र (सरह) । १३६

सर्वदेवतानिष्पन्न । १६२
सर्वभक्षपा । १२४, १६५
सर्वज्ञसिद्धि । २०२
सर्वार (गोरखपुर बस्ती जिला) । १२४
सर्वास्तिवाद । ६, १००, १७९
सर्वास्तिवादी । ६, १०१
स-स्क्य । २३३
सललघर । ५९, ६१
सललागारक । ४८
संस्कृत । १७, ८८, १७०, १७६, १७८, १७९, १८०, १८१, १८३, १८६, १९०, १९३, १९८, २००, (ग्रंथ), २०२
सहजगीति । १४२
सहजयोगिनी । १४५
सहजसंवरस्वाधिष्ठान । १३८
सहजाती । ८
सहजानन्तस्वभाव । १६२
सहजानंद । १४२
सहजयोगिनी चिन्ता । १६५
सहजोपदेशस्वाधिष्ठान । १३८
सहरा । १२९
सहेट । २३, २६, ४९
सहेटमहेट (गोंडा) । ९, २१, १५५
सहोर । १२५, २२०, २२१, २२२
स-स्क्य पण्-छेन । १७६
स-स्क्य । २०४, २०५
स-स्क्य-ङकं-बुम् । ११७, १२५, १२६, १३४, १४०, १४५, १५१, १५२, १५८
सस्क्य-विहार । १२६, १६०, १६५
सांख्य । १६९
साकेत (अयोध्या) । २०, २१, २४, २९, ८१, १६९
सागरपा । १२४, १६५
सागल । १६९
साधनमाला । १५०
सान्ति । १६०
साम्ब । १४
साँभर । २१९
साम्मितीय (निकाय) । ६, ३८, १००, १०१, १०२, ११७
सारन । २०६, २०७, २०९, २१०, २११, २१२, २१७, २१८
सारन-केनाल । २१३
सारनाथ । ६, ८, ९, २२५
सारिपुत्त । ४६, ४९, ५६, ७३, ८३, १२६
सारिपुत्रप्रकरण । १६९
सारियोगभावनोपदेश । १४९
सालिपुत्र । १२०, १२१, १२२, १२३
सावत्थी । १८, २३, २४, २६, ३६, ४१, ४२, ५४, ५९, ६६, ८४
सावर्ण-गोत्री भट्ट पद्मसर । २०७
साहनी (दयाराम) । ४४
साहित्यदर्पण । २२७
सिंगिया नाला । २३
सिंगापुर । २१२
सिंहनाद-सूत्र । १६९
सिंहल । ८०, १०५, १०६, ११६, १५९, १७९, १८२, १८४, २३०
सिंहाली । २३, ५५, १०३
सिद्धकाल । १२९
सिद्धचर्या । १५४, १५७
सिद्ध सरहपा । २०४
सिद्धार्थ । २०९
सिद्धार्थक । १०२, १०३
सिद्धार्थिक । ९९, १००
सिधवलिया । २११
सिन्धी । १८८
सिन्धु । १८१, १८२
सिरिपब्बद । ११२
सिलौढी । २१४
सिसवन । २१५
सीवान । १९५, २०७, २११, २१३, २१७, २१८
सीतवन । ७३

सीलोन । १८४
सीवद्वार । ४१
सुखदुःखद्वय परित्याग० । १५९
सुखवज्र । १६५
सुखावतीव्यूह । १०६
सुगत । ४७
सुगतदृष्टिगीतिका । १६३
सुचितसिंह । २१७
सुज्ज । १२६
सुतनु-तीर । ८४
सुत्तनिपात । २२, ५६
सुदत्त सेठ । ८०
सुधम्मत्थेर । १९
सुधर्म । १९
सुनिष्प्रपञ्चतत्त्वोपदेश । १४४
सुन्दरी । ६६, ६७, ६८
सुप्पारक (सोपारा, जि० ठाणा) । १८४
सुभद्रा । २०
सुभूतिक । १२६
सुमतिसागर । २२०
सुमनादेवी । ८०
सुम्-दा । २३२
सुर्-खङ् । २३४
सुल्तानगंज । २२३
सुवण्णसामजातक । ३६
सुवर्णाक्षीपुत्र (अश्वघोष) । १६९
सूक्ष्मयोग । १६५
सूत्रपिटक । १६९
सूर । १८६
सूरत । २०
सूर्यकुण्ड । ३८
सेंट मार्टिन । १२
सेंठा । ९२
सेनासनक्खन्धक । ४१, ५८, ६३, ७७
सेन्-गदोङ् । २३३
सेमरिया । २१४
से-र० । २३१, २३३
सैंथवार । ८९, २०९
सोंधोनगर । ११९
सोदामिनि । ११२
सोनपुर । १०, १९५, २०६, २०७, २१४
सोनभदरिया । ८६
सोमपुरी । १२०, १५९
सोमसूर्यबन्धनोपाय । १६२
सौदामिनी । ११३
सौन्दरानन्द १६९
सौरसेनीमहाराष्ट्री । १८२
संकस्सनगर । १९
संकाश्य । १९, २१
सकिसा । २०
संघश्री । १७६
संजयवेलट्ठिपुत्त । ७२
संधोनगर । १२०
संयुक्तनिकाय । ४०, ४६, ४८, ४९, ७१, ७२, ७५
संवरभद्र । १६५
स्कन्-जुर । १०३, १०५
स्कन्दगुप्त । १७२, १७३
स्काच् । १९१
स्टाइन । २३०
स्थविरवाद । ९७, १००
स्थिरसिद्धिदूषण । २०२
स्पूनर (डाक्टर) । १२, १३
स्नानकोट्ठक । ६२
स्याम । २३०
स्यालकोट । १६९
स्राङ्-ब्चन् स्गम्-पो । २३४
स्ववृत्ति-टीका । २०२
स्वरोदय । १२८
हड़प्पा । ८, ९
हथुआ । २०९, २१८
हनुमनवाँ । २९, ७६, ८२, ९०
हम्मीरसिंह, राणा । १३३
हयग्रीव । २४४
हर-गौरी । १२
हरदिया । २०७, २१३
हरप्रसाद शास्त्री । १४३, १६०
हरि । १५

हरिभद्र । १२५
हरिश्चन्द्र । १३४, २०८
हरिहर-क्षेत्र । २१४
हरिहरनाथ । २०६, २१४
हर्ष । १४, ११३
हर्षवर्द्धन । १४, ११२, २०८, २३०
हर्ष-चरित । १०७, ११३
हाजीपुर । १०
हालिपाद । १२२, १५०
हालेंड । ४
हिन्दी । १, १३४, १४०, १४२, १४३, १४४, १४५, १४६, १४९, १५७, १५८, , १६० १८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८, १९१, १९३
हिन्दी-भाषा । १२८, १८६, १९४
हिन्दी-भाषाभाषी । ५, १६०
हिन्दी (स्थानीय) । १९४
हिन्दुस्तान । १८६, १८८, २१४
हिन्दू । १३३, १८६, २१२, २१३
हिन्दुकुश । २२५
हिमवान् । २४
हिमालय । १५, २४, ३२, ९२, ९९, १८८, २३०
हीनयान । १५९
हीनयानी । ३८
हुंकारचित्तविन्दु । १६३
हुमायूँ । १६४
हूंकार-चित्त-विंदु-भावनाक्रम । १४८
हूसेपुर । २०९
हेतुवाद । ९९, १००
हेतुविन्द । १७४, २०२
हेमराज शर्मा (राजगुरु) । २००
हेरम्बकल्प । ११४
हेवज्र । १४६
हेवावितारण । १८
ह्वेन-चाङ् । २३१
The Annual Bibliography of Indian Archaeology ४
Archaeological Survey of India, 1910-11 ५१
A. S. I. Report 1910-11 ४९
Bazar-Darwaza ३६
Bhattacharya (Dr. B.)
Beal ३५
Bengal १३५, १४०
Bengali १३५, १४०
Buddha ५५, ६८
Catalogue du fonds Tibetain troisieme Partie १३१, १५३
Chancha ५५
Commentary Vol. i. p. 147 ५४
Cordier ११९, १३१, १३५, १६१
Devadatta ५५
Epigraphica Indica ९९
Gandhakuti ५१
Hiuen Tsang ६८
Indian Historical Quarterly, March 1930, १३२
Kachhikuti ३६
Kokali ५५
Kushana, ६२
Kushan Period ५१, ६२
Nanjio १०३, १०५
Naushara २७
Pag-sam-jon-zan १४२
Santideva १४२
Saurashtra १४२
Tsang, p. 93 ६८

परिशिष्ट (३)

शब्द-अनुक्रमणिका

अचिन्त्य परिभावना । १६४
अट्ठकथा । १८, २२, २३, २४, २५, २६, ३१, ३२, ३३, ३५, ३९, ४०, ४२, ४३, ४६, ४७, ४८, ५१, ६०, ६१, ६२, ६७, ७०, ७३, ७४, ७५, ७८, ७९, ८०, ८२, ९७, ९९, १०२, १०६
अद्वयनाडिका-भावनाक्रम । १६४
अंग्रेज़ी । ९, १८५, १८६, २०९, २१०
अनीश्वरवादी । १६८
अनुत्तर-सर्व-शुद्धिक्रम । १६४
अन्तर्बाह्यविषय-निवृत्तिभावनाक्रम । १५७
अपोहसिद्धि । २०२
अवयवी । १७०, २०२
असम्बन्ध-दृष्टि । १४७, १५२
अक्षरद्विकोपदेश । १४६
आत्मवाद । ९७
आदियोगभावना । १६३
आयुपरीक्षा । १६२
आषाढी । ३७
ईश्वरवाद । ९७
उक्कुटिक । ८४
उच्छेदवादी । १६८
उदाहरण । १६९
ऋक् । १६६
करुणाभावनाधिष्ठान । १५०
कर्मकाण्डी । १६६
कलाल । १९७
कल्प । १८०
कसेरा । १९७
कुम्हार । १९७
कोइरी । १९७, २०८, २१४
कोकिल । १८४
कोष । १३६
गंडेरिया । १९७
गणक्षत्रिय । ९१
गीतिका । १५५, १६१, १६३
गीत । १३८
गुह्याभिषेक । १४३
गूढ़विनय । ११४
ग्रामोफोन । १९६
ग्वाला । १९७
चंक्रमण-शाला । ६८
चण्डालिका । १४४
चतुरक्षरोपदेश । १६३
चतुर्भूत । ६२
चतुर्मुद्रोपदेश । १६१
चतुर्योगभावना । १५४
चमार । १९७, २१४
चिड़ीमार । १९७
चिन्ता । १४५
जटिल । ८०
जड़वाद । ९७
जड़वादी । १६८
जन्ताघर । ६३
जलमंडल । १६४
जातिवाद । ९७
जालधारक १२२
जुलाहा । १९७
तन्तुवाय । १५४
तपन । ८४
तम्बोली । १९७
तर्कशास्त्र । १७२
तीरभुक्ति । १५
तेली । १९७, २१३
देशीय । १८३
द्वादशचक्र । ११४

द्वादशोपदेश-गाथा । १३६
द्वारकोट्ठक । ५२, ५७, ५८, ७५
द्वितीय पाराजिक । २५
नव्य न्याय । १६७
नाला । ६९
निगमसभा । १५
निपात । १९३
निर्गुण । १२९, १३२
निर्णय । १५२
निर्वाण । १३१
निर्विकल्प । १०४
निषीदन-शाला । ६०
नुनिया । १९७
न्यायशास्त्र । १६८
पंचातप । ८४
पचावयव । १६९
पथक । १४
परदर्शन । १५१
परिवार । ४१
पाचित्ति । ४१
पाराजिक । २५, ४१
पालित्रिपिटक । १७, १८२
पाली-ग्रन्थ । ११
पासी । १९७
पुस्तकवाद । ९७
पूर्वी । ९३
प्रतिज्ञा । १६९
प्रथमकुलिक । १५
प्रमाण । १७०
प्रज्ञापारमिता । १२६
प्रहर (पहर) । १२४
प्राचीन । १८३, १८४
प्राचीन मुद्रा । १
बंशवृक्ष । १४५
बज्र । १२२, १४७
बज्रडाकिनीनिष्पन्न । १४३
बढ़ई । १९७
बनिया । ११
बाबा । २१०
विनय । ५२, ७०
बिषय । १४
बिष्णु-मन्दिर । २०८
बुद्धकालीन । २६, ८५
बुद्ध-निर्वाण ।११०
बुद्धप्रमुख । ८२
बुद्ध-शासन । ८२
बुद्धासन । ५१, ५२, ५७, ६२
बोधि । ४६
बोधि-प्राप्ति । ७२
बोधि-सत्व । १२, २०८
बौद्ध । १७, १३०, १६६, १७०, १७५, २०१, २०२
बौद्ध-जैन-ग्रन्थ । ८९
बौद्ध-दर्शन । १६९
बौद्ध-धर्म । १६, ४०, ७५, ८९, ९८, १०४, १०५, १११, १२६, १६८, १६९
बौद्ध-नैयायिक । १६९, १७०, २००, २०२
बौद्धन्याय । १६९, १७०
बौद्ध-विहार । २०८
बौद्ध-मूर्तियाँ । १२८
बौद्ध-बाह्य । २०३
बौद्ध-सम्प्रदाय । ६, १०९
ब्राह्मण । १७, १६६, १६८, १८०, १८१, १९०, १९३, २०२
ब्राह्मणकुल । १४९, १५८
ब्राह्मण-ग्रन्थ । १६६
ब्राह्मण-न्याय । १६७, १६८
ब्राह्मण-वंश । १५७
भगवान् । ४९
भड़भूँजा । १९७
भारत-तत्त्वज्ञ । २००
भारत में मानव-विकास । ९१
भावनाक्रम । १६१
भाषा । १६९
भाषा-विज्ञान । १९६
भुक्ति । १४
भूतावेश । १२८
भोटिया-अनुवाद । १६३

भोटिया-कंजूर । १६०
भोटिया-ग्रन्थ । १३२
भोटिया-भाषा । १२७, १३२, १६२
भोटिया-साहित्य । १२६
मछुआ । १९७
मण्डल । १४
मन्त्र । १८०
मलंग । ९३
मल्लाह । १९७
महामारी । ९४
महाराष्ट्रीय । १३१
महावैयाकरण । १७३
महाशून्यतावादी । १०४, १०६
मिश्रित । १८६
मुसलमानी । १८६
मेखला । १५२
मेमन । १८५
मेहतर । १९७
रट्ठिक । ९८
रत्ती । १०, ८७
राजकुमार । १२३
राजपूत । ८९, २१३, २१४
राजस्थानी । १९७
रावण-मन्दोदरी-संवाद । २१५
रासधारी । ९३
रिसर्च-सोसाइटी । २०१, २०२
रेख्ता । १८६
लाल । १८४
लालबुझक्कड़ । ८७
लोकोत्तर । ५७
लोचवा । १६५
लोहार । १९७
लौरिया । ९४
बढ़ई । २१३
वत्स । १०
वाग । १७३
वादविधान । १७०, १७१
वादविधि । १७०, १७१
वासनाक्रम । १६२
विनिर्गत । १४५
विशाल । ११
विषनिर्वहण । १६१
वैश्नों । १३३
शान्ति । १५९
शास्ता । १९, ४६, ५३, ५४, ७३, ७६, ७७
शाह । २०८
शिष्य । ११९, १५२
शून्यताकरुणदृष्टि । १६२
शून्यतादृष्टि । १३८
शून्यवाद । १०५, १३१
शोकदृष्टि । १६३
सनातन । १६१
समाजतंत्र । ११४
समुच्चय । ११४
समुद्र । १६५
सर्वगुह्य । ११४
सर्वबुद्ध । ११४
सर्वारिदेश । १२४
सहस्सक । ४६
सागर । १६५
साधनमाला । १५०
सान्ति । १५९
सापेक्षतावाद । १७०
सामान्य । १७०
सामान्य-निराकरण । २०२
सुख-दुखद्वयपरित्यागदृष्टि । १५९
सूर्य्योदय । २१६
सूक्ष्मयोग । १६५
सूत्रपिटक । १६९
सोतापत्ति-संयुत्त । ६
सोदामिनी । ११२
सोनार । १९७
सोसाइटी । १२५
संघाराम । ६४
संस्कृत । १७, १०४, ११८, १६९, १७०, १७६, १७८, १७९, १८०, १८१, १८३, १८६, १९०, १९३, १९९, २००, २०२,
संस्कृत-ग्रंथ । २००

संस्कृतटीका । १५२
संहिताभाग । १६६
स्तम्भ । १७३
स्नान-कोष्ठक । ६२
स्थानमार्गफलमहामुद्रा । १६४
स्ववृत्ति । २०१
स्वशिद्ध्युपदेश । १६३
स्वार्थानुमान । २०२
हजाम । १९७, २०८
हलवाई । १९७
हलवाहा । १९७
हेतु । १६९
हैज़ा । ९४
त्राटक । १२८

१—लूइपा

२—लीलापा

३—विरूपा

४—डोम्बिपा

५—शबरपा

६—सरहपा

७—कङ्कालीपा

८—मीनपा

९—गोरक्षपा

१०—चौरंगिपा

११—वीणापा

१२—शान्तिपा

१३—शान्तिपा

१४—चमारिपा

१५—खड्गपा

१६—नागार्जुन

१७—कण्हपा

१८—कर्णरिपा

१९—थगनपा

२०—नारोपा

२१—शलिपा

२२—तिलोपा

२३—छत्रपा

२४—भद्रपा

२५—दोखन्धिपा

२६—अजोगिपा

२७—कालपा

२८—धोम्भिपा

२९—कंकणपा

३०—कमरिपा

३१—डेंगिपा

३२—भद्रेपा

३३—तन्धेपा

३४—कुकुरिपा

३५—कुसूलिपा

३६—धर्मपा

३७—महीपा

३८—अचिन्तिपा

३९—भलहपा

४०—नलिनपा

४१—भूसुकुपा

४२—इन्द्रभूति

४३—मेकोपा

४४—कुठालिपा

४५—कर्मारपा

४६—जालन्धरपा

४७—राहुलपा

४८—घर्बरिपा

४९—थोकरिपा

५०—मेदिनीपा

५१—पङ्कजपा

५२—घण्टापा

५३—जोगीपा

५४—चेलुकपा

५५—गुण्डरिपा

५६—लुचिकपा

५७—निर्गुणपा

५८—जयानन्त

५९—चर्पटीपा

६०—चम्पकपा

६१—भिखनपा

६२—भलिपा

६३—कुमरिपा

६४—जवरिपा (?)

६५—मणिभद्रा

६६—मेखला

६७—कनखला

६८—कन्तालिपा

६९,—घहुलिपा

७०—उधलिपा

७१—कपालपा

७२—किलपा

७३–सागरपा (?)

७४–सर्वभक्षपा

७५–नागबोधिपा

७६–दारिकपा (?)

७७-पुतुलिपा

७८-पनहपा

७९-कोकालिपा

८०-अनङ्गपा

८१—लक्ष्मीकरा

८२—समुदपा

८३—ब्यलिपा

रेखांकन १